भारतीय काव्य-चिंतन में शब्द



डॉ. अमरनाथ सिन्हा

भारतीय काव्य-चिंतन में शब्द

डॉ० अमरनाथ सिन्हा
रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग
पटना विश्वविद्यालय, पटना



अनुपम प्रकाशन
पटना-800004

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की "शोध एवं विद्वत्तापूर्ण लेखन' परियोजना के अन्तर्गत पटना विश्वविद्यालय, पटना के तत्वाधान में प्रदत्त आंशिक आर्थिक अनुदान से प्रकाशित।

प्रकाशक :
अनुपम प्रकाशन
पटना-800004

प्रथम संस्करण : 1984

मूल्य : 90·00 रुपये

मुद्रक :
कुंजल प्रेस
पटना-800006

मातृकाओं का यह विवर्त

स्वर्गीया माँ को—

पुरोवाक्

वर्षों के प्रयत्न के बाद यह ग्रंथ विद्वत्समाज के सामने है। इसमें हमारा कुछ नहीं है, जो है सो संस्कृत-काव्यशास्त्र, हिंदी-रीतिशास्त्र तथा आधुनिक भारतीय काव्यचिंतकों का है, हमने उनके चिंतन के अन्तस्सूत्रों को, एक दृष्टिविशेष के संदर्भ में, अनुस्यूत भर किया है।

भारतीय काव्यचिन्तन पर रस, अलंकार वक्रोक्ति, ध्वनि आदि विभिन्न मुद्दों के संदर्भ में विचार किये गये हैं, तत्तत् इतिहासग्रंथों की रचना भी हुई है। हमें लगता है कि रसालंकार आदि काव्यशास्त्रीय मूल्यों के संघटक 'शब्द' और उसकी काव्यसंदर्भीय भूमिका, एक प्रकार से उपेक्षित रही है। रस, अलंकार आदि मुद्द मूलतः नाट्यचिंतन की ही देन हैं। काव्यचिंतन को नाट्यचिंतन से अलग होने की जरूरत पड़ी (भामह, दण्डी आदि) और उसे पुनः काव्यनाट्यशास्त्रीय धुरी के रूप में समेकित होना पड़ा (आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि); कालांतर में 'रसवाद' उभरा और फिर उसे कविशिक्षाशास्त्र (रीतिग्रंथ) में परिणत होना पड़ा—तो इस प्रक्रिया की कोई-न-कोई बुनियादी अभिप्रेरणा रही होगी। नाट्यशास्त्र में वागभिनय के अन्तर्गत काव्यभाषा की प्रारंभिक चर्चा आई है, परन्तु भामह आदि काव्यचिंतकों के सामने यह निश्चय ही स्पष्ट रहा होगा कि 'वागभिनय' के अन्तर्गत काव्यसंपत् की आनुषंगिक चर्चा श्रव्यकाव्य के संदर्भ में पर्याप्त नहीं है। दरअसल प्रस्तुत ग्रंथ की मूल प्रेरणा इसी प्रश्न में निहित है कि 'नाट्यशास्त्र' को 'काव्यालंकार' में विकसित किये जाने के बुनियादी कारण और प्रक्रिया क्या है? इस दृष्टि से हमें रसालंकार आदि शब्दव्यापार के ही रूप नजर आये हैं। इसीलिए हमारा सारा प्रयत्न शब्द की काव्यसंदर्भीय भूमिका के संबंध में आचार्यों की मतसरणि के गुणात्मक तत्त्वों की तलाश में लगा है। हमें कितनी सफलता मिली है, यह तो सुधीजन ही बताएँगे।

प्रस्तुत ग्रंथ में काव्यगत शब्दचिंतन के आदिस्रोत से लेकर रीतिआचार्यों तक की मतसरणि का अध्ययन किया गया है। पूरे प्रकल्प का यह पूर्वार्द्ध ही है। हमने इस बात की विस्तृत चर्चा अन्यत्र (रीतिसाहित्य को बिहार की देन, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना) की है कि भारतीय काव्यचिंतन कैसे, डॉ० जैकोबी के शब्दों में 'आर्स पोएटिका' अर्थात् काव्यकला या कविशिक्षा, से शुरू होकर क्रमशः अलंकार, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति की काष्ठा अर्जित करता हुआ पुनः हिन्दी लक्षणग्रंथों की कविशिक्षाशास्त्रीय अवधारणाओं में पर्यवसित होता है। आधुनिक काव्यचिंतन को हम नवोत्थान के रूप में मानते हैं, जिसकी शुरुआत आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से होती है। आचार्य द्विवेदी का मूल स्वर यद्यपि कविशिक्षाशास्त्रीय है, फिर भी उनमें ऐसे संकेत पर्याप्त हैं, जो भावी विकास के सूत्र माने जा सकते हैं। रीतिआचार्यों तक का काव्यचिंतन मूलतः व्याकरण और दर्शन से आक्रांत है तो आधुनिक काव्यचिंतन भाषिकी और विज्ञान से। दोनों का समाजदर्शन भी भिन्न है, इसलिए स्वरूप, प्रक्रिया और परिणाम भी भिन्न हैं। भारतीय काव्यचिंतन में शब्द' के पूरे प्रकल्प के अन्तर्गत, आजतक के चिन्तन की छानबीन जरूरी है। बहरहाल पूर्वार्द्ध प्रस्तुत है, उत्तरार्द्ध पर भी काम करीब-करीब पूरा हो चुका है, यथावसर उपस्थापित होगा।

ग्रंथ में आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ, आचार्य अप्पयदीक्षित जैसे चिंतकों पर विमर्श नहीं है। इसका कारण है। मम्मट का सारा प्रयत्न ध्वनि-स्थापना में लगा है और इस दृष्टि से उन्होंने 'शब्दशक्ति' पर विशेष चर्चा की है। विश्वनाथ रसवाद के प्रवर्तक हैं, अतः उनका भी ध्यान 'शब्द' की काव्यसंदर्भीय भूमिका पर नहीं है। अप्पयदीक्षित के श्रेय का क्षेत्र भी 'शब्दशक्ति' है। 'शब्दशक्ति' के संबंध में हमारी धारणा बनी है कि वह 'शब्दव्यवहार' का शास्त्र है, काव्यसंदर्भीय शब्दव्यापार का नहीं—अभिधादि सिर्फ काव्य की संपत्ति नहीं भाषामात्र की संपत्ति है। इसी से जुड़ी यह धारणा भी है कि सामान्य भाषाव्यव-

हार से 'शब्द' को लेने के बावजूद 'काव्यसंदर्भीय शब्दव्यापार' विशिष्ट हो जाता है। कुछ मित्रों को इसपर एतराज हो सकता है, लेकिन एतराज से तथ्य नहीं बदला करते। इसलिए विचार यह बना कि 'शब्दशक्ति-सरणि' पर विस्तार से अलग लिखा जाय। यह कार्य भी प्रकल्प के उत्तरार्द्ध अंश में किया जाएगा।

ग्रंथ के लेखन में जाने-अनजाने अनेक गुरुजनों, सुहृद-मित्रों का सहयोग-सत्परामर्श मिला है। स्वर्गीय डॉ० व्यंकटेश राघवन के मद्रासस्थित आवास पर हुई दो-तीन घंटों की बातचीत के दौरान मूल प्रकल्प की रूपरेखा तय हुई थी, बात सन् 1973 की है। अतः सर्वप्रथम मैं उनकी पुण्यस्मृति को नमन करता हूँ। आदरणीय गुरुवर डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने, जब वे बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना के निदेशक थे, भारतीय काव्यशास्त्र का अवधारणिक इतिहास प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी थी। वह तो नहीं, पर उसकी कुछ क्षतिपूर्ति ही सही, इस ग्रंथ के माध्यम से हो रही है। यह उनके उक्त सत्परामर्शजन्य आदेश की ही उपज है। आदरणीय गुरुवर डॉ० वासुदेवनन्दन प्रसाद (आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग मगध विश्वविद्यालय, बोधगया), जो हमारे हर उत्कर्ष को अपना मानते हैं, ने इस ग्रंथ के एक अध्याय 'काव्यगत शब्दचिंतन के आदिस्रोत' को स्नेहपूर्वक अपने विभागीय शोधपत्र 'संबोधि' के प्रवेशांक में स्थान देकर प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया। उनके अजस्र आशीर्वाद का एक और कण रूपायित हुआ है। हम अत्यन्त आभारी हैं, पटना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति डॉ० ताराभूषण मुखर्जी के, जिन्होंने कृपापूर्वक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की 'शोध एवं विद्वतापूर्ण लेखन' परियोजना के अन्तर्गत इस ग्रंथ के प्रकाशन के लिए तीन हजार रुपये की राशि प्रदान की।

परिवार और मित्रमंडली के 'अधिकृत वक्त' से कटे क्षण ही रूपांतरित हुए है, अतः यह उन्हीं का है।

'अनुपम' के स्वत्वाधिकारी मित्रवर भीमसेन जी और उनके पुत्र प्रियवर अनूप के श्रम से यह ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

अन्त में विद्वत्समाज से दो अनुरोध—

--कि संस्कृत काव्यशास्त्र में वे इसे हमारा चंचुप्रवेश ही मानेंगे, क्योंकि हिन्दी का अध्यापक होकर भी हमने संस्कृत काव्यचितन के निर्वचन का दुस्साहस किया है। हमारे माध्यम मुख्यतः हिन्दी-अँगरेजी अनुवाद-भाष्य ही रहे हैं। अतः निर्वचन के निखार का श्रेय विद्वान् अनुवादकों तथा भाष्यकारों को है, जहाँ गड़-बड़ी हो उन्हें हमारी त्रुटि मानकर नज़रअंदाज कर लेने की कृपा करें।

--कि मुद्रण की अशुद्धियाँ हैं और काफी हैं, जबकि ऐसी ग्रंथों में वे न रहें, इसी की अपेक्षा होती है। कोई शुद्धिपत्र हम नहीं दे रहे, अगर उसमें भी अशुद्धि रह जाय तो ! अतः क्षमाप्रार्थी हूँ।

यों, शब्द वे ही हैं, बातें वही हैं; फिर भी शब्द सारी बातों को कह नहीं पाते और बातें बची रह जाती हैं-आगे किसी के द्वारा कही जाने के लिए। चिंतन एवं कथन का यह अनन्त संभावनाचक्र है, अगम विवर्त; जिसके निजी प्रस्थानबिंदु से हम सोच रहे हैं। 'मसी कागद छुयो नहिं' कहने वाले कबीर ने ही यह भी कहा--

सोह आखर सोई बचन, जन जो जुदा बचांत।
कोई एक मेलई लवनि, अमी रसायन हंत।।

अमरनाथ सिन्हा

पटना

मकरसंक्रांति, 1984

विषय-सूची

अध्याय—1

शब्द-चिन्तन के विविध रूप और काव्यगत शब्द-चिन्तन

शब्द : सृष्टि बीजरूप

1·1·1. मानवीय संज्ञान की सर्वाधिक महत् उपलब्धि है 'शब्द'। यही शब्दतत्त्व भारतीय आगमग्रन्थों में सृष्टि का मूल है, जिसे पारिभाषिक तौर पर 'बिन्दु' कहते हैं और यही शब्दतत्त्व हमारे समस्त व्यवहार का आधार भी है।

समस्त अभिव्यक्ति (और सृष्टि भी अभिव्यक्ति ही है) शब्दमय है। तन्त्र-शास्त्र में इस विषय की गहन व्याख्या की गयी है। अभिव्यक्ति-प्रक्रिया अत्यन्त गूढ़ प्रक्रिया है, जिसके मूल में इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में प्रस्पंदन-बीज कार्य करते हैं। शास्त्रों में इसे 'कामकला' कहा गया है।

विश्व की तीन अवस्थाएँ हैं : निष्कल, निष्कल-सकल और सकल।[1] निष्कल अवस्था शब्दातीत है, निष्कल-सकल का मिलन-बिन्दु स्फुरण अवस्था है और सकल अभिव्यक्ति की नाम-रूपात्मक अवस्था। 'नाम' सृष्टि के शक्ति अंश का बोधक है और 'रूप' शिवांश का बोधक। नाम सृष्टि वाङ्मय सृष्टि कही जाती है और रूप सृष्टि अर्थमय सृष्टि। वाङ्मय सृष्टि अर्थात् शब्दसृष्टि शक्ति-विमर्श कही जाती है और अर्थमय सृष्टि शिव-विमर्श। शास्त्रीय दृष्टि से दोनों अवस्थाओं में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है, किन्तु व्यवहार में अन्तर स्वीकार्य होता है।

'वाक्' ही समस्त सृष्टि का मूल है, भारतीय चिन्तनधारा की यह महत् उपलब्धि है। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने विश्वब्रह्माण्ड के इस मूलरूप की व्याख्या 'महात्रिकोण' के रूप में की है। उन्हीं के शब्दों में, "जब वह पराशक्ति आत्मगर्भस्थ एवं अपने साथ एकीभूत विश्व को अर्थात् प्रकाश को देखने के लिए उन्मुख होती है, तब मात्रावच्छिन्न शक्ति और शिव साम्यभावापन्न होकर एक बिन्दुरूप में परिणत होते हैं, जिससे परमार्थिक चैतन्य प्रतिफलित होकर ज्योतिर्लिंगरूप में प्रकटित होता है। यही बिन्दु तान्त्रिक भाषा में 'कामरूप पीठ' के नाम

---

1. महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० 74.

से प्रसिद्ध है। पीठ में अभिव्यक्त चैतन्य स्वयम्भूलिङ्ग के नाम से परिचित है। ····· वह शक्तिपीठ एकमात्रा शक्ति अंश और एक मात्रा शिवांश को समभाव में लेकर संघटित होती है। शक्ति और शिव के इस अंशद्वय को शान्ताशक्ति और अम्बिका शक्ति के नाम से आचार्यगण वर्णन करते हैं। इस पीठ में महाशक्ति का आत्मप्रकाश परावाक्-रूप में प्रख्यात है।·· यहीं से शब्द-राज्य की सूचना होती है। यही प्रणव का परमरूप अथवा वेद का स्वरूप है। इसके पश्चात् शक्ति के क्रमिक विकास के होते-होते शान्ता-शक्ति 'इच्छा' रूप में परिणत होती है तथा शिवांश अम्बिका शक्ति भी 'वामा' रूप में आविर्भूत होती है। इन दोनों शक्तियों के पारस्परिक वैषम्य का परिहार होने पर, जिस अद्वय सामरस्यमय बिन्दु का आविर्भाव होता है, उससे तदनुरूप चैतन्य का स्फुरण होता है। इस बिन्दु को 'पूर्णगिरिपीठ' एवं इस चिद्विकास को बाणलिंग के नाम से समझना चाहिए। शास्त्रीय दृष्टि से यह 'पश्यन्तीवाक्' की अवस्था है। पराशक्ति शब्द की प्रथमभूमि में अथवा कामरूप पीठ में आत्मगर्भस्थ विश्व को नित्य वर्तमानरूप में देखती है। यहाँ अतीत और अनागतरूप खण्डकाल की सत्ता नहीं है, तथा दूर और निकट का व्यवधान भी नहीं है। कार्य और कारण का कठोर नियम यहाँ अपरिज्ञात है। इस नित्य मण्डल में किसी प्रकार का आवरण नहीं है और न किसी प्रकार का विक्षोभ देखा जाता है। यह शान्तिमय अवस्था है। इसके बाद इच्छाशक्ति के उन्मेष के साथ-साथ शब्द के द्वितीय स्तर में सृष्टि का विकास होता है, जिसे नित्यमण्डल कहा गया है, वह शक्तिगर्भस्थ बीजभूत विश्व है। इच्छा के प्रभाव से उसकी गर्भ के एक देश से विसृष्टि होती है, तभी उसे सृष्टि का नाम प्राप्त होता है। इस भूमि से ही काल का प्रभाव प्रारम्भ होने के कारण यह सृष्टिक्रिया एक साथ न होकर क्रमानुसार होती है। इसी प्रकार, देश और कार्य-कारणभाव का स्फुरण भी यहीं से समझना चाहिए। इसकी परावस्था में इच्छाशक्ति के उपराम होने पर ज्ञानशक्ति का उदय होता है, तथा वह शिवांश ज्येष्ठाशक्ति के साथ अद्वैत-भाव में मिलित होकर 'जलन्धर पीठ' रूप सामरस्य-बिन्दु की सृष्टि करता है। इस बिन्दु से अभिव्यक्त चैतन्य इतरलिंग नाम से प्रसिद्ध है। शक्ति के इस स्तर में 'मध्यमावाक्' आविर्भूत होती है और इसके प्रभाव से सृष्टजगत तत्तद्भाव में स्थित होता है। जब स्थितिशक्ति क्षीण हो जाती है तब स्वभाव के नियम से ही अन्तर्मुख आकर्षण की प्रबलता के कारण संहारशक्ति की क्रिया आरम्भ होती है। तब ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति के रूप में परिणत होकर शिवांश रौद्रीशक्ति के साथ साम्यभाव को प्राप्त हो जाती है और उसको 'उड्डीयान पीठ' कहते हैं। इस बिन्दु से चित्शक्ति महातेजःसम्पन्न परलिंगरूप में अभिव्यक्त होती है। यह शब्द

की 'वैखरी' नामक चतुर्थ भूमि है। हम जिस संहारशील क्षयधर्मक जगत् का अनुभव करते हैं, वह इस वैखरी शब्द की ही विभूति है।

पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, शब्द की जिन तीन अवस्थाओं के विषय में कहा गया है, वही प्रणव के 'अ' कार, 'उ' कार और 'म' कार हैं अथवा ऋक्, यजु और साम इस वेदत्रय के रूप में ज्ञानी की दृष्टि में प्रतिभात होते हैं। त्रिलोक, त्रिदेवता, त्रिकाल प्रभृति अखण्ड परावाक् अथवा तुरीयवाक् का ही त्रिविध परिणाम मात्र है। विन्दुगर्भित जो महात्रिकोण समस्त विश्व-ब्रह्मांड के मूलरूप में शास्त्रों में सर्वत्र व्याख्यात हुआ है, वह इसी चतुर्विध शब्द के सम्बन्ध से प्रकटित होता है। इस त्रिकोण की तीन रेखाएँ पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप तीन प्रकार के शब्द-सृष्टि, स्थिति और संहाररूप, तीन प्रकार के व्यापार-वामा, ज्येष्ठा और रौद्री क्रिया; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप तीन प्रकार के शिवांश अथवा इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप तीन शक्त्यंश के प्रतिनिधियाँ हैं।"[1]

पारिभाषिक शब्दों को छोड़ भी दिया जाय तो भी यह तथ्य निकल आता है कि समस्त सृष्टि नादात्मक है। सूक्ष्म अथवा अव्यक्त नाद जब इच्छाशक्ति संप्रेरित होकर प्रसरित अथवा अभिव्यक्त होता है तब पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैखरी रूप में क्रमशः स्थूल किंबा दृश्यपदार्थों में संक्रमित होता है। इस प्रसरण अथवा अभिव्यक्ति में ध्यान देने की बात यह है कि शक्तितत्त्व तथा अर्थतत्त्व प्रत्येक अवस्था में संश्लिष्ट भाव से विद्यमान होते हैं।

1·1·2. चेतन-अचेतन सभी शब्दोद्भूत माने गये हैं। वर्णों को मातृका अर्थात् जननि कहा गया है। मूल मातृकाएँ पाँच हैं—अ, इ, उ, ऋ और लृ। ये प्रथम स्वर सृष्टिक्रम हैं। इनसे पुनः अन्य मातृकाएँ आविर्भूत हुईं, जिनकी संख्या 50 मानी गयी है। उनका आविर्भाव प्रणव अर्थात् अ, उ, म् से माना गया है। इन्हीं मातृकाशक्तियों से पञ्चमहाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी), पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), पञ्च कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ), पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, अक्षि, घ्राण और जिह्वा), पञ्चवायु (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान), मन, बुद्धि, अहंकार, त्रिगुण (राजस, तमस और सत्व), त्रिअवस्था (सृष्टि, स्थिति, संहार) आदि समस्त सृष्टि का आविर्भाव माना गया है।[2] तंत्र तथा व्याकरण-दर्शन इस प्रकार समस्त सृष्टि को नाद अथवा परावाक् अथवा शब्द का विवर्त मानते हैं।

---

1. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० 74-75
2. विशेष विवरण के लिए देखें: पं० रङ्गनाथ पाठक कृत 'स्फोट दर्शन' पृ० 42-58.

शब्द-चिन्तन : विविधरूप

1·2·1. स्पष्ट है कि 'शब्द' से परे कुछ नहीं है। 'शब्द' पद की अनेक अर्थच्छायाएँ हैं, जैसे (i) शब्द्यते—जो प्रकथित किया जाय अर्थात् 'अर्थ' (ii) शब्द्यतेऽनेन—जिसके द्वारा प्रकथन किया जाय अर्थात् सार्थक वर्णसमूहरूप शब्द, (iii) 'शब्दनं शब्दः' अर्थात् शक्तिग्रह या व्यापार, (iv) 'शब्दयते—जो व्यक्त किया जाय अर्थात् व्यंग्यार्थ और (v) इन सब का समुदायरूप शब्द। इन अर्थच्छायाओं में समस्त इच्छा, ज्ञान और क्रिया, अनुभव, चिंतन, अभिव्यक्ति तथा संप्रेषण-ग्रहण अन्तर्भुक्त हैं। वस्तुतः 'शब्द' से इतर किसी ज्ञान की कल्पना भी नहीं की जा सकती, इसका व्यापार-विस्तार सर्वत्र है।[1]

इस प्रकार, शब्द मनुष्य के लिए साध्य और साधन दोनों है। शब्द-विवर्त सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि का आविर्भाव शब्द से हुआ, इसलिए उसका तिरोभाव भी शब्द में होगा। इस दृष्टि से 'शब्द' साध्य है। "शब्दब्रह्म में निष्णात होने पर परब्रह्म की उपलब्धि होती है। शब्दातीत परमपद का साक्षात्कार यदि करना हो तो शब्द का आश्रय लेकर ही शब्दराज्य का भेद करना होगा।"[2] अतः शब्द परम साधन भी है।

शब्द के इस 'परम साध्य' एवं 'परम साधन' रूप का निहितार्थ मानवीय जीवन में भी क्रमशः शब्द का काव्य-संदर्भ तथा व्यवहार-संदर्भ के रूप में प्रतिफलित होता है। काव्य-संदर्भ में शब्द 'चत्वारि वाक् परिमिता' (ऋग्वेद 1/22) के सर्वव्यापक रूप में अवस्थित होता है, जैसा कि अज्ञेय ने कहा भी है, काव्य सबसे पहले शब्द है। और, अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है" (तार सप्तक-2, पृ॰309)। लेकिन व्यवहार-संदर्भ में 'शब्द' मुख्यतः अर्थाश्रित हो जाता है। लोकव्यवहार में प्रधानता अर्थ की होती है। यहाँ भी शब्द रहता

---

1. (i) न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते,
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, 1/123

(ii) महाञ्शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या, बहुधा भिन्ना एकशतम् अध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाऽऽथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम् इतिहासः, पुराणम्, वैद्यकम् इत्येतावान शब्दस्य प्रयोगविषयः।
—पतंजलि, व्याकरण महाभाष्य, सं॰ चारुदेव शास्त्री, पृ॰ 3[illegible].

2. पं॰ गोपीनाथ कविराज, तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, 280.

तो है वर्णों का ही समूह, लेकिन यहाँ वर्णों की मूलध्वनि को सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं होता सिर्फ अर्थद्योतन का प्रयोजन होता है, फलतः पदों का वर्ण-संघटन बदलता रहता है। एक भिन्न संदर्भ में भट्टनायक ने इस स्थिति की व्याख्या करते हुए कहा है :

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।
अर्थतत्त्वे तु युक्तेन वदन्तः स्थानमेतयोः ।।
... ...
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत् ।।[1]

अर्थात् शास्त्र शब्दप्रधान होता है, पुराण अर्थप्रधान और काव्यशब्दार्थव्यापार-प्रधान। हम पहले ही कह आए हैं कि शब्दसृष्टि नामरूपात्मक है, अतः शब्द, अर्थ और शब्दार्थ व्यापार का तात्पर्य हुआ नाम अथवा शक्तिरूप शब्द, अर्थ अथवा शिवरूप शब्द और शब्दार्थरूप 'शब्द' अर्थात् 'वागर्थाविव संपृक्तौ' शिवशक्तिरूप शब्द। ये शब्द की तीन स्थितियाँ हैं। नाम अथवा शक्तिरूप शब्द का क्षेत्र है, शास्त्र जहाँ उसकी वर्ण-संघटना में परिवर्तन नहीं किया जा सकता; अर्थरूप शब्द का क्षेत्र है पुराण अथवा मानव-व्यवहार के काव्येतर संदर्भ जहाँ अर्थद्योतन ही मूल प्रयोजन है, वर्ण-संघटना में किसी भी तरह का बदलाव हो सकता है। काव्य क्षेत्र शब्दार्थ व्यापार का क्षेत्र है, जिसमें जितना महत्त्व वर्ण-संघटना का है, उतना ही अर्थ-द्योतन का और यदि दोनों के समरस रूप को स्वीकार किया जाय तो यह स्थिति परावाक् की हो जाती है, जहाँ एकांश शक्ति एवं एकांश शिव समरस रूप में उपस्थित हों। तंत्र इसे बिन्दु कहता है, व्याकरण परावाक् और अति-मानसचेता आर्षकवि उसे 'विभापूर्ण एवं विभावक शब्द' कहता है जो संप्रेरित और अन्ततः फलीभूत होता है, और जो हमें (न सिर्फ समझने, बल्कि) देखने को भी विवश करता है।[2] शब्द के इस परमसाध्य रूप के उपलब्ध कर लेने पर काव्य 'मंत्रकाव्य' बन जाता है,[3] जो न सिर्फ 'सृजन' होता है, बल्कि 'सर्जक' भी।[4]

---

1. डॉ० राघवन कृत 'सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ अलंकारशास्त्र' पृ० 18 से उद्धृत।
2. "He (Poet) sees beyond the sight of the surface of mind and finds the revealing word, not merely the adequate and effective, but the illumined and illuminating, the inspired and inevitable word which compels us to see also. To arrive at that word in the whole endeavour of poetic style."
—Arbindo, The Future poetry, P. 33.
3. The Future Poetry, P. 281.
4. Letters on 'Savitri', Savitri, P. 727-728.

1·2·2. 'शब्द' की बहुआयामिक अर्थ-प्रतिपादन क्षमता, प्रकारान्तर से उसके बहुवर्णक्रम तथा संदर्भगत असीम रूपान्तरण एवं संभावनाओं के फलीभूत हो सकने की अन्तर्निहित शक्ति ही है। इसी अर्थ में शब्द विभापूर्ण एवं विभावक दोनों है। शब्द के 'संप्रेरित' (Inspired) फलीभूत (Inevitable), विभापूर्ण (illumined) तथा विभावक (illuminating) सम्बन्धी गुणतत्त्व सिर्फ काव्यक्षेत्र में ही अभिव्यक्त हो पाते हैं, व्यवहार जगत में तो सिर्फ उसके अर्थ-द्योतन गुण अथवा वाचकत्व या अधिक से अधिक विभावक अथवा लाक्षणिक गुण ही स्वीकृत होते हैं। काव्य 'अभिव्यक्ति' का क्षेत्र है, और व्यवहारजगत 'कथन' का क्षेत्र। इसप्रकार, शब्द के दो संदर्भ उभरते हैं—काव्य-संदर्भ और व्यवहार संदर्भ।

व्यवहार संदर्भ

1·2·3. पहले व्यवहार-सन्दर्भ को लें। शब्द के काव्येतर सन्दर्भ वस्तुतः मानव-व्यवहार के ही विविध पक्ष हैं। मानव-व्यवहार के ये विविध पक्ष प्रकारान्तर से उसके ज्ञानक्षेत्र हैं, इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिकी, गणित, ज्योतिष, भूगोल, खगोलशास्त्र, समाजशास्त्र इत्यादि ज्ञान-विज्ञान की अनेकानेक शाखा-प्रशाखाएँ 'शब्द' के व्यवहार-सन्दर्भ हैं। इन सन्दर्भों में शब्द के 'शक्तितत्त्व' का गौणतम उपयोग होता है, जबकि उसके रूपतत्त्व अथवा अर्थतत्त्व के उपयोग की प्रधानता रहती है। इन व्यवहार-सन्दर्भों में कथन अथवा विश्लेषण के लिए शब्द का वाचकत्व गुण ही पर्याप्त होता है। यहाँ शब्द-प्रयोग पूर्वनिश्चित अर्थ में होता है, उसकी अन्य अनेक अर्थच्छायाओं से उन्हें मतलब नहीं होता। अतः इनका शब्दचिंतन से प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं होता।

मानव-व्यवहार के विविध-पक्षों में एक अन्य कोटि भी है जहाँ शब्दचिंतन का व्यापक आयोजन होता है, वे हैं दर्शन, व्याकरण और भाषिकी। दर्शन का प्रकृत क्षेत्र जीव, प्रकृति और ब्रह्म के पारस्परिक अन्तस्सम्बन्धों का अनुभव एवं चिंतन-मनन है। अध्याय के प्रारम्भ में ही हमने देखा है कि किस प्रकार भारतीय प्रज्ञा ने शब्द से ही पूरे ब्रह्माण्ड को आविर्भूत माना है। स्वभावतः शब्द के शक्ति तथा रूप अथवा अर्थतत्त्व की गहन व्याख्या दर्शनशास्त्र में हुई। विशेषतः तन्त्रमत, न्याय, सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त में शब्दतत्त्व की गम्भीर विवेचना की गयी है। बाद में बौद्धदर्शन में भी शब्दचिंतन यथेष्ट मिलता है।

शब्द-चिंतन के क्रम में दर्शनशास्त्र का बुनियादी प्रश्न रहा कि 'शब्द' किसप्रकार, किस सीमा तक और किन अर्थों में जीव-प्रकृति-ब्रह्म के अन्तस्सम्बन्धों को समझने में सहायक है (नाद, बिन्दु, स्फोट, मातृका, पीठ, शक्ति, रूप, नित्यता, अनित्यता, वर्ण, पद, वाक्य आदि अनेक पारिभाषिक तथा गुह्य तत्त्वों की व्याख्या शब्दचिंतन के क्रम में की गयी है)

व्याकरण को तो 'व्याक्रियंते व्युत्पाद्यन्ते अर्थवत्तया प्रतिपाद्यन्ते शब्दा येन'[1] ही कहा गया है, अर्थात् जो शब्द की अर्थवत्ता का प्रतिपादन, उसकी व्युत्पत्ति का अध्ययन तथा उसका प्रकाशन करता हो, वह व्याकरण है। अतः व्याकरण शब्द-चिंतन का प्रकृत क्षेत्र है, लेकिन वाग्रूप शब्द का नहीं; क्योंकि व्याकरण का सीधा सम्बन्ध वैखरी वाक् से है, मध्यमादि से नहीं। तात्पर्य यह है कि जो शब्द व्यक्त हो चुका हो उसके स्वरूप का उद्‌घाटन, उसकी वर्ण-संघटना प्रक्रिया, उसके जाति, द्रव्य, गुण, क्रियादि रूप का विश्लेषण, तथा उसकी अर्थवत्ता का प्रतिपादन—ये व्याकरण के कार्य हैं। अतः व्याकरण मूलतः शब्द-संरचना तथा उसके अर्थतत्त्व का अध्ययन करता है।

भाषिकी शब्द-चिंतन का अपेक्षाकृत नया क्षेत्र है, यों इसकी जड़ काफी पुरानी है। यह भाषा का परीक्षण तथा अध्ययन ऐतिहासिक, सामाजिक तथा व्याकरणिक सन्दर्भ-संश्लेष के आधार पर करती है। जाहिर है कि इसका संबंध भी शब्द के वैखरी रूप से ही है। प्रत्येक ध्वनि या वर्ण, शब्द तथा शब्दार्थ, उनकी परिवर्तन की दिशाएँ आदि इसके अध्ययनक्षेत्र हैं। भाषिकी वस्तुतः व्यक्त शब्द का देहवादी अध्ययन है।

इधर शब्द-चिंतन की एक अन्य दिशा विकसित हुई है—मनोभाषिकी Psycho-linguistics)। इसके अन्तर्गत भाषिकी के प्रकृत प्रश्नों का जटिल मानसिक प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाता है। यहाँ यह मानकर चला जाता है कि "मानसिक और स्नायविक सम्पूर्णता ही भाषा की सम्पूर्णता है।[2] आदमी का मस्तिष्क एक अत्यन्त जटिल एवं जीवन्त यन्त्र है। उसकी चेतना के अनेक स्तर हैं—चेतन, अवचेतन, अचेतन, पराचेतन। इन अनेक स्तरों के अन्तरावलम्बन तथा अन्तःक्रियाओं से आदमी की चेतना निर्मित, संचालित एवं क्रियाशील होती रहती है। कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे स्नायविक क्षेत्र हैं। इसप्रकार मानवीय चेतना मानसिक तथा स्नायविक रूपों में अभिव्यक्त होती है। व्यावहारिक दृष्टि से शब्द या भाषा उस अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट प्रकार है। इसी संदर्भ में मनोभाषिकी मानव-मन और शब्द-व्यापार के अन्तर्गठन का अध्ययन करती है। बुनियादी तौर पर मनोभाषिकी का भी सीधा सम्बन्ध वाक् के वैखरी रूप से ही अधिक है, लेकिन मनोविज्ञान का आश्रय लिए जाने के कारण यह वाक् के मध्यमा स्तर तक भी जा सकती है, क्योंकि इसकी सीमा अर्थप्रक्रिया तक है और यही वाक् का मध्यमा स्तर भी है।

---

1. शब्दस्तोममहानिधि
2. डॉ० सूर्यदेव शास्त्री, मनोभाषिकी, भूमिका, पृ० 2।

इसप्रकार, शब्द के व्यवहार-सदर्भ का विस्तार हद-से-हद वाक् के मध्यमा स्तर तक ही प्रमाणित होता है। सिर्फ तन्त्र ही इस सीमा का अतिक्रमण, चिंतन के स्तर पर भी कर पाता है। तन्त्र योगाध्यात्म का क्षेत्र है, जहाँ प्रवृत्ति अर्थात् स्पन्दन के बहिर्मुख संवेग यथा :—चित्→आनन्द→इच्छा→ज्ञान→क्रिया को निवृत्ति अर्थात् शक्ति के बहिर्मुख संवेग को आभ्यन्तरिक दिशा में मोड़ दिया जाता है। इसलिए वाक् के चतुः आयामिक विस्तार तक तन्त्रशास्त्र की गति है। लेकिन यह प्रक्रिया अपने आप में सृजन प्रक्रिया नहीं है और न ही सर्जक ही, यह प्रक्रिया विराट् ब्रह्माण्डीय सिसृक्षा तथा सृष्टि को जान लेने तथा अनुभूत करने की प्रक्रिया है, साधना के स्तर पर।

काव्य संदर्भ

1·2·4. भावना के स्तर पर उसी विराट ब्रह्माण्डीय सिसृक्षा तथा सृष्टि को न सिर्फ जानने अथवा अनुभूत करने बल्कि भोग-भोक्ता-भोक्तृत्व के समष्टिभाव में सृजन करने की प्रक्रिया काव्य है। योगाध्यात्म की 'प्रवृत्ति' का निवृत्तिमूलक आभ्यंतरीकरण यहाँ भी है, किन्तु साधनास्तर पर नहीं भावना के स्तर पर। आधुनिक काव्य-चिंतकों में गजानन माधव मुक्तिबोध ने इस आभ्यन्तरीकरण प्रक्रिया को कवि का आत्मपरक प्रयास कहा है। उनके मत में आभ्यन्तरीकरण द्वारा प्राप्त भाव-समृद्धि से कविका संवेदनात्मक व्यक्तित्व बनता है।[1] रसास्वाद की प्रक्रिया की व्याख्या डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने करण विगम अर्थात् इन्द्रियों को उल्टी दिशा में मोड़ने की प्रक्रिया अथवा निवृत्ति अर्थात् बहिमुख संवेग गति को आभ्यंतरिक मोड़ देने की प्रक्रिया के रूप में की है।[2] काव्य का यह प्रकृत क्षेत्र है। काव्य और योगाध्यात्म में एक अन्तर यह भी है, कि भावना-स्तर का आभ्यन्तरीकरण पुनः वाक् की शक्ति एवं अर्थरूप में अभिव्यक्त होता है, यही काव्य-सृजन है। यही कवि की भाव-समृद्धि का आत्मपरक प्रयास है। काव्य-सृजन तथा सहृदय के रसास्वादन में शब्द की बहुविध भूमिका का अध्ययन काव्यशास्त्र का विषय है। इस क्रम में काव्यशास्त्र शब्द-चिंतन के अन्य सन्दर्भों को नकारता नहीं, बल्कि उनका उपयोग अपेक्षाकृत अधिक मानवीय परिप्रेक्ष्य में, शब्द और उसके अर्थतत्त्व मे निहित शक्ति एवं शक्तिस्रोत के अन्वेषण में करता है। इस दृष्टि से शब्द-चिंतन का काव्य-सन्दर्भ शब्द के मानवीय व्यवहार का सन्दर्भ है।

---

1. गजानन माधव मुक्तिबोध, नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 89
2. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य योजना, पृ० 107-114

शब्द के मानव-व्यवहार तथा मानवीय व्यवहार के अन्तर तथा अन्तरावलम्बन को व्यावहारिक विश्लेषण के माध्यम से समझना आवश्यक है।

1·3·1. शब्द विभिन्न संदर्भों में या तो एक ही सुनिश्चित अर्थ में अथवा संदर्भ विशेष में विशिष्ट अर्थ किंबा अर्थच्छाया में प्रयुक्त होते हैं। यह स्थिति शब्द की अनेक पर्यायवाचकता अथवा अनेकार्थकता से भिन्न है। इसे 'शब्दार्थ-संदर्भ-प्रक्रिया' कहा जा सकता है। काव्य तथा काव्येतर संदर्भों में प्रयुक्त शब्द वस्तुतः एक ही अभिधेयसत्ता के वाचक हैं, पृथक् नहीं—काव्य भी अन्य अनुशासनों की तरह एक मानवीय व्यापार है। पर काव्य की शब्दार्थ-संदर्भ-प्रक्रिया निश्चय ही काव्येतर संदर्भों की शब्दार्थ-संदर्भ-प्रक्रिया से भिन्न है। यह अन्तर मानव व्यवहार (चिन्तन, सामान्य आचरण आदि) और मानवीय व्यवहार (संवेदना का स्तर) में भिन्नता का द्योतक है।

1·3·2. 'बीज' शब्द को लें। दर्शनशास्त्र में यह सृष्टि बिन्दु का द्योतक होगा, अर्थशास्त्र में कृषि-अर्थशास्त्र का प्रश्न उत्पन्न कर सकता है, कृषिशास्त्र में अन्नादि के अच्छे या बुरे दोनों का अर्थ लिया जाएगा, कामशास्त्र में 'शुक्राणु' का अर्थ देगा। राजनीतिज्ञ किसी संघर्ष का 'बीज' बो सकता है। किसान के लिए खेत में बीज डालने का सवाल उठेगा। नाट्यशास्त्र में यह अर्थ प्रकृतियों में एक है। काव्य में इसका प्रयोग उपर्युक्त सभी अर्थों में होकर भी इससे वही सुनिश्चित अर्थ नहीं भी लिया जा सकता है; जैसे—

> बीजों का संग्रह और इधर चलती है तकली भरी गीत;
> सब कुछ लेकर बैठी है वह मेरा अस्तित्व हुआ अतीत।'—ईर्ष्या', कामायनी

गर्भवती श्रद्धा का बीज संग्रह, तकली चलाना और मनु के अस्तित्व-लोप के 'संदर्भ' में 'बीज' शब्द मूलतः अन्न का अर्थ देते हुए भी संदर्भजन्य व्यंजना के स्तर पर सर्जनात्मक स्पंदन को भी अभिव्यक्त करता है।

1·3·3. स्पष्टीकरण के लिए एक अन्य शब्द लें—साँप। 'साँप' किसी प्राणीशास्त्री के लिए एक रेप्टाइल जाति का जीव मात्र है तो किसी शैवोपासक के लिए भगवान् शिव का प्रतीक। योगशास्त्र इसे कुंडलिनी शक्ति का प्रतीक मानता है। शिशु के लिए वह कौतूहल कारक है तो प्रौढ़ों के लिए भयकारक। भूगोल शास्त्री के लिए साँप में इतनी रुचि हो सकती है कि गर्ममुल्कों में यह अधिक पाया जाता है, ठंढे प्रदेशों में कम। मनोविश्लेषक इसे पुरुषेन्द्रिय का स्वप्न प्रतीक मानता है, तो अर्थशास्त्री साँप की खाल के निर्यात में विदेशी मुद्रा की खनक सुन सकता

है। इसी प्रकार, शब्दों के विविध संदर्भों में, विभिन्न अर्थ माने या जाने जाते हैं।

काव्य इस दृष्टि से विशेषाधिकार प्राप्त मानवीय व्यवहार है। कवि शब्द के प्रचलित अर्थ को स्वीकारते हुए भी उसी से बँधा नहीं रहता, बल्कि अपने विशिष्ट संदर्भ में नवीन अर्थ का सृजन कर लेता है। 'साँप' शब्द से सम्बद्ध कुछ उद्धरण लीजिए।

(i) सूरदास की गोपियों के लिए बादलों भरी अँधेरी रात नागिन बन गयी है, जब बादलों के बीच से चाँदनी चमकती है, लगता है कि काली रात रूपी नागिन डँसकर उलट गयी है। तन-मन में विष फैल जाता है, असह्य जलन होती है, गोपियाँ तड़पती हैं; कोई भी तन्त्रमन्त्र काम नहीं करता :

पिय बिनु साँपिनी कारी रात।
जौ कहुँ जामिनी उवति जुन्हैया, डसि उलटी व्है जात ॥
जंत्र न फुरत मंत्र नहिँ लागत, प्रीति सिरानी जात ॥
सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि-मुरि लहरैं खात ॥
—सूर सागर, 10/3272.

यहाँ नागिन के डँसने की क्रिया तथा उसके परिणाम मानव-व्यवहार के संदर्भ में सुपरिचित स्थितियाँ हैं, लेकिन सूरदास द्वारा दिया गया अर्थगर्भत्व, मानव-व्यवहारगत अर्थ-संदर्भ पर आधारित होते हुए भी संवेदना के स्तर पर भिन्न अर्थ-सृजन करता है।

(ii) 'प्यारे कवि' का प्रयोग का अर्थ-गर्भत्व देखिए :—

'प्यारे' कपोल पै आनि लुरी लट, एक अमोल अडोल छटा धर।
ऐसी लसै सुखमा तिनकी, सु मुयो अहिराज मयंक के ऊपर ॥
—राज राजेश्वरी ग्रन्थावली, पृ० 15.

रति-विश्रान्ति का यह चित्र रतिसुख का परिचायक है। अहिराज यहाँ अपनी समस्त भयानकता से रहित, सुरतांत के प्रगाढ़ आलिंगन में मुग्धभाव (मुये) से पड़े रति-प्रिय नायक बने हुए हैं और मयंक रतिश्लथ नायिका (मयंकमुखी) के रूप में निश्चेष्ट है। अहिराज और मयंक के इस रूप की कल्पना किसी भी प्राणीशास्त्री अथवा खगोलशास्त्री के बूते के बाहर है।

(iii) 'पंत' की दार्शनिकता साँप को एक अन्य अर्थ-संदर्भ देती है :

अहे वासुकि सहस्रफन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर !

शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्मंडल !

—'परिवर्तन' शीर्षक कविता, पल्लव, पृ० 98.

पंत ने साँप की सम्पूर्ण शरीररचना (Anatomy) के विवरण दिये हैं, फिर उन विवरणों को खगोलशास्त्रीय विवरणों से मिलाया और अन्त में उन्हें एक दर्शनशास्त्रीय प्रश्न—परिवर्तन अथवा कालशक्ति से जोड़ दिया। किन्तु संवेदना के स्तर पर उपर्युक्त प्राणीशास्त्रीय, खगोलशास्त्रीय तथा दर्शनशास्त्रीय विवरणों के अर्थ-संदर्भ तत्त्वान्तरित होकर मानवीय जिजीविषा की अनुभूति बन जाते हैं।

(iv) अज्ञेय द्वारा दिया गया अर्थ-गर्भत्व देखिए :

साँप !
तुम सभ्य तो हुए नहीं
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया।
एक बात पूछूँ—(उत्तर दोगे ?)
तब कैसे सीखा डँसना—
विष कहाँ पाया !

—इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० 29.

यहाँ भी 'साँप' से सम्बद्ध भौगोलिक और प्राणीशास्त्रीय विवरण हैं, किन्तु संवेदना के स्तर पर आधुनिक सभ्यता और उसकी समस्त उपलब्धियों (यांत्रिकता, कृत्रिमता, राजनीतिक-सामाजिक पाखंड आदि) का जो भयानक बिम्ब उभरता है वहाँ तक न तो भूगोल की पहुँच है और प्राणीशास्त्र की।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य की शब्दार्थ-संदर्भ-प्रक्रिया एक विशिष्ट प्रक्रिया है, जिसका अर्थग्रहण मानवीय संवेदना के स्तर पर होता है। इसीलिए हमने काव्य को मानवीय व्यवहार कहा है तथा काव्येतर संदर्भ को मानव-व्यवहार।

काव्यगत शब्द-चिन्तन के विविध रूप

1·4·1. बुनियादी तौर पर काव्यशास्त्र शब्द-प्रयोग के काव्य-संरचनागत विविध पक्षों पर ही विचार करता है। जिन वैचारिक मूल्यों के लिए काव्य के सांस्कृतिक सामाजिक अथवा रसवादी वैशिष्ट्य को महत्त्व दिया जाता है, वे मूल्य वस्तुतः मानव-व्यवहार के विभिन्न अनुशासनों के होते हैं, किन्तु काव्य को जो अतिरिक्त श्रेय दिया जाता है, वह इसलिए कि यहाँ वे वैचारिक मूल्य मानवीय संवेदना के रूप में आते हैं। वैचारिक मूल्य मानवीय संवेदना के रूप बनें, इसका श्रेय शब्द-प्रयोग को है। दरअसल, शब्द का प्रकृष्ट योग अर्थात् प्रयोग तो काव्य में ही होता है, अन्य अनुशासनों में तो शब्द का अवरयोग अर्थात् उपयोग भर होता है।

अतः काव्य-चिन्तन का बुनियादी प्रश्न यह नहीं है कि काव्य ने क्या संप्रेषित किया है ?', बल्कि यह है कि 'काव्य ने जो कुछ संप्रेषित किया है, वह कैसे किया है ?' 'क्या संप्रेषित हुआ है' का प्रश्न काव्य का एक उचित संदर्भ हो सकता है, प्रकृत संदर्भ नहीं। काव्य का प्रकृत संदर्भ है उसका 'शब्द-प्रयोग' अथवा शब्दतत्त्व, जिसका पुनरुत्थान आज 'शैलीविज्ञान', 'रीति विज्ञान', 'स्टाइलिस्टिक्स व्यावहारिक आलोचना' आदि अनेक नामों से होने लगा है। लेकिन यहाँ भी अतिवाद का खतरा है, क्योंकि काव्य सिर्फ 'शब्द-सांख्यिकी' नहीं। इसलिए जब हमने शब्द-तत्त्व अथवा शब्द-प्रयोग (प्रकृष्ट योग) को काव्य का प्रकृत संदर्भ माना तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि उसके अन्य संदर्भों का निषेध किया गया है। 'शब्द' जीवंत इकाई है, जिसमें 'शक्ति','ध्वनि' और 'अर्थ' समाहित हैं। इनमें से किसी भी पक्ष का अतिवादी आग्रह काव्य की सही व्याख्या नहीं कर पाता, वह चाहे और कुछ कर रहा हो। इसलिए जरूरत इस बात की है कि शब्द-चिन्तन को भी सही संदर्भ में देखा जाय।

1·4·2. शब्द-चिन्तन का सही संदर्भ क्या होगा? शब्द के 'उपयोग' एवं 'प्रयोग' से तीन स्थितियाँ जुड़ी हैं—प्रयोक्ता, प्रयुक्त रूप और गृहीत रूप, अतः शब्द-चिन्तन का संदर्भ त्रिआयामिक है। काव्यगत शब्द-प्रयोग के तीन आयाम हैं— कवि काव्य और सहृदय। कवि पहले भोक्ता है, फिर स्रष्टा। आभ्यंतरीकरण, आत्मिक प्रयास और अभिव्यक्ति, यह उसकी रचना-प्रक्रिया होगी जिसके अन्तर्गत प्रवृत्ति-निवृत्ति की संश्लिष्ट प्रक्रिया चलती है। इस संश्लिष्ट प्रक्रिया के प्रेरक तत्त्व को आचार्यों ने अनेकविध संबोधित किया है; आचार्य दंडी इसे 'इष्टार्थ'[1] कहते हैं, महिमभट्ट

1. काव्यादर्श, 1/10.

'विवक्षा'[1] डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु 'आत्मभाव'[2] और मुक्तिबोध 'संवेदनात्मक उद्देश्य'[3]। इसी 'इष्टार्थ', 'विवक्षा', 'आत्मभाव' अथवा 'संवेदनात्मक उद्देश्य' के तहत कवि शब्द की शक्ति तथा अर्थ का दोहन करता है। इस दोहन-क्रिया के प्रतिफलन ही काव्यशास्त्र में अलंकार, गुण रीति, वक्रोक्ति आदि के रूप में चर्चित-विश्लेषित रहे हैं। स्पष्ट ही कवि का आत्मिक प्रयास योगाध्यात्मक की भावातीत अवस्था की ओर निवृत्त न होकर कामाध्यात्मक-संश्लेष करता हुआ शब्दाश्रित होकर अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है। इन सारी प्रक्रियाओं की संसृष्ट रूप ही 'काव्य' कहा जाता है।

इसप्रकार, काव्य 'सृष्टि' है और चूँकि वह सृष्टि है इसलिए उसकी संरचना भी होगी। कवि की अन्तर्वृत्तियों का शक्ति-संवेग अभिव्यक्त होकर निवृत्त हो जाता है, और काव्य एक स्वतंत्र रचना-संसार के रूप में प्रकट होता है। इस रचना-संसार की संरचना भी शब्दाश्रित ही है। शब्द की शक्ति तथा अर्थ की दोहनक्रिया के प्रतिफलन के रूप में अलंकार, गुण, रीति आदि के अतिरिक्त छन्द, लय, ध्वनन आदि की संरचना काव्य की संरचना कही जाती है। छन्द शब्द की सांगीतिकता है, लय शब्द क्रम-सवेग और ध्वनन वर्णों का आदि नादात्मक रूप। इन सब का मिलाजुलारूप काव्य का रचना-संसार है।

सहृदय का, काव्य से परिचय संरचना के माध्यम से ही होता है। वह वर्ण, पद, गुण, रीति, अलंकार, ध्वनन, लय, छन्द आदि से क्रमशः साक्षात्कार करता हुआ कवि के आत्मभाव तक पहुँचने को प्रवृत्त होता है। कवि का शक्ति-संवेग आत्मभाव से अभिव्यक्ति की ओर है और सहृदय का उस अभिव्यक्ति (काव्य) से आत्मभाव की ओर। पहली प्रक्रिया रचना-प्रक्रिया है, दूसरी रसास्वादन प्रक्रिया। ध्यातव्य है कि दोनों प्रक्रियायों में आत्मभाव प्रेरक तत्त्व के रूप में मौजूद होता है।

इसप्रकार, काव्य-चिन्तन का समस्त विस्तार शब्दाश्रित है। कवि की अन्तर्वृत्तियों का बहिर्मूत शक्ति-संवेद (अर्थात् रचना-प्रक्रिया), उसका प्रतिफलन अर्थात् काव्य, और उसके अर्थग्रहण में सहृदय की वृत्तियों की अन्तर्यात्रा अथवा अन्तर्मुखी शक्ति संवेग अर्थात् रसास्वादन-प्रक्रिया सभी शब्दाश्रित हैं। अलंकार, गुण, रीति, छन्द, लय, ध्वनि, बिम्ब, रस आदि संबंधी समस्त चिन्तन वस्तुतः तज्जन्य तथा तत्हेतु

---

1. व्यक्तिविवेक, संपादक, डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी पृ० 260.
2. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत, 'कवि का आत्मभाव' शीर्षक अध्याय।
3. नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ० 90

शब्द की भूमिकाओं का ही चिन्तन है। वस्तुतः जैसा कि तंत्रमत में मान्य है और जिसकी चर्चा हम पहले ही कर आए हैं कि सिर्फ परमशिवपद ही शब्दातीत है, शेष समस्त विश्व शब्दराज्य है और काव्य के साधारणीकरण को आचार्य विश्वनाथ के अनुकूल 'सत्वोद्रेक अखण्ड चिन्मयः' मान लेने पर भी, (जो वस्तुतः शब्दराज्य के परे की अवस्था होगी) वहाँ तक पहुँचने का सारा प्रयास शब्दाश्रित ही होगा, क्योंकि शब्द का आश्रय लेकर ही शब्द राज्य का भेद किया जा सकता है। लेकिन साधारणीकरण की अवस्था क्या सचमुच परमशिव के समकक्ष मानी जा सकती है? उत्तर स्पष्ट है—नहीं। साधारणीकरण रसास्वादन का परमरूप है, लेकिन परम-शिव रूप नहीं, क्योंकि साधारणीकरण मनोराज्य से परे की अवस्था नहीं, जबकि तंत्रमत में परमशिव पदस्थान पर मन की गति नहीं होती।

कवि की रचना-प्रक्रिया, काव्य की संरचना तथा सहृदय द्वारा आस्वादन अथवा साधारणीकरण मानवीय संवेदना अर्थात् मनोराज्य से परे नहीं हैं, अतः वे सभी शब्दाश्रित हैं। काव्यशास्त्र अलंकार, गुणादि के रूप में इस शब्दाश्रय के विविध रूपों का अध्ययन-विश्लेषण करता है।

1·4·3. अलंकार चाहे सौंदर्य के पर्याय हों[1] अथवा वाग्विकल्प[2] के वे वर्णाश्रित, अर्था-श्रित, तथा उभयाश्रित अर्थात् शब्दाश्रित हैं। उसीप्रकार रीति चाहे भौगोलिक (वैदर्भी, पांचाली आदि) कारणों से विशिष्ट पदरचना[3] हो, या गुणों के आश्रित सङ्घटना[4] अथवा स्वभाव के अनुकूल कवि की (भाषा) प्रवृत्ति (कवि-प्रस्थान)[5], सर्वत्र शब्दाश्रित है। इसी तरह गुण, वृत्ति, ध्वनि, औचित्य, रस आदिविभिन्न काव्य सिद्धांतों का नाभिकेन्द्र है 'शब्द-प्रयोग' अर्थात् काव्य की रचना-प्रक्रिया, संरचना तथा आस्वादकता में शब्द के प्रकृष्ट योग(प्रयोग) की भूमिकाएँ।

———

1. सौंदर्यमलङ्कारः। का० सू० 1/1/2
2, अनन्ताहि वाग्विकल्पाः तत्प्रकारा च अलङ्काराः। ध्वन्यालोक, 3/ 37 वृत्ति।
3. का० सू० 1/1/7
4. ध्वन्यालोक, 3/5, 6 तथा वृत्ति।
5. वक्रोक्तिकाव्य जीवितम्, 1/24 तथा वृत्ति।

काव्यशास्त्रीय शब्द–चिंतन के आदिस्रोत

2·1·1. 'शब्द' अनायास उपलब्ध नहीं होता, मनुष्य ने समाज जीवन और योगाध्यात्म -स्तर पर उसकी जीवन्तता की तलाश की है। भारतीय चिंतन में शब्द की इसी जीवन्तता अर्थात् शक्ति एवं अर्थ की सर्जनशीलता, अन्तःक्रिया तथा अन्तरावलम्बन को 'वाक्' कहा गया है। वह सर्जनबिंदु है, प्राणशक्ति है, जिसकी पहचान अनेक प्रकार से की जाती रहीहै–वैदिक 'वाक्', औपनिषदिक 'प्रणव', तान्त्रिक 'नाद' आदि तथा आधुनिक भाषिकी में फोनेटिक्स आदि उसी पहचान के प्रयत्न हैं। यह समस्त पहचान-प्रयत्न सर्वव्यापक सर्जनशील प्राणशक्ति 'वाक्' से लेकर ध्वनिशास्त्रीय सांख्यिकी तक फैला है। जहाँतक काव्य का प्रश्न है, वह अपने को योगाध्यात्म के निकट पाता है। काव्य की सर्जनशीलता वाक् की सृजनशील प्राणशक्ति की सधर्मी है, क्योंकि ध्वनिशास्त्रीय सांख्यकी में काव्य की प्राणशक्ति नष्ट होने लगती है।

अतः काव्यगत शब्द-चिंतन को, वाक् केन्द्रित भारतीय चिंतन के सन्दर्भ में ही जाना जा सकता है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर काव्यशास्त्रीय शब्द-चिंतन का सुव्यवस्थित गम्भीर प्रयत्न आचार्य भामह से ही शुरू होता है। अतः भामह पूर्वकाल को शब्द-चिंतन का आदिकाल माना जा सकता है। इस दृष्टि से शब्द-चिंतन के आदिस्रोत पाँच हैं :

क. वेद-वाङ्मय, ख. षड्दर्शन, ग. व्याकरण और व्याकरण-दर्शन
घ. नाट्यशास्त्र-शिक्षाशास्त्र ङ. पुराण, काव्य, शिलालेख आदि।

वेद-वाङ्मय

2·2·1. ऋग्वेद में वाणी अपना स्वरूप व्यक्त करती हुई कहती है[1]—"मैं वाग्देवी रूद्रगण और वसुगुण के साथ घूमती हूँ। मैं आदित्यगण तथा अन्य देवताओं के साथ निवास करती हूँ। मैं मित्रावरुण को धारण करनेवाली और इन्द्र, अग्नि, अश्विद्वय का आश्रय करने वाली हूँ ॥1॥ पाषाण द्वारा पिसकर जो सोम प्रकट होते हैं, मैं उन्हें धारण करने वाली हूँ। त्वष्टा, पूषा और भग भी मेरे द्वारा

---

1. ऋग्वेद चतुर्थखण्ड, संपादक—श्री राम शर्मा आचार्य।

ही धृत हैं। जो अनुष्ठाता सोमरस निष्पन्न करके देवताओं को तृप्त करता है, उसे मैं धन प्रदान करती हूँ ॥2॥ मैं राज्यों की अधिष्ठात्री और धन-प्रदात्री हूँ। मैं ज्ञान से सम्पन्न और यज्ञों में प्रयुक्त साधनों में श्रेष्ठ हूँ। मैं प्राणियों में वास करती हूँ। देवताओं ने मुझे अनेक स्थानों में स्थापित किया है ॥3॥ प्राण-धारण श्रवण, दर्शन, भोजन आदि सब कर्म मेरी सहायता द्वारा किये जाते हैं। मुझे न मानने वाले क्षीणता को प्राप्त होते हैं। हे विज्ञ ! मैं जो कहती हूँ, वह यथार्थ है ॥4॥ जिनके आश्रय को देवता और मनुष्य प्राप्त होते हैं, उसकी उपदेशिका हूँ। जिसे मैं चाहूँ, वही मेरी कृपा से बलवान, मेधावी, स्तोता और कवि हो सकता है। 5॥ स्तुतियों से विमुख पुरुषों का संहार करने की इच्छा से रुद्र जब धनुष धारण करते हैं, तब मैं उनके धनुष को दृढ़ करती हूँ। मैं ही आकाश पृथ्वी से व्याप्त होकर मनुष्य के लिए संग्राम करती हूँ ॥6॥ मैंने आकाश को प्रकट किया है, इसलिए मैं उसके पितरों में मूर्धन्य हूँ। इस जगत का मस्तक वही आकाश है। मैं समुद्र के जल में निवास करती हूँ और वहीं से बढ़ती हूँ। मैं अपने ऊँचे शरीर से स्वर्ग को स्पर्श करती हूँ ॥7॥ मैं जब लोकों को रचती हूँ, तब वायु के समान विचरण करती हूँ। मैं अपनी महिमा से महिमामयी होकर आकाश-पृथ्वी का उल्लंघन कर चुकी हूँ ॥8॥—ऋक्, 10/10/125.

स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि 'वाक्' को सर्वचेतन, सर्वसंसिद्धि तथा समस्त व्यापार (मानवीय, पिंडीय, ब्रह्माण्डीय) का बीज, उत्प्रेरक, धारक एवं नियामक मानता है। इसलिए मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहता है—"जैसे सहस्र महिमा वाले स्तोत्र का पार नहीं पाया जाता, वैसे ही वाणी का पार नहीं पाया जाता। जहाँ तक ब्रह्म है, वहाँ तक वाणी है।"[1] साथ ही वाणी की अपरिमेयता को स्वीकारते हुए यह चुनौती भी देता है कि "सबको जानने वाला विद् कौन है? कौन है, ऐसा विद्वान् जो वाक् के मूल रूप को जान सके ?"[2]

2·2·2. शतपथ ब्रह्मण में "वाग् वै ब्रह्म" (2/1/4·10) कहकर उपर्युक्त धारणा की पुष्टि की गयी है। बृहदारण्यक में 'वाक्' को कालशक्ति से उत्पन्न माना गया है। यहाँ समस्त सर्जना को मन और वाक् के मिथुन का परिणाम कहा गया है।[3] यहीं याज्ञवल्क्य-जनक संवाद के अन्तर्गत 'वाग् वै ब्रह्म' के आयतन और

1. ऋग्वेद, 10/10/115-8
2. ऋग्वेद, 10/10/115-9
3. बृहदारण्यक, 1/2/5

प्रतिष्ठा का प्रश्न उठाकर तत्सम्बन्धी समस्त पूर्ववर्ती धारणाओं को एक दार्शनिक पृष्ठाधार दिया गया है। जनक द्वारा पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने 'वाक्' की अपौरुषेय एवं व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत की। वे कहते हैं—'वाक् ही उसका (ब्रह्म का) आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है, 'प्रज्ञा' इस प्रकार उसकी उपासना करे।" जनक के यह पूछने पर कि 'प्रज्ञता क्या है?' याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'वाक्' ही प्रज्ञा है। वाक् से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद, इतिहास, पुराणादि, विद्या, लोक-परलोक आदि जाने जाते हैं। वाक् ही परब्रह्म है।"[1]

माण्ड्क्योपनिषद् में उपर्युक्त धारणाएँ 'प्रतीक' बन जाती हैं। यहाँ 'वाग् वै ब्रह्म', उसके आयतन, प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बन्धी समस्त चिंतन को 'ॐ' अथवा प्रणव में समाहित कर दिया गया है—"ॐकार ही परब्रह्म है, वह अपरब्रह्म है, अपूर्व है, अन्तर्बाह्य शून्य है, अकार्य है, अव्यय है।[2] भूत, भविष्य, वर्तमान तथा अन्य त्रिकालातीत वस्तु सभी कुछ 'ॐ' ही है।"[3] मुण्डकोपनिषद् में इस सर्वचेतन सर्जन-प्रक्रिया के स्पष्टीकरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति आई है :

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥—1/1/7

अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी (अपने आत्मतत्त्व से ही) जाले का सर्जन (आविर्भाव) तथा गृह्ण (तिरोभाव) करती है, जिस प्रकार पृथ्वी में (स्वतः, सहज, अयत्नज) औषधियाँ अस्तित्ववान् होती हैं; जिस प्रकार सजीव पुरुष में (स्वतः, सहज, अयत्नज) केश एवं लोम होते हैं, उसी प्रकार उस अक्षर (ब्रह्म, वाक्) से विश्व सम्भव होता है।

छान्दोग्य की मूल प्रतिज्ञा ही है कि समस्त कर्मकाण्ड के लिए उद्गीथोपासनामूलक अद्वैतात्मज्ञान का वैज्ञानिक माध्यम प्रस्तुत किया जाय। छान्दोग्य की इस प्रतिज्ञा को ही शंकराचार्य ने 'समस्तं कर्माधिगतं प्राणादिदेवताविज्ञान-

1. बृहदारण्यक, 4/1/2.
2. माण्ड्क्योपनिषद्, आगम प्रकरण, 26.
3. माण्ड्क्योपनिषद्, 1/1.

सहितम् अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मप्रतिपत्तिकारणम्' कहा है।[1] प्रकारान्तर से छान्दोग्य कर्मकाण्ड और तत्संबंधी मंत्र-विज्ञान के अद्वैतात्मज्ञान का प्रतिपादन करता है। इस मंत्र विज्ञान का बीज है 'ॐ'—वाक् अथवा उद्गीथ।[2] इसके तत्त्वार्थ-संपादन की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि—'चराचर प्राणियों के रस (उत्पत्ति, स्थिति और लय) का स्थान पृथ्वी है, पृथ्वी का रस जल है, जल का रस औषधि है, औषधि का रस पुरुष है, पुरुष का रस वाक् है, वाक् का रस ऋक् है, ऋक् का रस साम है और साम का रस उद्गीथ है। यह उद्गीथ सम्पूर्ण रसों में रसतम, उत्कृष्ट, परमात्मा का प्रतीक होने योग्य और पृथ्वी आदि रसों में आठवाँ हैं'।[3] इस प्रकार छान्दोग्य में पहली बार 'ॐ' अथवा वाक् भाषिक स्तर पर व्याख्यायित हुई है—पुरुषस्य वाग्रसो, अर्थात् पुरुष का रस वाक् है।

शंकराचार्य ने अपने भाष्य में 'रस' का निहितार्थ गति-परायण अर्थात् आश्रय माना है।[4] पुरुष के अवयवों में वाक् ही सबसे अधिक सार वस्तु है, इसलिए वाक् पुरुष का रस कही जाती है—पुरुषावयवानां हि वाक्सारिष्ठा, अतो वाक् पुरुषस्य रस उच्यते (शांकर भाष्य, छांदो 1/1/2 का भाष्य)। आचार्य शंकर ने 'वाक्' को पुरुष अवयव के रूप में ग्रहण किया है, वह इसका उच्चारण पक्ष है, इसके अतिरिक्त 'वाक्' वाणीरूप भी है, यह पुरुष का प्राणिक किंबा आत्मिक पक्ष है। इसीलिए छान्दोग्योपनिषद् में 'प्राण्' और 'वाक्' का मिथुन स्वीकार किया गया है। 'वाक्' को ऋक् और 'प्राण' को साम मानते हुए दोनों का मिथुन 'ॐ' में संसृष्ट कहा गया है।[5] मिथुन रूप में संसृष्ट होने का तात्पर्य यह है कि ओंकार वाङ्मय है और वह प्राण से ही निष्पन्न होता है—वाङ्मयत्वम् ओंकारस्य प्राणनिष्पाद्यत्वं च मिथुनेन संसृष्टत्वम् (शांकर भाष्य, 1/1/6)। प्राण और वाक् की इस संसृष्टि में समस्त कामनाओं की पूर्ति के गुण हैं, यह संसृष्टि अपराजेय होती है। इसकी सिद्धि के लिए छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम अध्याय द्वितीय खण्ड में एक कथा आई है, जिसमें असुरों को पराजित करने के लिए देवताओं द्वारा उद्गीथ के अनुष्ठान करने की घटना वर्णित है। (शंकराचार्य के अनुसार यहाँ देवता का अर्थ है शास्त्रालोकित इन्द्रियवृत्तियाँ और असुर का अर्थ है तमोमयी इन्द्रियवृत्तियाँ।)

---

1. छान्दोग्योपनिषद् (शांकरभाष्य), गीता प्रेस, पृ० 26.
2. छान्दोग्य, 1/1/1.
3. छान्दोग्य, 1/1/2, 3.
4. छान्दोग्य (गीता प्रेस), पृ० 33.
5. छान्दोग्य, 1/1/5.

देवताओं ने क्रमशः घ्राण, वाणी, श्रोत्र और मन द्वारा उद्‌गीथ की उपासना की, लेकिन 'असुर' पराजित नहीं किये जा सके। अन्ततः, देवों ने प्राण द्वारा उद्‌गीथ की उपासना की और वे अपराजेय बने।

इन दार्शनिक प्रतीकार्थों से जो बात बनती है, वह यह है प्राणशक्ति (vital force) तथा 'वाक्‌शक्ति' के सम्यक् योग एवं संसृष्टि से ही सर्वचेतनशील शब्द की सर्जनाशक्ति का साक्षात्कार हो पाता है। ध्यातव्य है कि बृहदारण्यक में 'मन' और 'वाक्' के मिथुन को संसृष्टि का हेतु माना गया था, किन्तु, छान्दोग्य में 'प्राण' और 'वाक्' के मिथुन को। छान्दोग्य की यह धारणा शब्द की सर्जना शक्ति को अपेक्षाकृत अधिक प्रमाणित करती है। सातवें अध्याय में प्राण को स्वयंभुव, सर्जनशील तथा प्रज्ञात्मा कहा गया है, जो सर्वप्रधान, सर्वाधिकारी है।[1] क्रमशः नाम, वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, आशा और प्राण की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के पीछे सार यह है कि मनुष्य का प्राणवान् होना ही उसके अन्य क्रियाकलापों की बुनियाद है। इस मूल प्राणशक्ति से जब 'वाक्' का सम्यक् योग उपस्थित हो तब वह अपौरुषेय स्थिति होती है। इसी अर्थ में वेद आपौरुषेय हैं, और महान् काव्य भी।

मानवीय स्तर पर काव्य-सर्जना का बीज भी इसी वाक् और प्राण के मिथुन में है। इसप्रकार 'वाक्' और 'प्राण' के मिथुन-स्तर पर काव्यसर्जना भी वैसी ही संसृष्टि है, जैसी संसृष्टि प्रकृति और पुरुष अथवा शक्ति और शिव के मिथुन-स्तर पर यह समस्त ब्रह्माण्ड है। यजुर्वेदीय "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" (40.8) का स्वारस्य यही है। ऋग्वेद में ही जो 'चत्वारि वाक् परिमिता' कहा गया है, वह वस्तुतः समस्त ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त अक्षर नादतत्त्व के प्रणिक आयाम—विशुद्ध शून्य से वैखरी तक, की ओर संकेत है। लोक में उक्त प्राणिक आयाम को काव्य-भाषा ही आत्मसात और अभिव्यक्त कर पाती है। षड्‌दर्शनों में वैदिक धारणाओं का और भी स्पष्टीकरण उपलब्ध होता है।

षड्‌दर्शन सूत्र

षड्‌दर्शन का मूल चिन्तन-विषय है लौकिक माध्यमों से ब्रह्माण्डीय तत्त्वों का विश्लेषण। चूँकि शब्दतत्त्व लौकिक संवाद का समर्थतम माध्यम है और वैदिक

---

1. छान्दोग्य, 7/15/1.

दृष्टिकोण से संसृष्टि का बीज भी, इसलिए षड्दर्शनों में इस विषय पर गंभीर विमर्श हुआ है।

2·3·1. वैशेषिक में आकाश के गुणरूप में 'शब्द' की विस्तृत व्याख्या मिलती है। वैशेषिक सूत्र का द्वितीय अध्याय रूपरसगंधस्पर्शवती पृथिवी' (प्रथमाह्निक, 1) की स्थापना से शुरू होकर जल, अग्नि, वायु और आकाश के गुण-विवेचन में प्रवृत्त होता है। आकाश के गुण और स्वरूप-विवेचन के क्रम में 'शब्द' के गुणरूप का भी विवेचन आया है—"शब्द पृथ्वी, तेज, जल और वायु का गुण नहीं है, क्योंकि यदि वैसा होता तो शब्द भी पृथ्वी आदि की तरह परिवर्तनीय होता (क्योंकि कारण के अनुरूप कार्य उत्पन्न होता है); किन्तु वैसा है नहीं। शब्द आत्मा अथवा मन का भी गुण नहीं है, अतः यह आकाश का गुण है। चूँकि शब्द ही आकाश का रूप है, इसलिए वह सामान्य है, उसमें कोई विशेषता नहीं। और जब उसमें कोई विशेष लक्षण नहीं है, तब उसके अनेक होने का भी प्रश्न नहीं है, इसलिए आकाश एक है'[1]; किन्तु लौकिक संवाद-माध्यम के रूप में जब 'शब्द' सविशेष व्यवहृत होते हैं, तब उपर्युक्त व्याख्या से काम नहीं चलता। विशेषकर जब शब्द को एक प्रमाण माना जाय तब उनके लोकसम्मत स्वरूप की व्याख्या आवश्यक हो जाती है। इस दृष्टि से वैशेषिक-सूत्र में सविशेष शब्द-व्यवहार से सम्बद्ध दो प्रश्न और उठाये गये—शब्द नित्य है या अनित्य और शब्द स्वतंत्र प्रमाण है अथवा अनुमान में अन्तर्भुक्त।

महर्षि कणाद ने 'शब्द' को अनित्य माना है। यहाँ सृष्टि तत्त्वों तथा गुणों में कार्यकारण सम्बन्ध माना गया है। शब्द भी कार्य है, जिसके तीन कारण हैं—संयोग, विभाग और शब्द (ध्वनि)।[2] बाँसुरी, शंख आदि से उत्पन्न शब्द संयोगात्मक हैं, वृक्ष आदि के टूटने से उत्पन्न शब्द विभागात्मक हैं और दूर से आते हुए शब्द में चूँकि संयोग अथवा विभाग का निश्चय नहीं हो पाता, इसलिए वे शब्दात्मक हैं। चूँकि 'शब्द' की उत्पत्ति कारणगत है, इसलिए वे अनित्य हैं।[3] वैशेषिक सूत्र में यह भी कहा गया है कि कान जिस विषय को ग्रहण करते हैं, वे शब्द हैं। यह शब्द-लक्षण भी अनित्य है, इसलिए शब्द अनित्य है।[4] वैशेषिक सूत्र में शब्द

---

1. वैशेषिक सूत्र, 2/1/24-27, 30, 31.
2. वैशेषिक सूत्र, 2/2/31.
3. वैशेषिक सूत्र, 2/2/28.
4. वैशेषिक सूत्र, 2/2/21, 32.

और अर्थ का सम्बन्ध भी अनित्य कहा गया है ।[1] शब्द और अर्थ का सम्बन्ध न संयोग-सम्बन्ध है[2] और न समवाय सम्बन्ध[3], वह सिर्फ सांकेतिक है ।[4] शब्द के सांकेतिक अर्थ हेतु, उपदेश, लक्षण, प्रमाण और करण (उदाहरणसहित सिद्ध अर्थात् अनुमान) के आधार पर ग्रहण किये जाते हैं और ये सारे ऊहापोह बुद्धि के व्यापार हैं ।[5] अतः शब्द अनुमान है, स्वतन्त्र प्रमाण नहीं ।

2·3·2. बाद में न्याय-दर्शन में इस 'अनुमान' को व्यापक प्रतिष्ठा मिली । यद्यपि न्याय-दर्शन के आद्याचार्य महर्षि गौतम ने न्यायसूत्र में, विषयों के ज्ञान के लिए स्वीकृत चार प्रमाणों में 'शब्द' को भी एक मानते हुए[6], आप्त पुरुषों के उपदेश को ही शब्द-प्रमाण माना था[7] और यह भी घोषणा की थी कि आप्तजनों के उपदेश की सामर्थ्य से ही अर्थज्ञान होता है, कान से सुनने से नहीं, और आप्तजनों के उपदेश प्रमाण हैं, सिद्ध हैं, अनुमान नहीं ।[8]

2·3·3. महर्षि जैमिनीकृत मीमांसा सूत्र में शब्द-चिन्तन का यथेष्ट विकास हुआ है । उन्होंने कहा है कि "वेद के प्रत्येक पद का अर्थ से स्वाभाविक सम्बन्ध है । धर्म के यथार्थ ज्ञानसाधन के ईश्वर द्वारा उपदिष्ट होने से तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अप्राप्त, व्यभिचारी और अविरोधी होने पर भी व्यास जी के मत में वह वाक्य अनपेक्षित होने से धर्म में स्वतः प्रमाण है ।"[9] शब्द सूर्य के समान सभी कालों में वर्तमान रहता है । इसलिए श्रोता के ज्ञान के कारणरूप होने तथा सभी शब्दों में प्रत्यभिज्ञा होने से शब्द नित्य हैं ।[10]

मीमांसा-दर्शन में शाब्दबोध वाक्यगत तात्पर्य का आश्रयी माना गया है । महर्षि जैमिनी ने इसके संकेत दिये हैं । उन्होंने स्वीकार किया है कि अर्थ का ज्ञान पदों से नहीं, वाक्य से होता है । 'शब्द' में अन्य शब्दों के साथ सम्बन्ध-अनुप्रवेश अथवा सम्बन्ध-स्थापन तथा अपने कोशादिसम्मत अर्थ एवं लक्ष्यार्थ व्यक्त करने

---

1. वैशेषिक सूत्र, 7/2/18.
2. वै० सू० 7/2/9.
3. वै० सू०, 7/2/19.
4. वै० सू० 7/2/20.
5. हेतुः उपदेशोलिङ्गम् प्रमाणं करणमित्यम् अर्थान्तरम्
अत्येदमितिबुद्धयपेक्षित्वात् ।।—वै० सू० 9/2/4, 5.
6. न्यायसूत्र, 1/1/3.
7. न्यायसूत्र, 1/1/7.
8. न्यायसूत्र, 2/1/52.
9. मीमांसा सूत्र, 1/1/5.
10. मी० सू०, 1/1/15, 18, 19.

की निहित शक्ति होती है। अपने अर्थों (कोशादि गत) में वर्तमान पदों का क्रिया-वाची पदों सहित पाठ होने से उनका समुदाय ही 'वाक्यार्थज्ञान' होता है। अर्थ की उत्पत्ति में पदार्थज्ञान ही कारण है। जैसे—लोक में नियम से सम्बन्ध होने से, वैसे ही वेद में भी पद-पदार्थ सम्बन्ध के ज्ञान से वाक्यार्थ उत्पन्न होते हैं।[1] मीमांसा-सूत्रों के परवर्ती भाष्यकार ऐसा नहीं मानते। वे पृथक्-पृथक् वर्णों को तो नित्य मानते हैं, उनके समूहरूप पदों और वाक्यों को अनित्य मानते हैं। बाद में शाब्दबोध सम्बन्धी इस मान्यता की दो धाराएँ विकसित हुईं—अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद। अभिहितान्वयवाद यह मानता है कि पदों के पारस्परिक अर्थ-अनुप्रवेश के कारण वाक्यार्थ की जानकारी होती है। इसके विपरीत अन्विताभिधान-वाद की मान्यता है कि वाक्यार्थ अखण्ड अर्थबोध होता है। प्रथम के प्रवर्तक तथा अनुयायी कुमारिल भट्ट और पार्थसारथी मिश्र थे और दूसरे के प्रभाकर गुरु और शालिकनाथ शास्त्री।

2·3·4. वेदांतसूत्र शब्द को ही सर्वप्रधान प्रमाण मानता है। ब्रह्म को 'शास्त्र योनि-त्वात्' (वे० सू० 1/1/3) कहकर इसकी पुष्टि की गयी है। साथ ही, निषेध से भी ब्रह्म के शब्द-प्रमाणत्व की सिद्धि की गयी है—ईक्षतेः नाशब्दम् (वे० सू० 1/1/5) अर्थात् ईक्षण अर्थात् ब्रह्म की संकल्पक्रिया के कारण ही सृष्टि उत्पन्न हुई, और वेद का कारणरूप ब्रह्म विचारवान् (संकल्पवान्) है, जड़ या शब्दहीन नहीं। इससे ब्रह्म का शब्दमय होना सिद्ध किया गया है।

इस प्रकार षड्दर्शन सूत्रों के शब्द-चिन्तन की मुख्यतः तीन दिशाएँ हैं: अनुमानवाद, शाब्दबोधवाद और नित्य-अक्षरवाद। काव्यगत शब्द-चिन्तन को भी ये इन्हीं तीन दिशाओं में प्रभावित करते हैं—अनुमानवाद को व्यापक शब्द-संदर्भ आचार्य महिमभट्ट ने दिया, शाब्दबोधवाद ने अभिधा को एकमात्र शब्दशक्ति मानते हुए तात्पर्यवाद के विकास को बढ़ावा दिया, काव्यगत शब्द-चिन्तन में जिसका भर-पूर उपयोग धनंजय, मुकुलभट्ट सदृश आचार्यों ने किया और नित्य-अक्षरवाद पहले तो व्याकरण को व्याकरण-दर्शन बनने में योग देता है, फिर काव्यशास्त्र में व्यंजना अथवा अभिव्यक्तिवाद को दृढ़ मूलाधार प्रदान करता है।

व्याकरण और व्याकरण दर्शन

व्याकरणशास्त्र ने भाषा की व्यापकता तथा प्राणवत्ता का वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विवेचन किया है। भारतीय व्याकरणशास्त्र पर वैदिक औपनिषदिक

1. मीमांसा सूत्र 1/1/24, 25, 26.

चिन्तन के अपौरुषेयवाद, वेदान्त के नित्य-अक्षरवाद और निरुक्त के गम्भीर प्रभाव हैं। व्याकरणशास्त्र शब्दाद्वैतवादी चिन्तन का प्रतिष्ठापक भी है।

2·4 1. निरुक्त को व्याकरण का बीजरूप माना जा सकता है। निरुक्त में शब्द को आकाश का गुण[1] मानते हुए यास्क (7वीं शती ईसापूर्व)[2] ने ऋग्वेद के 'चत्वारि वाक्परिमिता[3] के व्याख्याक्रम में वाक् सम्बन्धी उस समय तक के समस्त चिन्तन का सारांश प्रस्तुत कर दिया है—"आर्षपद्धति में वे चार पद ऊँ, भू, भुवः, स्व अर्थात् ओंकार हैं, महाव्याहृति रूप में विभाजन से ही समस्त वाक्तत्त्व का विभाजन होता है। वैयाकरण इन्हें नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात मानते हैं। याज्ञिक इन्हें मंत्र, कल्प, ब्राह्मण और व्यावहारिक वाक् मानते हैं और नैरुक्त उन्हें ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और व्यावहारिक वेद (अथर्व वेद) के रूप में स्वीकारते हैं।"[4]

यास्क ने पद के चार प्रकार बतलाये : नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इनमें नाम सत्त्वप्रधान (लिंग, कारक आदि सम्बन्ध-योग्यता से युक्त) और आख्यात भावप्रधान (क्रिया प्रधानता) हैं। नाम और आख्यात पदों की उपर्युक्त परिभाषाएँ भावी व्याकरण-दर्शन की बुनियाद हैं। यास्क के अनुसार नाम 'अस्तित्व' का बोधक है और आख्यात 'भावन क्रिया' (सर्जनात्मक शक्ति) का। जहाँ दोनों हों, वहाँ भी भावन-क्रिया ही प्रधान होती है।[5] सर्जनात्मक शक्ति ही 'अस्तित्व' को विविध रूप प्रदान करती है। आचार्य वार्ष्यणि को उदाहृत करते हुए यास्क ने भावन-क्रिया के छह रूप निरूपित किये हैं : उत्पत्ति (Genesis) अस्ति (Existence), विपरिणाम (Alteration), वर्धन (Growth), क्षरण (Decay) और विनाश (Destruction)।[6] इन विभिन्न रूपों में भावन-क्रिया अस्तित्व का विभावन करती है।

---

1. आकाशगुण : शब्द :, निरुक्त 13/17.
2. काल सम्बन्धी विशेष विवरण के लिए देखें डॉ० लक्ष्मणस्वरूप द्वारा संपादित 'निघंटु और निरुक्त' का टिप्पणी तथा अनुवाद भाग, पृ० 54.
3. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
   गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्य वदन्ति॥
   —ऋग्वेद, 1/22/164/45.
4. निरुक्त, 13/9.
5. तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः। पूर्वापरिभूतं भावमख्यातेनाचष्टे॥ निरुक्त, 1/1.
6. निरुक्त, 1/2.

2·4·2. महर्षि पाणिनि का संबंध मूलत: भाषा की वैज्ञानिक संरचना से है। अत: उन्होंने शब्द-चिन्तन की अपेक्षा शब्द-संरचना पर अधिक बल दिया। महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य में पाणिनी सूत्रों को दार्शनिक चिन्तन का आयाम दिया है। उन्होंने शब्द-प्रयोग को महान् विषय बतलाया और कहा कि यावत् पृथ्वी, तीनों लोक, चारों वेद, इतिहास, पुराण सर्वत्र इसी की व्याप्ति है।[1] शब्द-चिन्तन में महर्षि पतंजलि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है–'स्फोटवाद' का विकास। उन्होंने 'अ, इ, उ, ण् सूत्र (महाभाष्य, आह्निक–2) की व्याख्या करने के क्रम में 'जातिस्फोट तथा व्यक्तिस्फोट में शक्ति कहाँ हैं ? के प्रश्न का विवेचन करते हुए शब्द को नित्य माना है। उन्होंने बतलाया कि शब्द नित्य है, नित्य शब्द में प्रत्येक वर्ण को कूटस्थ अर्थात् निर्लिप्त, निरंजन और अचल रूप होना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का विकार अथवा क्षय नहीं होना चाहिए। इसी क्रम में उन्होंने 'शब्द' की दार्शनिक व्याख्या की–श्रोत्र से उपलब्ध, बुद्धि से ग्राह्य और प्रयोग से अभिव्यक्त, आकाश ही जिसका स्थान और आश्रय है, वह (ध्वनि) शब्द है। आकाश स्थित 'शब्द' इस प्रकार उच्चरित होने के बाद पुन: आकाश में व्याप्त हो जाता है।[2] इस प्रकार शब्दव्याप्ति सर्वत्र है–श्रवण, ग्रहण तथा अभिव्यक्ति आदि सभी उसी के विभिन्न व्यावहारिक रूप हैं।

'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र (महाभाष्य, 1/1/70) की व्याख्या करते हुए स्फोट और ध्वनि के अन्तर को स्पष्ट किया गया है। 'स्फोट' ही शब्द है, ध्वनि उसका व्यंजक अर्थात् गुण। स्फोट और ध्वनि सर्वत्र स्वाभाविक रूप से रहते हैं, अन्तर यह है कि स्फोट नित्य है और ध्वनि में वृद्धि या ह्रास होता है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि स्फोट दो वस्तुओं के संयोग अथवा विभाव का नित्य रूप है। उससे उत्पन्न 'ध्वनि' आघात के बल और बीते हुए समय अर्थात् कालतत्त्वाश्रित है।[3]

---

1. व्याकरण महाभाष्य, सं० श्री चारुदेव शास्त्री, प्रथम आह्निक, पृ० 35.
2. श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिग्राह्य: प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेश: शब्द:। एवं च पुनराकाशं। —महाभाष्य, आह्निक—2, पृ० 65.
3. एवं तर्हि स्फोट : शब्द:। ध्वनि: शब्दगुण: कथम् भेर्याघातवत्। स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धि:।

ध्वनि: स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत् स्वभावत:''

—महाभाष्य, आह्निक–9, पृ० 708.

व्याकरण का यह स्फोट-सिद्धान्त, भारतीय काव्यशास्त्र के ध्वनि-सिद्धान्त का बीज है, जिसे आनन्दवर्द्धन ने व्यापक काव्य-संदर्भ दिया है और अभिनवगुप्त ने जिसे शैवदर्शन के साथ जोड़कर एक ऐसे समीक्षा-दर्शन का विकास किया कि जिसका नाभिक शब्द-चिन्तन बना। लेकिन व्याकरणगत शब्द-चिन्तन के काव्य-शास्त्रीय चिन्तन तक के विकास-क्रम में भर्तृहरि के व्याकरण-दर्शन का योग कम नहीं।

2·4·3. भर्तृहरि (सन् 450-500 ई०)[1] शब्दाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य थे। व्याकरण-दर्शन के क्षेत्र में भर्तृहरि का वही महत्त्व है, जो काव्य-दर्शन के क्षेत्र में आनन्दवर्द्धन अथवा अभिनवगुप्त का। भर्तृहरि ने 'वाक्य' और 'पद' की गहन दार्शनिक विवेचना की। 'वाक्यपदीय' की मूल प्रतिज्ञा शब्दबोध और अर्थबोध की अद्वैत-स्थापना है। इस शब्दाद्वैतवाद ने काव्यशास्त्रीय चिन्तन को बहुत प्रभावित किया है, अतः भर्तृहरि के शब्द-चिन्तन के कुछ मुद्दों पर किंचित् विस्तार से चर्चा अनपेक्षणीय नहीं।

(i) **शब्दाद्वैतवाद** : शब्द (ध्वनि) और अर्थ (शब्द-विवर्त) के अन्तस्संबंध का प्रश्न विभिन्न दर्शन-प्रस्थानों में विवेच्य हुआ है। भर्तृहरि ने इस प्रश्न पर अद्वैतवादी दृष्टि से विचार किया है। औपनिषदिक संप्रत्यय में एकाधिक स्थल पर शब्दब्रह्म और परब्रह्म में स्तर-भेद की बात आई है, कहा गया कि शब्दब्रह्म की उपलब्धि के बाद ही परब्रह्म की प्राप्ति होती है।[2] प्रथम अध्याय में हम देख आए हैं कि तंत्रशास्त्र की मान्यता भी यही है। परन्तु भर्तृहरि को संभवतः यह मान्यता स्वीकार्य नहीं। उनकी दृष्टि में 'शब्द' अनादि है, अक्षर है, ब्रह्म है, जो अर्थरूप भावनक्रिया से समस्त जगत का विवर्तन करता है।[3] इस स्थिति की सिद्धि के लिए वे शब्दब्रह्म की एक शाश्वत शक्ति अथवा 'कालशक्ति' का प्रतिपादन करते हैं। यह कालशक्ति ही वस्तु के विकार, यथा—उत्पादन, अस्तित्व, परिवर्तन, विकास,

1. विशेष विवरण के लिए देखें : डॉ० के० आर० पिल्लै तथा डॉ० पेरी सर्वेश्वर शर्मा की 'वाक्यपदीय' की क्रमशः 'ब्रह्मकांड' तथा वाक्यकांड और प्रकीर्णकांड के कालसमुद्देश' की संपादकीय भूमिकाएँ।
2. द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परम च यत्।
शब्दब्रह्मणी निष्णातः परम ब्रह्माधिगच्छति" —मैत्रायणी उपनिषद्, 6/22.
3. अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
वाक्यपदीय, सं० डॉ० के० आर० पिल्लै, 1/1

क्षरण तथा विनाशादि के लिए उत्तरदायी है।[1] कालशक्ति ब्रह्म की स्वतंत्र सर्जना-शक्ति है जो प्रतिबन्ध (नियन्त्रण) तथा अभ्यनुज्ञा (अनुमति) के माध्यम से सभी कुछ को संयमित करती है (वाक्यपदीय, 3/9/4), उसकी तीन व्यावर्तक शक्तियाँ हैं—भूत, भविष्य एवं वर्तमान (वाक्यपदीय, 3/9/49); इसीलिए व्यवहारतः उत्पा-नादि पृथक्-पृथक् (अविद्याजन्य) अनुभव होने पर भी वस्तुतः एक ही कालशक्ति के वस्तु साहचर्यगत (विद्याजन्य) रूप हैं (वाक्यपदीय, 3/9/62,72,81)। अतः शब्द-ब्रह्म की यह कालशक्ति ही अर्थ-विवर्त की सृष्टि करती है और चूँकि कालशक्ति शाश्वत है—अक्षर, इसलिए अर्थ भी शुद्ध सत्ता है और विवर्त ही उसके विविध विकार हैं। अतः शब्द और अर्थ में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है, जो अन्तर प्रतीत होते हैं वे विकार मात्र है।[2]

(ii) **शब्द-चिंतन** : भर्तृहरि ने शब्द ब्रह्म से ही समस्त सृष्टि का विकास माना है। टीकाकार हेलाराज ने वाक्यपदीय के 'अनादि निधनं…' के स्पष्टीकरण में कहा है कि "शब्दब्रह्म ही शब्द-निर्माण करता है और समस्त सृष्टि शब्दशक्ति से बँधी हुई है। सृष्टि शब्द का ही विकास है और उसी में विलीन हो जाती है।" दूसरे शब्दों में यही शब्दशक्ति कालशक्ति है। अर्थ की दृष्टि से इसे शाश्वत अभिधेय-सत्ता भी कहा जा सकता है। शब्द की यह अभिधेयसत्ता ही विविध रूपों में अभिव्यक्त होती है। अभिधेयसत्ता की अभिव्यक्ति के दो संश्लिष्ट रूप हैं—आत्म-रूप तथा ज्ञानरूप, ठीक वैसे ही जैसे ज्ञानक्षेत्र में ज्ञान और ज्ञेय को संश्लिष्ट रूप में देखा जाता है वैसे ही शब्द-प्रसंग में भी अर्थ और शब्द रूप देखे जाते हैं। इस स्थिति की सिद्धि के लिए शब्द की तीन स्थितियाँ मानी हैं—पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। (वाक्यपदीय, 1/143)। वैखिरी शब्द का वर्णगत स्फुट रूप है, मध्यमा रूप और क्रमगत शाब्दबोध और पश्यन्ती समाधि अवस्था की वस्तु है। परावाक् की चर्चा भर्तृहरि नहीं करते, यद्यपि वैदिक 'चत्वारि वाक् परिमिता', निरुक्त तथा महाभाष्य में यह स्वीकृत है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि उनके द्वारा प्रतिपादित 'कालशक्ति' ही 'परावाक्' है, अतः पुनर्विवेचन की आव-श्यकता नहीं समझी गयी। पश्यन्ती की अवस्था से विवर्त का प्रारम्भ हो जाता है, इसलिए वे वहीं से 'शब्द' का विवेचन शुरू करते हैं। सम्भावना यह भी

1. वाक्यपदीय, 1/3.
2. एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ।—वाक्यपदीय, 2/31.
शब्दार्थावभिन्नावेकरयांतरस्य तत्त्वस्यसंबंधिनौ वस्तुतः बहिःस्थितौ भेदाविव प्रतिभासते (पुण्यराज की टीका)

हो सकती है कि चूँकि 'पश्यन्ती' अवस्था से ही शब्दराज्य की स्फुरणा शुरू होती है, जिसे तन्त्रशास्त्र की भाषा में 'शक्तिगर्भस्थ बीजभूत विश्व'[1] कहा गया है, और परावाक् अनुमेय अथवा विवेच्य नहीं, इसीलिए भर्तृहरि ने 'पश्यन्ती' तक की ही चर्चा की। वैसे भी 'कालशक्ति' का गुण वे सर्जनशीलता मानते हैं और यह सर्जनप्रक्रिया 'पश्यन्तीवाक्' से ही होती है। इसप्रकार, शब्द के चरम और परम रूप के विवेचन के पश्चात् भर्तृहरि इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शब्द ही सृष्टि का बीज रूप है, वही भोक्ता है, वही भोक्तव्य और वही भोग भी।[2]

(iii) **शब्द और ज्ञान :** भर्तृहरि के अनुसार विश्व शब्दमय है तथा समस्त ज्ञान शब्दाश्रित[3]। यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि समस्त ज्ञान शब्दाश्रित हैं, तो 'शब्द' उन ज्ञेय वस्तुओं अथवा विषयों का ज्ञान कैसे कराता है? इस प्रश्न पर भर्तृहरि ने कई दृष्टियों से विचार किया है। पहली बात यह है कि जैसा कि महर्षि पतंजलि ने कहा भी है, 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' (महाभाष्य, आह्निक-1) भर्तृहरि भी मानते हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सिद्ध है, नित्य है— नित्याः शब्दार्थ सम्बन्धा : (वाक्यपदीय, 1/23)। यह सम्बन्ध कई प्रकार के हो सकते हैं—वाच्य-वाचक, कार्य-कारण, आधार-आधेय, उपकार्य-उपकारक आदि। वस्तुतः ये सम्बन्ध अपरिमेय हैं, अनेक हैं। मूलतः शब्दार्थ एकात्मस्थित हैं, प्रयोग में प्रयोक्ता की विवक्षा के अनुसार शब्द के अर्थ भिन्न हो जाया करते हैं। (वाक्यपदीय, 2/430)।

शब्द और अर्थ के प्रश्न पर भर्तृहरि ने खण्डपदार्थवादी, मीमांसा (अन्वित तथा अभिहितान्वयवाद) आदि बारह मत-मतान्तरों का विवेचन किया है। उनका पक्ष यह है कि शब्द तथा अर्थ का विभाजन नहीं हो सकता, व्यवहार में जो विभाजन है वह उपलक्षण मात्र है। विभाजन को ही वास्तविक मान लेना अज्ञान है (वा० प० 2/13)। वाक्य तथा वाक्यार्थ अथवा शब्द और शब्दार्थ की एकात्मता सिर्फ बुद्धिग्राह्य है और जहाँतक अर्थ-द्योतन का सवाल है, कभी-कभी एक वर्ण ही वैसा कर सकने में समर्थ है (वा० प० 2/40)। प्रत्येक वर्ण अर्थवान् होता है, लेकिन अर्थवत्ता के लिए 'विनियोग' अनिवार्य शर्त्त है। शब्द का जबतक

---

1. महामहोपाद्याय गोपीनाथ कविराज, तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० 47-75.
2. एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
   भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥ वाक्यपदीय, 1/4.
3. वाक्यपदीय, 1/123, 125.

विनियोग नहीं होता, अपने आप वे (वाक्य के घटक रूप में) अर्थ नहीं देते। (वाक्य-सन्दर्भ में) शब्द अन्य शब्दों से संसर्ग-संसृष्टि के कारण ही अर्थवान् हो पाता है (वा० प० 2/421)। प्रश्न हो सकता है कि अगर ऐसा है तो फिर शब्द और अर्थ, तथा वाक्य-वाक्यार्थ की अखण्डता कहाँ सिद्ध होती है? कहाँ तो प्रत्येक वर्ण को अर्थवान् कहा गया और कहाँ शब्द को अर्थवान होने के लिए प्रयोक्ता द्वारा विनियोग तथा वाक्यगत संसर्ग-संसृष्टि की शर्त लगा दी गयी? और यह भी कहा जाता रहा है कि सभी ज्ञान शब्दाश्रित हैं?

भर्तृहरि का उत्तर यह है कि अर्थवत्ता वर्ण, शब्द या वाक्यसंघटना में नहीं होती, बल्कि वस्तुतः उनके अखण्डस्वरूप में होती है, और यह अखण्डस्वरूप विनियोगाश्रित है, (वा० प० 2/398, 399। मूलतः अखण्ड वस्तु का खण्डरूप तथा मूलतः खण्ड वस्तु का अखण्ड रूप और नाना रूपात्मक वस्तुओं की एकरूपता तथा एकरूपात्मक वस्तुओं का नानकत्व का परस्पर विरोधी अस्तित्व इसीलिए प्रतिभासित होता है कि या तो उनका कोई मूलरूप नहीं है, या फिर वे नानारूपात्मक हैं। अतः वस्तु का सही संज्ञान सिर्फ शब्दाश्रित है। ध्यातव्य है कि शब्द भी व्यवहारतः वस्तु का उपलक्षण मात्र है, उसके गुणों को अभिव्यक्त नहीं करता (वा० प० 2/432, 433, 434)। वस्तुओं के गुणों की अभिव्यक्ति विनियोगाश्रित है, इसीलिए प्रतिभाश्रित भी (वा० प० 2/143)। समस्त अर्थवत्ता विनियोग और प्रतिभा के आश्रित होने के कारण बौद्धिक है, जबकि शब्द और अर्थ के सारे संकल्प-विकल्प व्यवहारजन्य हैं।

शब्द की यह व्यवहारजन्यता अथवा व्यापार "वृत्तियाँ" कहलाईं। इनके आधार पर ही शब्द-शक्ति—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के विवेचन किये गये हैं।

मूल प्रश्न कि 'यदि समस्त ज्ञान शब्दाश्रित हैं तो शब्द ज्ञेय वस्तुओं अथवा विषयों का ज्ञान कैसे कराता है?' के समाधान में भर्तृहरि ने, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस 'प्रक्रिया' को विनियोग तथा प्रतिभाश्रित कहा है। निमित्त भेद से प्रतिभा के छह रूप बतलाये गये—स्वाभाविक; चरण (आचरण, क्रियादि), अभ्यास, योग (योगाभ्यास लब्ध), अदृष्ट (जन्मान्तर संस्कार) तथा विशिष्ट अर्थात् योगी, ऋषि, देवता, गुरु आदि के आशीर्वाद से प्राप्त (वा० प० 2/152)। अर्थग्रहण की समस्त प्रक्रिया को प्रतिभाश्रित मान लेने पर काव्यसम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान सम्भव है। जैसे—'काव्यत्व का आश्रय अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में कौन है? —"एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है। यदि अर्थ-

ग्रहण, जो प्रकारान्तर से काव्यबोध भी है, विनियोग तथा प्रतिभाश्रित होगा, तो यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता कि काव्यत्व कहाँ है ?" जिसकी जितनी विनियोग क्षमता है, वह उतना ही अभिव्यक्त कर पाएगा और जिसमें जितनी प्रतिभा होगी वह तदनुकूल ही अर्थ-विवर्त को पकड़ पाएगा। विनियोग एवं प्रतिभा, इसप्रकार अभिव्यक्ति तथा आस्वादन दोनों से सम्बद्ध होंगे, क्योंकि भर्तृहरि के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों 'अनन्य रूप अभिधेयसत्ता' से जुड़े हैं। अतः कवि अपनी प्रतिभा के अनुकूल ही शब्द को गहनतर एवं व्यापक अर्थ-वर्णक्रम किंबा अर्थबिम्ब दे पाता है और सहृदय भी अपनी प्रतिभा तथा विनियोगक्षमता (Application) के अनुकूल ही आस्वादन करता है। अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित 'नवनवोन्मेष-शालिनी प्रज्ञा' भी इसी अर्थ में प्रतिभा है। इस दृष्टि से विनियोग और प्रतिभा भी अन्योन्याश्रित होंगे।

मूल प्रश्न के समाधान में तीसरा प्रतिपादन भर्तृहरि ने यह दिया कि वाक्य और वाक्यार्थ भी अभिन्न हैं। भर्तृहरि वाक्यार्थ को अखंड बौद्धिक स्थिति मानते हैं। वस्तुतः वाक्य और वाक्यार्थ शब्द-तत्त्व के ही दो रूप हैं, जिनके सम्बन्ध में हम पूर्व ही कह चुके हैं कि शब्द की अभिव्यक्ति के ही दो रूप हैं—आत्मरूप और ज्ञानरूप। यह आत्मरूप शब्द की 'ग्राह्यत्व शक्ति' है और ज्ञानरूप 'ग्राहकत्व शक्ति'।[1] यह स्थिति 'प्रकाश' की तरह है। प्रकाश स्वयं तो ज्योतित होता ही है, अन्य वस्तुओं को भी ज्योतित करता है। लेकिन 'शब्द' के होने मात्र से अर्थ-बोध नहीं हो जाता, उसका विनियोग तथा श्रवणगोचर होना आवश्यक है (वा० प० 1/56)। इस विनियोग तथा अर्थबोध की पूरी प्रक्रिया बतलायी गयी है।

विनियोग की प्रक्रिया इस प्रकार है—ज्वलनशील पदार्थों की अग्नि जिस प्रकार किसी अन्य तापकारी वस्तु द्वारा प्रेरित होकर प्रकट होती है, उसी प्रकार बुद्धिस्त शब्द श्रवणगोचर ध्वनियों का कारण होता है (वा० प० 1/46)। शब्द-चयन बुद्धि का कार्य है। मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा 'शब्द' किसी अर्थविशेष के लिए पहले तय होता है, फिर उच्चारण इन्द्रियों द्वारा वह श्रवणगोचर ध्वनियों के रूप में व्यक्त होता है (वा० प० 1/47)। व्यक्त होने का यह क्रम वस्तुतः होता नहीं; क्योंकि नादावस्था में कोई पूर्वापर क्रम नहीं होता। अतः जिस प्रकार चित्रकार किसी दृश्य को, जटिल मानसिक प्रक्रियाओं से गुजरते हुए, संश्लिष्ट बिम्ब के रूप में ग्रहण करता है, और चित्रपट पर खण्डशः चित्रित करते हुए पुनः

1. ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते॥ —वा० प०, 1/55.

पूर्ण बिम्ब को रेखांकित कर देता है, उसीप्रकार शब्द की विनियोग-प्रक्रिया भी तीन स्तरों में होती है—बुद्धि स्तरीय शब्द, उच्चारणेन्द्रियगत ध्वनियाँ तथा श्रवण-गोचर ध्वनियाँ ।[1]

इसी बिन्दु से अर्थबोध की प्रक्रिया शुरू होती है । श्रोता उच्चरित ध्वनियों को पृथक्-पृथक् नहीं सुनता, बल्कि पूरे शब्द का श्रवण करता है, फिर अपने बुद्धिस्थ अभिधेयसत्ता के अनुकूल अर्थ-ग्रहण कर लेता है । उच्चरित ध्वनियों का अस्तित्व अर्थोपसर्जन के बाद लुप्त हो जाता है, हम बुद्धिस्थ अभिधेयसत्ता के कारण ही अर्थग्रहण कर पाते हैं (वा० प० 1/54) । अर्थ-ग्रहण अनियन्त्रित अथवा यदृच्छिक नहीं, बल्कि वाक्य-प्रयोग, प्रकरण, अन्य शब्दों के अर्थ, औचित्य, देश, काल, संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, लिङ्ग तथा शब्दसन्निधि से अनुशासित होता है (वा० प० 3/314, 315) । अनेकार्थक शब्द भी प्रकरणादि से एकार्थ नियत होते हैं (वा० प०, 2/316) ।

तात्पर्य यह है कि अर्थबोध के लिए यह आवश्यक है कि शब्द का बुद्धिस्तरीय रूप (ग्राह्यत्व शक्ति) अर्थ-संप्रत्यय (ग्राहकत्व शक्ति) के साथ तादात्म्य करे । यह तादात्म्य शब्द की इतिकर्तव्यता है (वा० प० 2/146) । शब्द की इसी शक्ति की महिमा है कि वह अत्यंत असत्य अर्थ का भी बोध कराती है अर्थात् शब्द से सिर्फ सत्यार्थ (Fact) का ही नहीं, असत्यार्थ (Fiction) का बोध भी पूर्ण विश्व-सनीयता के साथ संभव है ।[2] भर्तृहरि की यह मान्यता काव्य-बोध के सत्य-असत्य-सत्य' रूप की विश्वसनीयता को पुष्ट करती है ।

(iv) **स्फोटवाद** : शब्दाद्वैतवाद की सिद्धि के लिए स्फोट-सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है, जिसका मूलस्रोत आगमशास्त्र है । व्याकरणशास्त्र में यह वहीं से विकसित हुआ है । व्याकरणशास्त्र में भर्तृहरि के पूर्व स्फोट की चर्चा महर्षि पतंजलि ने भी की थी और उन्होंने उसके प्रवर्तक के रूप में किन्हीं स्फोटायन ऋषि की ओर संकेत भी किया था, किन्तु स्फोट-सिद्धान्त को व्याकरण-दर्शन में पूर्णतः प्रतिष्ठित करने का श्रेय भर्तृहरि को ही है ।

---

1. यथैकबुद्धिविषया मूर्तिराक्रियते पटे ।
   मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते ।। – वा० प०, 1/52.
2. स्वमात्रा परमात्रा वा श्रुत्या प्रक्रम्यते यथा ।
   तथैव रूढतामेति तथा ह्यर्थो विधीयते ।।
   अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात् ।
   दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा—वा० प०, 1/129, 130.

वाक्यपदीय में इस प्रश्न पर सविस्तर चर्चा है। नाद, स्फोट और ध्वनि का परस्पर सम्बन्ध एवं अन्तर पहला मुद्दा है। भर्तृहरि ने यह तो बतलाया ही है कि शब्द वस्तुत: बुद्धिस्थ है। विनियोग की प्रेरणा से अभिव्यक्ति की जो प्रक्रिया शुरू होती है, स्फोट और ध्वनि अथवा नाद वस्तुत: उसी के विभिन्न स्तर-विभाजन हैं। ध्वनि (वागेन्द्रिय योग से व्यंजनयुक्त स्वर) दरअसल बाह्य स्फोट का रूप है, स्फोट-स्तर वस्तुत: आन्तर स्फोट है, शब्द इसी स्तर पर अर्थ-अधिगम करता है। इस-प्रकार 'स्फोट' किंबा 'आन्तर स्फोट' बुद्धिस्थ अवस्था है। उच्चरित ध्वनि, व्यंजन से युक्त होकर वैखरी वाक् के रूप में श्रवणगोचर होती है। यह श्रवण-गोचर ध्वनि 'स्फोट' नहीं बल्कि उसका विकार है। ये विकार अर्थात् उच्चारण इन्द्रियों के संयोग के व्यक्त ध्वनि, ग्रहणमाध्यम की अनेकरूपता के कारण (उच्चारण काल तथा वर्णादि रूप में) भिन्न प्रतीत होते हैं। ध्वनिइकाई अर्थात् स्वर वस्तुत: कालातीत हैं अर्थात् क्षणों में नहीं बाँधे जा सकते, लेकिन इन्द्रियों के संयोग के कारण उच्चरित ध्वनियों में कालगत पौर्वापर्य आ जाता है, जिसे भ्रमवश ध्वनि इकाई का ही कालगत विभाजन मान लिया जाता है। अर्थात् दूसरे शब्दों में उच्चरित ध्वनियों के पौर्वापर्य क्रम को स्फोट का पौर्वापर्य मानलिया जाता है, जबकि बुद्धिस्थ स्फोट अखण्ड होता है। वस्तुत: स्फोट का कोई विभाजन नहीं होता।[1] व्याकरण का अभेदमत तो यहाँ तक मानता है कि वर्ण, पद तथा वाक्य (चूँकि बुद्धिस्थ स्फोट रूप हैं अत:) परस्पर किसी का अंग अथवा अंश नहीं, बल्कि संश्लिष्ट ध्वनि इकाई हैं (वा० प० 1/73)। होता यह है कि स्फोट का प्रकटीकरण उच्चरित ध्वनियों अथवा नाद के माध्यम से होता है और उसकी प्रकृति का आरोप 'स्फोट' पर कर दिया जाता है, जबकि स्थिति यह है कि श्रोता उन उच्चरित ध्वनियों का ग्रहण भी वर्ण, पदादि के रूप में नहीं, अपने बुद्धिस्थ स्फोट के रूप में करता है।[2]

---

1. स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु ।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते ॥
शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥—वा० प०, 1/76, 77.

2. प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥
नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥—वा० प० 1/83, 84.

इस प्रकार 'स्फोट' विनियोग की प्रेरणा से परिचालित बुद्धिस्थ अवस्था है और ध्वनि अथवा नाद उसका, उच्चारण इन्द्रियों के माध्यम से प्रकट रूप (वा० प० 1/93)। 'स्फोट' और 'ध्वनि' दोनों शब्दतत्त्व के ही रूप हैं—'स्फोट' बुद्धिस्थ रूप और 'ध्वनि' प्रकट रूप। दोनों में देशकालगत कोई अन्तर नहीं है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि स्फोट और ध्वनि दोनों ही आकाशस्थित (मन और बाह्याकाश) हैं और दूसरा कारण यह है कि ध्वनि के माध्यम से वस्तुतः शब्दतत्त्व ही प्रकट होता है। ध्वनि 'व्यंजक' है और स्फोट 'व्यंग्य'। यह व्यंग्य-व्यंजकभाव प्रकृत है, सिद्ध योग्यता है। ऐसा हम व्यवहार में भी पाते हैं कि किसी वस्तु के ग्रहण तथा उसे ग्रहण करने वाली इन्द्रिय संवेदना की व्यंग्य-व्यंजक योग्यता सिद्ध है। हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो उस वस्तु के 'देखने' और 'आँखों' की दृश्य-क्षमता' स्वयंसिद्ध होती है। देखने की क्रिया और दृश्य-क्षमता के बीच व्यंग्य-व्यंजकभाव सम्बन्ध है।[1]

स्फोट सम्बन्धी दूसरा प्रश्न यह है कि अन्ततः शब्द (स्फोट ध्वनि रूप) के संघटक तत्त्व क्या है? भर्तृहरि ने इस सम्बन्ध में तीन मुख्य मतों की चर्चा की है: (i) वायु शब्द रूप में रूपान्तरित होती है (ii) परमाणु शब्दरूप में रूपान्तरित होता है और (iii) ज्ञान (अभिधेयसत्तामूलक चेतना) शब्दरूप में रूपान्तरित होता है (वा० प० 1/107)। भर्तृहरि का इन धारणाओं से कोई विरोध नहीं है। उन्होंने विश्लेषण करते हुए कहा है कि (i) वक्ता की बोलने की इच्छा से क्षुब्ध होकर वायु वागेन्द्रियों पर आघात करती हैं, जिससे शब्द का प्रतिपादन होता है; (ii) परमाणु सर्वशक्तिमान हैं, भेद तथा संसर्ग उनकी प्रकृत वृत्ति है, जिससे वे छाया, प्रकाश, अंधकार आदि में रूपान्तरित होते हैं। इसी प्रकार वक्ता के बोलने के प्रयत्न के कारण स्वशक्ति के प्राकट्य के लिए ये परमाणु आकाश में बादलों की तरह, शब्दरूप में भी घनीभूत हो उठते हैं और (iii) अन्तःकरण स्थित सूक्ष्म ज्ञान-रूप ज्ञानात्मा श्रवणगोचर शब्द के रूप में प्रकट होती है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार होती है कि सूक्ष्म ज्ञानात्मा पहले 'मनोभाव' का रूप ग्रहण करती है, फिर उदरस्थ अग्नि से पक कर प्राणवायु में प्रविष्ट होती है, और अन्ततः (वागेन्द्रियों के माध्यम से) उच्चरित होती है। (वा० प० 1/108—113) इस प्रकार शब्द का मुख्य आश्रय अन्तःकरण स्थित ज्ञानात्मा है, जो प्राणवायु तथा तेज के संयोग से

---

1. ग्रहणग्राहकयोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयो ।।—वा० प०, 1/97.

शब्दरूप में व्यक्त होती है, इसे प्रकारान्तर से सर्वशक्तिमान परमाणुओं की स्वशक्ति का व्यक्तीकरण कहा जा सकता है, जो अनन्तरूपाकार तथा अजस्रवृत्ति से युक्त है।

यही शब्दाश्रित 'शक्ति' समस्त सृष्टिविधान की नियामिका है। एक ही आत्मप्रतिभा के व्यक्त, अनन्तरूपाकार अजस्रवृत्ति रूप विश्व की प्रतीति भी उसी शब्दचक्षु से होती है। 'शब्द' से परे कुछ भी नहीं। समस्त विश्व ही 'शब्दतत्त्व' का रूपान्तरणमात्र है, छन्दस् (वेद, वाक्) से ही विश्व का व्यावर्तन या विकास हुआ है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भर्तृहरि का शब्द-चिन्तन, परवर्ती काव्यगत शब्द-चिन्तन को बुनियादी औजार प्रदान करता है, वैचारिक किंबा दार्शनिक पृष्ठाधार के साथ। यह एक स्वतन्त्र शोध का विषय है, लेकिन जब अज्ञेय कहते हैं कि "काव्य सबसे पहले शब्द है। और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है" (तारसप्तक–2, पृ० 309) या जब श्री अरविन्द कहते हैं कि शब्द काव्यदृशा के वाहक होते हैं; शब्द की इतिकर्तव्यता विचार अथवा अनुभव देना नहीं, 'दिखाना' है—विचार तथा अनुभव उक्त दृशा से ही उत्सर्जित अथवा उसी में निहित होंगे, क्योंकि दृशा काव्यात्मक शब्द की बीजशक्ति एवं परिणति है[2] या जब प्रपद्यवादी कवि केसरी कुमार कविता को 'दृक्वाक्यप्रणाली' कहते हैं और नलिन विलोचन शर्मा शब्द, ध्वनि एवं चित्र के संश्लेष से प्राप्त ऋचा, मंत्र के द्रष्टात्व के रूप में उसे व्याख्यात करते हैं, तब लगता है कि भर्तृहरि की मान्यताओं को नये संदर्भ में उदाहृत किया जा रहा है।

नाट्यशास्त्र-शिक्षाशास्त्र

काव्यगत शब्द-चिन्तन का चौथा आदिस्रोत आचार्य भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' है। इसी के साथ एक अन्य स्रोत भी विवेच्य है—तमिल के ज्ञात आद्याचार्य

---

1. शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।
   यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते॥
   शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
   छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत॥—वा० प०, 1/118, 120

2. "The essential power of the poetic word is to make us see, not to make us think or feel; thought and feeling must arise out of or rather be included in the sight, but sight is the primary consequence and power of poetic speech".,
   The Future poetry, p. 33.

तोलकाप्पियार कृत 'तोलकाप्पियम्', जो एक शिक्षाशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में काव्य-भाषा के विविध प्रश्नों का विवेचन उपलब्ध है। वैदिक वाङ्मय, षड्दर्शन तथा व्याकरण-दर्शन और नाट्यशास्त्र तथा तोलकाप्पियम् के दृष्टिकोण में मूलभूत अन्तर है। प्रथम वर्ग के शब्द-चिन्तन की मूल प्रेरणा दर्शन तथा भाषिकी है, जबकि दूसरे वर्ग का स्वारस्य भाषा का काव्य-संदर्भ है। इसीलिए नाट्यशास्त्र और तोलकाप्पियम् दोनों में काव्यगत शब्द-प्रयोग के गुण, कला और सौंदर्य का विधान किया गया है।

नाट्यशास्त्र

2·5·1. अभिनय वैसे किसी भाषिक माध्यम का मुहताज नहीं, किन्तु नाटक जब लिखे और मंचित किये जाएँगे तब नाट्यार्थ को अभिव्यक्ति प्रदान करने का एक प्रबल माध्यम भाषा भी होती है। भरत ने नाटक के अभिनय में भाषा के महत्त्व का विवेचन करते हुए कहा है :

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्येषा तनुः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि॥
वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग्धि सर्वस्य कारणम्॥

—ना० शा०, 15/2, 3.

अर्थात् नाटक में प्रयत्नपूर्वक शब्द-योजना की जानी चाहिए। शब्द ही नाट्यकला के व्यक्त कायारूप हैं। अभिनय के अन्यरूप यथा—आंगिक, आहार्य, सात्त्विक वस्तुतः शब्द के अर्थद्योतन के माध्यम मात्र हैं; क्योंकि विश्व में शास्त्रादि सभी कुछ के आधार शब्द ही हैं, शब्दों से परे कुछ भी नहीं। अपनी धारणा के अनुकूल भरत ने भाषा के व्याकरणिक पक्ष, छन्दोविधान, गुण, अलंकार, लक्षण और दोषों की विस्तृत समीक्षा की है। इस विवेचन में भरत की मूलभूत संप्रेरणा है काव्यबंध अथवा नाट्यबंध का सौंदर्यविधान।

2·5·2. वाचिक अभिनय में शब्दों के शुद्ध उच्चारण, प्रयोग तथा पाठ का अनिवार्य महत्त्व है। इसलिए पहले शब्दों के व्याकरणिक वर्गीकरण यथा—नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, तद्धित, समास, संधि तथा विभक्ति को पारिभाषित किया गया है। तत्पश्चात् काव्यगत शब्द-प्रयोग की विवेचना की गई।

भरत ने शब्द-प्रयोग की दृष्टि से पद के दो विभाग किये : गद्य-प्रयोग तथा पद्य-प्रयोग। गद्य-प्रयोग में पदों का शिथिल प्रयोग होता है, वे लययुक्त नहीं होते

और अनियत अक्षर होते हैं, जिनका लक्ष्य सिर्फ अर्थ-प्रदान करना होता है। किन्तु पद्य-प्रयोग के अन्तर्गत पदों का छान्दस् (Rhythmical) प्रयोग होता है, नियताक्षर प्रमाण से विभिन्न छंदों में बँधे वे अनेकविध अर्थवान् होते हैं। छन्द-विवेचन के क्रम में भरत ने काव्यगत शब्द-प्रयोग की चेतना का रहस्योद्‌घाटन किया है कि नियताक्षर प्रमाण से निर्मित विभिन्न वृत्त (छंद) का मूल शब्दगत है; क्योंकि वस्तुतः शब्द छंदविहीन अथवा छंद शब्दविहीन होते ही नहीं : छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति नच्छन्दः शब्दवर्जितः ।[1] काव्य में प्रयुक्त शब्द अनिवार्यतः छान्दस् होंगे, शब्द के लयात्मक काव्यगत प्रयोग की सम्भवतः यह पहली स्वीकृति है।

शब्द की लयात्मकता का विवेचन छन्दोविधान के अलावा संगीत के संदर्भ में भी विस्तार से आया है। 28 वें तथा 29 वें अध्याय में विवेचित संगीत सम्बन्धी नियमों के क्रम में ग्रह, अंश, जाति, स्वर, ताल, पद आदि का विस्तृत व्याख्यान किया गया है। यों ये विषय काव्यगत शब्द-चिन्तन से सीधे जुड़े हुए नहीं हैं, किन्तु प्रसंगवशात् यत्र-तत्र कुछ ऐसे सूत्र अवश्य मिलते हैं, जिनका उपयोग काव्यगत शब्द-प्रयोग के संदर्भ में भी किया जा सकता है :

(i) स्वर, ग्राम, अलंकार, वर्ण और जाति का कंठसंगीत में उपयोग सम्बन्धी विचार के क्रम में, संगीत के वाचिक पक्ष में, पुनः नाम, आख्यात आदि पदविभाग की चर्चा आई है और उन्हें निबद्ध (गीत) तथा अनिबद्ध (गद्य) होना बतलाया गया है (ना० शा०, 28/16, 17)।

(ii) गांधारी, कैशिकी, आर्षभी आदि जातियों के रसानुकूल प्रयोग सम्बन्धी विचार काव्यशास्त्र में विवेचित वृत्तियों की रसानुकूलता के समान हैं। काव्यशास्त्रीय चिन्तन में अन्तरानुशासन का बीज यहाँ देखा जा सकता है।

(iii) वर्ण और अलंकार के पारस्परिक अनुकूलन सम्बन्धी विवेचन महत्त्वपूर्ण है। 'वर्ण' यहाँ भाषिक अर्थ में नहीं, स्वरों के आरोह, अवरोह, स्थायी तथा संचारी रूपों के वाचक अर्थ में आया है। अलंकार को वर्णाश्रित कहा गया है : वर्णाश्चत्वार एवैते ह्यलङ्कारास्तदाश्रयाः (ना० शा० 29/14)। यहाँ गीति के सौन्दर्य विधायक तत्त्व को अलंकार कहा गया है, इसे वर्णालंकार, स्वरालंकार अथवा मूर्च्छनालंकार भी कहा जाता है। गीति में वर्णों के योग से सम्यक् अलंकार बोध[2] तथा भावोद्‌बोध[3] का होना बताया गया है।

---

1. ना० शा०, 15/41, 42.
2. ना० शा०, 29/21 (डॉ० मनमोहन घोष द्वारा संपादित)।
3. ना० शा० 29/19 (गायकवाड़ संस्करण)।

(iv) गीति के क्रम में 'अलंकार' शब्द, यों काव्यशास्त्रीय शब्दार्थालंकार का पर्याय नहीं, किन्तु उसके स्वरूप विवेचन में काव्यशास्त्रीय अलंकार-संप्रत्यय का भी यथेष्ट स्पष्टीकरण होता है। ये मूर्च्छनालंकार तैंतीस बतलाये गये हैं, जिनमें सम, निवृत्त, प्रवृत्त, आक्षिप्त, हसित आदि ऐसे नाम हैं, जिनका कम-से-कम नाम-साम्य ही परवर्ती काव्यशास्त्रीय अलंकारों में मिल जाता है। कहीं-कहीं तो साम्य की पहचान और दूर तक की जा सकती है। जैसे गीतिगत समालंकार की परिभाषा भरत ने इस प्रकार दी है—जहाँ स्वर निरन्तर एकस्तरीय हो तथा (अन्य अंगों में भी) सर्वसाम्य हो, वहाँ सम होता है।[1] इसके साथ काव्यशास्त्र में समालंकार का स्वतंत्र निरूपण करने वाले प्रथम आचार्य मम्मट द्वारा दिये गये लक्षण को मिलायें: समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् (का० प्र० 10/125)। भरत के 'सर्वसाम्य' और मम्मट की 'योग्यता' में विकासगत साम्य ढूँढा जा सकता है।

इन गीतिअलंकारों के निरूपण-क्रम में भरत ने अलंकार संबंधी एक ऐसी उद्भावना की है, जो बाद के अलंकारवादियों द्वारा पूर्णतः स्वीकृत हुई है। वे कहते हैं:

शशिना रहितेव निशा विजलेव नदी लता विपुष्पेव।
अविभूषितेव च स्त्री गीतिरलङ्कारहीना स्यात्॥
—ना० शा० 29/45.

अर्थात् अलंकारहीन गीत; चंद्रमारहित निशा, जलरहित नदी, पुष्पहीन लता तथा भूषणरहित स्त्री के समान होगा। अभिनवगुप्त ने इस कारिका के सिलसिले में दी गयी विवृत्ति के अन्तर्गत गीतिअलंकार की प्रकृति एवं उपयोगिता की अत्यन्त सार्थक व्याख्या की है। वे कहते हैं कि कारिका में आये चार दृष्टांतों के माध्यम से अलंकारों की क्रमशः चार कार्यदिशा की ओर संकेत किया गया है: कुछ अलंकार वर्णों को उज्ज्वल अर्थात् दीप्तिमान बनाते हैं, कुछ सूत्रबद्धता अर्थात् स्वरैक्य किंबा एकतानता प्रदान करते हैं, कुछ (अर्थ अथवा भाव) विकास करते हैं और रंजन अर्थात् मनोहारिता लाते हैं।[2] अभिनवगुप्त की वृत्ति से 'वर्ण' हटाकर 'काव्य'

1. ना० शा० 29/35 (गायकवाड़ संस्करण)।
2. कश्चिदलङ्कारो वर्णमुज्ज्वलयति कश्चित् सूत्रयति कश्चित् स (सु)विकासयति कश्चिद् रञ्जयतीति दृष्टान्तचतुष्केण सूचिता (तम्)
—ना० शा० 29/45, गायकवाड़ संस्करण, पृ० 92.

रख दें, तब अलंकार की उपर्युक्त 'कर्तव्यता' काव्यालंकार पर भी लागू होगी। इसलिए जब जयदेव ने कहा था कि 'अलंकारहीन शब्दार्थ को काव्य मानने वाले लोग अग्नि को तापरहित क्यों नहीं मानते ?" (चन्द्रालोक, 1/8) अथवा जब केशवदास ने अलंकारहीन काव्य के अस्तित्व से भी इनकार किया (कविप्रिया, 5/1) तब रसवादी आचार्यों ने व्यर्थ ही उनपर कटूक्तियों के प्रहार किये, इन धारणाओं के स्रोत तो स्वयं आचार्य भरत ही हैं।

(v) परवर्ती शब्द-चिन्तन में प्रयुक्त कई पारिभाषिक शब्द यथा ललित, उदात्त (ना० शा० 29/73); मार्ग (रीति, वृत्ति, ना० शा० 30/120) आदि के स्रोत प्राय: उन्हीं अर्थों में, नाट्यशास्त्र में देखे जा सकते हैं।

2·5·3. काव्य-दोष, काव्यगुण, काव्यालंकार तथा वृत्ति सम्बन्धी प्रारम्भिक निरूपण नाट्यशास्त्र में उपलब्ध हैं :

(i) भरत ने दस दोषों का निरूपण किया है : गूढ़ार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसंधि और शब्दच्युत। किसी वस्तु का किसी कल्पित पर्याय द्वारा कथन 'गूढ़ार्थ' है, अनावश्यक वर्णन अर्थान्तर', अप्रासंगिक एवं अपूर्ण उक्ति 'अर्थहीन', असभ्य एवं ग्राम्य कथन अथवा किसी अन्य अर्थ में विवक्षित शब्द-प्रयोग का अन्य अर्थ में निवेश 'भिन्नार्थ', एक ही अर्थबोध के लिए अनावश्यक तौर पर अनेक शब्दों का प्रयोग 'एकार्थ', वाक्य का छन्द के प्रत्येक चरण में ही पूरा हो जाना 'अभिप्लुतार्थ', तर्कहीन कथन 'न्यायादपेत', छन्दोभंग 'विषम', संधियोग्य शब्दों को भी पृथक् रखना 'विसंधि' तथा बीच में अश्लील शब्द का आ जाना शब्दच्युत दोष है (ना० शा० 17/87-93)।

(ii) दोषों के विपरीतधर्मी प्रयोग को भरत ने गुण कहा है, यद्यपि उनके द्वारा निर्दिष्ट काव्यगुण ही उनके निरूपित दोषों के पुंखानुपुंख विपर्यस्त नहीं हैं। भरत द्वारा निर्दिष्ट काव्यगुण भी वैसे दस ही हैं : श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदार तथा कांति। कवि के अभीष्ट अर्थ से परस्पर संबद्ध पद-प्रयोग 'श्लेष', सरल शब्द एवं अथ द्वारा अनुक्त शब्द एवं अर्थ का सहज बोध 'प्रसाद', अलंकार और गुण का परस्पर योग्य (अन्योन्य सादृश तथा सौन्दर्य विधायक होना 'समता', उपमादि अलंकारों से उपदिष्ट (व्यंग्य, Suggested) तथा प्राप्त अर्थों का यत्नपूर्वक अतिसंयोग 'समाधि', बार-बार कहे जाने अथवा सुने जाने पर भी वाक्य का उद्वेजक (थकान अथवा चिड़चिड़ाहट पैदा करने वाला) न होना 'माधुर्य', गीति की दृष्टि से हीन रचना (अति

सामासिक अथ वा विचित्र पदों से युक्त)[1] की भी शब्दार्थ-संपदा के कारण उदात्त भाव व्यंजकता 'ओज'; सुखपूर्वक उच्चरित शब्द-प्रयोग, सुग्रथित संधि और (अप्रिय-विषय होने पर भी) स्वीकार्य सुकुमार अर्थयुक्तता 'सौकुमार्य', पाठ किये जाते ही अर्थ का मानस-प्रत्यक्ष 'अर्थव्यक्ति', अनेक विशिष्ट अर्थों से युक्त सौष्ठवयुत शब्द-प्रयोग 'उदार' अथवा 'उदात्त, और श्रवण-सुखद तथा मनोहारी अर्थयुक्त शब्दबन्ध 'कान्ति' गुण है (ना० शा० 17/95–105)।

(iii) काव्यालंकारों की संख्या सिर्फ चार है : उपमा, दीपक, रूपक और यमक। उपमा की अनेक विधि हो सकती है—एक से एक उपमा, एक से अनेक की उपमा तथा अनेक से एक की, अनेक से अनेक की उपमा। उपमा के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं : प्रशंसा, निंदा, कल्पित, सदृशी और किंचित् सदृशी। वस्तुओं के तुल्य अवयव में विकल्प से ग्रहीत किंचित् सादृश्य (रूप सादृश्य) का विधान रूपक है। एक ही वाक्य में अनेक विषय से संबद्ध शब्दों का परस्पर (अर्थ) प्रदीपन के लिए संयोग 'दीपक' है। छन्द के पादादि तथा अन्यत्र भी शब्द की आवृत्ति 'यमक' है। यमक के दस प्रकार भरत ने बतलाये हैं : पादांत यमक, कांची यमक, समुद्ग यमक, विक्रान्त यमक, चक्रवाल यमक, संदष्ट यमक, पादादि यमक, आम्रेडित, चतुर्व्यवसित यमक तथा माला यमक। यमक को भरत ने 'शब्दाभ्यास' कहा है, इसदृष्टि से उपर्युक्त यमक प्रकारों के लक्षणों की जानकारी उपयोगी होगी। चारों चरणों के अन्त में समाक्षर शब्द का प्रयोग 'पादान्त', प्रत्येक पाद के प्रारम्भ तथा अन्त में दो-दो सम पद का प्रयोग 'कांची', एक ही पद समूह का एक ही अर्थ में दुहराये जाने पर छन्द की पूर्ति 'समुद्ग', उत्क्रिमित (Alternated) पादों में दो का (शब्द-प्रयोग की दृष्टि से) सदृश होना 'विक्रान्त', पूर्व चरण के अन्त में आये पद से बाद के चरण का प्रारम्भ (और क्रमशः ऐसा ही प्रयोग) 'चक्रवाल', चरणारम्भ के दो पदों का समान होना 'संदष्ट', चारों चरणों का प्रारम्भ समानाक्षर पद से होना 'पादादि', चरणों के अन्त में आवृत्तिमूलक दो पदों का प्रयोग 'आम्रेडित', चारों चरणों में समवर्ण समूह का प्रयोग 'चतुर्व्यवसित' और एक ही व्यंजन का अनेक स्वरों के साथ अनेक शब्दों में प्रयोग 'माला' यमक है (ना० शा० 17/43–83)।

---

1. भिन्न पाठ : सानुरागैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते।
समासवद्भिर्बहुभिर्विचित्रश्च पदैर्युतम् ॥

—ना० शा० (काशीसं०), 16/105।

(iv) वृत्तियाँ भी मूलत: भाषागत चिन्तना का परिणाम हैं, इसकी संपुष्टि भरत द्वारा प्रस्तुत वृत्तियों की उत्पत्ति सम्बन्धी पौराणिक कथा से हो जाती है। मधु-कैटभ से युद्ध के समय विष्णु के पदन्यास भार से 'भारती', शार्ङ्गधनुष के संचालन में श्रमरहित अतिशय सत्त्व (शक्ति) से 'सात्त्वती', विष्णु का अङ्गहार तथा लीला व्यापारों से शिखा बाँधने के प्रयत्न से 'कैशिकी' तथा युद्धकाल में विष्णु के भीषण प्रयत्न, आवेश, उत्तेजना आदि से 'आरभटी' वृत्ति निष्पादित हुई। शब्द-चिन्तन की दृष्टि से यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है कि विष्णु के विभिन्न युद्धप्रयत्नों की पृष्ठभूमि में निहित मन:स्थितियों को ब्रह्मा ने सम्यक् वाक्यरूप किंवा वाग्रूप दिया (ना० शा० 22/15)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वृत्तियाँ बुनियादी तौरपर मन: स्थितियों, मानसिक संवेगों तथा अंगचेष्टाओं की शब्दरूप प्रतिकृतियाँ अथवा अभिव्यक्तियाँ हैं। आचार्य भरत ने 'वृत्ति' को पारिभाषित करते हुए कहा भी कि वृत्तियाँ नाना भाव तथा रस की आश्रय हैं—वृत्तिसंज्ञा कृता ह्येषा नाना-भावरसाश्रया (ना० शा० 22/21)

नानाभावरसाश्रया वृत्तियों का इसीलिए भाव तथा रसगर्भित नियोजन की बात कही गयी है : श्रृंगार तथा हास्य रस एवं तत्सम्बद्ध मनोभावों की अभिव्यक्ति के 'कैशिकी', वीर अद्भुत तथा सम्बद्ध मनोभाव के लिए 'सात्त्वती' भयानक, बीभत्स, रौद्र तथा तत्सम्बद्ध मनोभाव के लिए 'आरभटी' और करुण, अद्भुत तथा तत्सम्बद्ध मनोभाव के लिए 'भारती' वृत्ति के प्रयोग की व्यवस्था भरत ने दी है (ना० शा० 22/63,64)। इन वृत्तियों का सम्बन्ध सम्पूर्ण अभिनय : वाचिक, सात्त्विक, आहार्य से है, जिनमें निश्चय ही प्रधानता वागभिनय की है, क्योंकि वाक् ही रचनाकार, अभिनेता तथा सहृदय के सम्यक् संस्कार को उपस्था-पित करती है। इसी दृष्टि से भरत ने नाटक के प्रभाव के व्याघातों में पुनरुक्ति, सामासिक शब्दों का हीन उच्चारण, विभक्तियों का अशुद्ध प्रयोग, विसन्धि, अयोग्य शब्दों का इस्तेमाल, लिंग का अशुद्ध प्रयोग, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अर्थ में विभ्रम, त्रुटि-पूर्ण छन्दोविधान, लघु-गुरु स्वर का गलत प्रयोग आदि भाषिक पक्ष पर विशेषबल दिया है (ना० शा० 27/30-31)।

(v) दोष, गुण, अलंकार तथा वृत्ति के विवरणों का शब्द-चिंतनगत वास्त-विक महत्त्व उनके सम्यक् प्रयोग सम्बन्धी निदेशों में है। ये दोष, गुणादि अपने-आप में कुछ नहीं, उनका मूल्य वस्तुतः भावोद्बोध तथा भावबोध अथवा रस के सन्दर्भ में है। काव्य में शब्द (वर्णसमूह तथा अर्थ) का प्रयोग संदर्भहीन तो होता नहीं, अन्ततः वे मन:संवेगों तथा आत्मभाव की वाग्रूप अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनका

वर्गीकरण गुणालंकारादि प्रकारों में किया जाता है। इस दृष्टि से भरत-सम्मत औचित्य-नियमन द्रष्टव्य है : वीर, रौद्र तथा अद्भुत भावों की अभिव्यक्ति में प्रायः लघु अक्षर तथा उपमा-रूपक का प्रयोग; करुण, बीभत्स में प्रायः गुरु अक्षर जिनका प्रयोग रौद्र तथा वीर मनोभावों के क्रम में भी किया जा सकता है, शृंगार में मृदुवृत्त का प्रयोग; लघु, गुरु तथा प्लुत स्वरों का मनोभावों के आश्रित तथा प्रयोग; मनोभावों के अनुरूप छन्द जैसे वीर, भयानक के लिए आर्या आदि ऐसे ही निर्देश हैं (ना० शा० 17/106-121)। इनके अतिरिक्त काकुविधान (स्वरारोहावरोह) के क्रम में उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलम्बित भेदों को पाठ अथवा वाचनमूलक अलंकार कहा गया है तथा इन्हें भावानुरूप अक्षर-प्रयोग के साथ जोड़ा गया है, विरामादि की भाव्यंजकता की व्याख्या तथा सर्वत्र भावानुरूप कला, ताल और लय का नियमन बतलाया गया है।

2.5.4. वागभिनय के अन्तर्गत आचार्य भरत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण निरूपण 'काव्य-लक्षण' है। 'काव्यलक्षण' को उन्होंने 'काव्यबन्ध शोभाकर' कहा है।[1] लक्षण को साहित्यशास्त्र की एक सम्भावित प्राचीन शाखा मानते हुए डॉ० राघवन ने कहा है कि अलंकार की तरह लक्षण भी कदाचित् सर्वमान्य काव्यसिद्धांत रहा होगा। लक्षण-विवेचन को ही कभी सर्वोपरि मान्यता मिलती रही होगी, क्योंकि तब अलंकारों की संख्या अत्यल्प थी, लेकिन धीरे-धीरे अलंकारशास्त्र की महत्ता में वृद्धि के साथ ही 'लक्षण' की परम्परा लुप्त होती गयी।[2]

भरत द्वारा निरूपित छत्तीस काव्यलक्षण इस प्रकार हैं :[3] भूषण, अक्षर-संघात, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शना, निरुक्त, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, गुणातिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, दिष्ट, उपदिष्ट, विचार, विपर्यय, भ्रंश, अनुनय, माला, दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, पृच्छ, सारूप्य, मनोरथ, लेश, संक्षोभ, गुण-कीर्तन, अनुक्तसिद्धि और प्रियवचन।

इन काव्य लक्षणों को भरत ने पारिभाषित तो किया है, पर उदाहरण नहीं दिये हैं, फलतः कई स्थलों पर लक्षण का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। फिर भी तत्कालीन शब्द-चिंतन की दृष्टि से सिर्फ परिभाषा का भी यथेष्ट महत्त्व है :[4]

---

1. ना० शा०, 17/42।
2. द हिस्ट्री ऑफ लक्षण, सम् कॉन्सेप्ट्स ऑफ अलंकारशास्त्र, पृ० 1-2.
3. (i) ना० शा०, 17/1-5. (ii) लक्षण के विविध निर्वचनों के लिए देखें अध्याय-4 में अभिनवगुप्त सम्बन्धी अंश।
4. ना० शा० 17/6-41.

भूषण : आभूषण की तरह (अतिरिक्त सौंदर्य लाने की दृष्टि से) अलंकारों तथा गुणों का विन्यास करना तथा इस रूप में (रचना को) समलंकृत करना,

अक्षर संघात : अल्प अक्षरों (अथवा शब्दों) के श्लिष्ट प्रयोग से ही अद्भुत अर्थ-नियोजन,

शोभा : श्लिष्ट एवं विशिष्ट अर्थ-नियोजन के लिए सिद्ध अर्थ के साथ-साथ किसी आसिद्ध अर्थ का प्रयोग,

उदाहरण : किसी प्रयोजन विशेष की व्यंजना (अभिप्रदर्शन) के लिए निपुण (कवियों) द्वारा तुल्यार्थ वाक्यों का प्रयोग,

हेतु : समासोक्ति से युक्त शब्द-प्रयोगकौशल के बल पर मनोग्राही इष्टार्थ की सिद्धि करने वाला वाक्य-प्रयोग,

संशय : अनेक विचारों के कारण, वाक्य-समापन के बाद भी तत्त्वार्थ का अपरिज्ञात रह जाना,

दृष्टान्त : पक्षार्थ को पुष्ट करने वाला हेतु-निदर्शक मनोग्राही नियोजन,

प्राप्ति : अवयव (अंग, खण्ड, अंश अथवा सूचना) देखकर ही किसी भाव (स्थिति, मनोभाव) का अनुमान,

अभिप्राय : (वस्तुओं में) सादृश्य के माध्यम से अभूतपूर्व (असिद्ध) किंतु लोक-हृदयग्राही अर्थ की परिकल्पना,

निदर्शन : विपक्षी के मत के खण्डन के लिए किसी प्रसिद्ध अर्थ (उदाहरण) की प्रस्तुति,

निरुक्त : किसी आपत्तिहीन पूर्वकथन की पुष्टि में अतिरिक्त शब्द-प्रयोग,

सिद्धि : अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिए अनेक उपर्युक्त नामों का प्रयोग,

विशेषण : अनेक प्रसिद्ध तथा महान वस्तुओं (अर्थों) के कथन के बाद (उनकी तुलना में किसी वस्तु के अलगाव के लिए) विशेष वचन का प्रयोग,

गुणातिपात : किसी वस्तु के वर्णन में, मधुर शब्दों में गुणवाचक अभिधानों का ऐसा प्रयोग कि जिससे वस्तुतः विपरीत अर्थ निकलता हो,

अतिशय : (किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के वर्णन में) सामान्यतः सम्भव गुणों के कथन के बाद (वर्ण्य के) कुछ विशिष्ट गुणों का कथन,

तुल्य तर्क : रूपक तथा उपमा के माध्यम से, सामान्यतः अविश्वसनीय अर्थ की (तुल्यार्थ सामर्थ्य से) प्राप्ति,

पदोच्चय : सदृश अर्थ की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त अनेक पदों के साथ-साथ अन्य अनेक पदसमूह का (उसी अर्थ में) प्रयोग,

दिष्ट : किसी प्रत्यक्ष देखी अथवा न देखी गयी घटना अथवा विषय का देश-काल के अनुरूप (विश्वसनीय) वर्णन,

उपदिष्ट : कथन के अन्त में (सुभाषित के तौर पर) शास्त्रानुकूल वचन, जो लोगों (विद्वानों) को प्रिय लगे,

विचार : (कथित) पूर्वाशय की पुष्टि तथा शंकाओं एवं त्रुटियों को नष्ट करने वाला अप्रत्यक्षार्थ (जिसे प्रत्यक्ष अनुभव न किया गया हो, वैसे अर्थ) को भी सिद्ध करने वाला कथन,

विपर्यय : वस्तु के भिन्न निर्वचन के कारण (विमर्श-विस्तार के लिए) (मौजूदा) विचार अथवा भाव में संदेह पैदा कर देना,

भ्रंश : (किसी उत्तेजना अथवा आवेग के कारण) कथन तथा कथन के लिए शब्द-प्रयोग में अनेक प्रकार से च्युति,

अनुनय : दो परस्पर विरोधी मत के व्यक्तियों को प्रसन्न करने तथा उससे किसी अभिप्राय की सिद्धि के लिए कथन,

माला : ईप्सित अर्थ की सिद्धि के लिए (अपने) अनेक प्रयोजनों का कथन,

दाक्षिण्य : अनुकूल चेष्टा, प्रियवचन तथा प्रसन्नमुख प्रस्तुति,

गर्हण : गुणों का अवगुणरूप में तथा अवगुण का गुणरूप में वर्णन,

अर्थापत्ति : अन्य अर्थ में कथित माधुर्ययुक्त वचन से अन्य अर्थ की प्रतीति,

प्रसिद्धि : लोक में सुप्रसिद्ध अनेक अर्थों से युक्त, प्रसादन करने वाली अतिशयोक्ति,

पृच्छ : विभिन्न अंग-भंगिमा से स्वयं अथवा अन्य से प्रश्न का पूछा जाना,

सारूप्य : (किसी वस्तु के) देखने, सुनने अथवा अनुभव करने के क्रम में उत्पन्न उत्तेजक (अन्य वस्तु से) सादृश्यबोध,

मनोरथ : अन्यापदेश (किसी अन्य व्यक्ति अथवा वस्तु के सम्बन्ध में) कथन के माध्यम से मन की बात कह जाना,

लेश : वाक्पटु व्यक्ति द्वारा अपने अभिप्राय की सिद्धि के लिए साभिप्राय विदग्ध वाक्य-प्रयोग,

संक्षोभ : निर्दोष होने पर भी दूसरे के दोषों का स्वयं पर अथवा किसी अन्य निर्दोष (व्यक्ति अथवा वस्तु) पर आरोप-कथन,

गुणकीर्तन : लोकप्रसिद्ध गुणों का एक (व्यक्ति अथवा वस्तु) में नियोजन,

अनुक्तसिद्धि : प्रस्ताव (अथवा प्रारम्भिक कथन) द्वारा ही शेष अभिप्राय की (बिना कहे ही) सिद्धि का वर्णन,

प्रियवचन : पूज्य व्यक्ति के अभिनन्दन में, प्रसन्न बुद्धि से, प्रियकथन।

उपर्युक्त लक्षण मूलत: शब्द-प्रयोग के प्रारम्भिक मानदंड हैं, साथ ही इन्हें काव्य-प्रविधि का सूचक भी माना जा सकता है। उनमें कुछ तो वक्रोक्तिमूलक हैं, कुछ अलंकारमूलक; कुछ का सम्बन्ध काव्यगुण से है, कुछ का पाठ-भंगिमा से और कुछ जैसे—भ्रंश, अनुनय, दाक्षिण्य, पृच्छ तथा सारूप्य स्पष्टत: मंचीय अभिनय से जुड़े हैं। इस प्रकार 'लक्षण' नाटक के पाठ, वागभिनय तथा काव्योत्कर्ष के मानदंड से जुड़े प्रतीत होते हैं।

कुल मिलाकर 'लक्षण' प्रकारान्तर से भरत के सम-सामयिक समस्त काव्यगत शब्द-चिन्तन और कवि-व्यापार सम्बन्धी सिद्धान्त को उदाहृत करते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि गुण, अलंकार आदि बुनियादी तौर पर शब्द-चिन्तन के ही विविध आयाम हैं। भट्ट तौत ने 'लक्षण' को अलंकारों का बीज माना है। उनका स्पष्ट मत है कि लक्षण के कारण ही अलंकारों में वैचित्र्य आता है। उनके मतानुसार अनेक अलंकारों का बीज लक्षण तथा उनके संश्लेष में है, जैसे गुणानुवाद के योग से उपमा अतिशय से अतिशयोक्ति, मनोरथ से अप्रस्तुतप्रशंसा आदि।[1] स्वयं अभिनवगुप्त लक्षण को समस्त अलंकार-वर्ग के बीजरूप—चमत्कार और वैचित्र्य प्रदान करने वाली 'वक्रोक्ति' का रूप मानते हैं।[2] इतना ही नहीं उनकी दृष्टि में लक्षण का विषय कवि-व्यापार अथवा अभिधा-व्यापार है, जिसके तीन पक्ष हैं—रस, गुण और अलंकार।[3] कवि-व्यापार से तात्पर्य है कवि के आत्मभाव का उसकी प्रतिभा के अनुरूप शब्दार्थरूप आविर्भाव।

---

1. डॉ० राघवन कृत 'सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ अलंकारशास्त्र', पृ० 12.
2. उपरिवत्, पृ० 18.
3. एवमर्थस्यापि यद्रसाभिव्यक्तिहेतुं सोऽर्थगुण:। यस्तु वस्त्वन्तर वदनस्येव चन्द्र, सोऽलंकार:। यस्तु त्रिविधोऽप्यभिधाव्यापार: स लक्षणानां विषय:। उपरिवत्, पृ० 20.

आचार्य भरत ने लक्षण को वागभिनय के शोभाधर्म के अंगरूप में निरूपित कर उन्हें काव्यबंध अथवा प्रबंध का अलंकार कहा था, किन्तु बाद की काव्यशास्त्रीय परम्परा में 'अलंकार' काव्य के शोभाधर्म के रूप में स्वीकृत हुआ। नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ-परम्परा में भी 'लक्षण' किसी महत्त्वपूर्ण वागभिनय-सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत नहीं हो सका। धनंजय ने यह कहकर के ये (लक्षण) या तो भाव हैं या अलंकार या संध्यंगों में अन्तर्मुक्त, लक्षणों का निरूपण ही नहीं किया।[1] भोज, शारदातनय, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने लक्षण को नाटक के 'अलंकार' के रूप में सीमित कर दिया। समस्त काव्यशास्त्रीय परम्परा में या तो अभिनवगुप्त ने 'लक्षण' की व्याख्या की या फिर जयदेव ने—चंद्रालोक में इनमें से कुछ का विवेचन काव्य-संदर्भ में किया गया है।[2]

2.5.5. काव्य से आचार्य भरत का मन्तव्य काव्य (श्रव्य) से है अथवा नाटक से, इस सम्बन्ध में भी मतभेद हो सकते हैं। डॉ० मनमोहन घोष ने काव्य का अर्थ दृश्यकाव्य अथवा नाटक माना है (देखिए : नाट्यशास्त्र, अंगरेजी अनुवाद, पाद-टिप्पणी, पृ० 297), तो डॉ० राघवन का स्पष्ट मत है कि लक्षण-निरूपण के संदर्भ में प्रयुक्त 'काव्य' शब्द से भरत का तात्पर्य निश्चय ही सिर्फ नाट्यरचना नहीं, बल्कि काव्य मात्र है (देखिए : सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ अलंकारशास्त्र, पृ० 2)। शब्द-चिन्तन की दृष्टि से इस मतवैभिन्न्य का कोई महत्त्व नहीं। इतना तो स्पष्ट है कि 'लक्षण' के रूप में रचनाकार के भाषिक अथवा अभिनवगुप्त की शब्दावली में कहें तो कवि के अभिधा-व्यापार किंवा कवि-व्यापार सम्बन्धी प्रारम्भिक ऊहापोह का विस्तृत प्रस्तुतीकरण आचार्य भरत ने किया है, जिसके गम्भीर एवं व्यापक प्रभाव परवर्ती शब्द-चिन्तन पर पड़ा है। बहुत सम्भव है कि आचार्य भरत ने इन 'लक्षणों' का संकलन अपने समय तक के काव्य और उसकी विशिष्ट शब्द-प्रयोगरीति को जाँच कर किया हो। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका अतिरिक्त महत्त्व यह भी है कि 'लक्षण' दर्शनशास्त्र तथा व्याकरणशास्त्र से पृथक् काव्यगत शब्द-चिन्तन का प्रथम उपलब्ध सिद्धान्त है। सम्भव है शब्द-चिन्तन का यह नाट्य-काव्य संदर्भीय रूप भरत से भी प्राचीन रहा हो, और ऐसा नहीं मानने का फिलहाल कोई तर्कपूर्ण आधार भी नहीं है।

---

1. दशरूपक, सं० डॉ० भोलाशंकर व्यास, 4/84.
2. (i) डॉ० राघवन, 'सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ अलंकारशास्त्र', पृ० 6.
   (ii) डॉ० सुशील कुमार डे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, भाग-2 पृ० 4.

तोलकाप्पियम्[1]

तोलकाप्पियम् तमिल का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है, जो मूलतः है तो व्याकरण-ग्रन्थ, किन्तु इसका तृतीय अध्याय 'पोरूलल' वस्तुतः कविशिक्षाशास्त्रीय अंश है। इसके अतिरिक्त काव्य-चिन्तन सम्बन्धी अन्य संकेत भी मिलते हैं।

2·6·1. तमिल में छन्द का पर्यायवायी शब्द 'शेय्युल' है, जिसके अन्य अर्थ हैं रचना, काव्य और पद्य। तोलकाप्पियम् में 'शेय्युल' के 34 तत्त्वों का विस्तृत निरूपण किया गया है, जिनमें रूढ़ि या-समय (मरपु), अनुप्रास (तोडै), प्रयोजन (पयन), संकेत (एच्चम), गंभीर या सरल भाव के उपयुक्त अभिव्यक्ति-शैली से युक्त वाक्य-रचना-विशेष (माट्टू), अन्वय (नोक्कु), प्रकृति-विभाजन (तिणै), स्थान (कलन), प्रेम-व्यापार (कैक्कोल), समय (कालम) भावानुभाव (मेय्यपाड़ु), प्रसंगोचित कथन (मुन्नम), सम्यक् वर्णन अथवा पद्धति (तुरै), कोमल शब्दों से पूर्ण रचना (अम्मै), अनेक गुणों से युक्त काव्योचितभाषा (प्रौढ़ शैली) में की गयी रचना (अलकु), गद्य-पद्य मिश्रित रचना (तोन्मै), उत्तम वस्तु का प्रौढ़ शैली में वर्णन (तोल), अद्भुत एव नवीन कल्पना (विरंदु), पद्यों के अन्त में ञ, ण, न, म, य, र, ल, व, क, त, ड़, इन ग्यारह कोमल ध्वनियों से युक्त रचना (इयैबु), बोलचाल की शैली में की गयी रचना (पुलन) और सघोष वर्णों से रहित तथा गेय शैली में की गयी रचना (इलैबु) प्रकारान्तर से काव्य तथा उसके भाषिक पक्ष सम्बन्धी चिन्तन के उदाहरण हैं। अक्षर को छन्द की मूल इकाई माना गया है। इनमें से अधिकांश सामग्री कविशिक्षा से सम्बद्ध है। स्पष्ट है कि लोलकाप्पियम् की छन्द-अवधारणा

---

1. तमिल लक्षण-ग्रन्थों का प्रारम्भ अगस्त्य विरचित 'अगत्तियम्' से होता है, किन्तु अब वह अप्राप्य है। तोलकाप्पियम् के रचयिता तोलकाप्पियर उन्हीं अगस्त्य के शिष्य कहे जाते हैं। तोलकाप्पियम् का रचनाकाल लगभग ईसापूर्व चौथी शताब्दी माना जाता है। ध्यातव्य है कि तमिल-साहित्य संस्कृत साहित्य की ही तरह प्राचीनतर है। तोलकाप्पियार को तमिल का एकमात्र लक्षणकार कहा जाता है; क्योंकि अनेक काव्य-तत्त्वों को लेकर अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये, लेकिन कहीं भी तोलकाप्पियर की मान्यताओं का खंडन नहीं मिलता। 10वीं शताब्दी से संस्कृत काव्यशास्त्र का, विशेषतः आचार्य दण्डी के माध्यम से प्रभूत प्रभाव पड़ने लगा। 12वीं शती में संस्कृत-काव्यशास्त्र से प्रभावित लक्षणग्रन्थ लिखे जाने लगे, जिनमें 'पन् निरुपाट्टियल', गुणवीर पंडित कृत 'वेण्बापाट्टियल', नवनीत नटनार कृत 'नवनीत-प्-पाट्टियल', परम ज्योति कृत चिदम्बर-प्-पाट्टियाल' आदि प्रमुख हैं। विशेष विवरण के लिए देखें: डॉ० न० व० राजगोपालन कृत 'तमिल और हिन्दी काव्यशास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन' तथा श्री पूर्ण सोमसुन्दरम् कृत 'तमिल और उसका साहित्य'।

वर्ण या मात्राविचार तक सीमित नहीं, बल्कि शेय्युल एक प्रकार से काव्य की क्रियाविधि की अवधारणा प्रस्तुत करता है। शेय्युल के इन तत्त्वों पर संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता; हाँ ! नाट्यशास्त्र से (वह भी ग्रन्थ रूप में नहीं, परम्परा रूप में)[1] पारस्परिक आदान-प्रदान की संभावना हो सकती है। स्पष्ट है कि शेय्युल के तत्त्व काव्यगत दाक्षिणात्य शब्द-चिन्तन के प्रारम्भिक उदाहरण हैं।

2·6·2. अभिव्यक्ति की तीन विशेषताओं का प्रकारान्तर विवेचन तोलकाप्पियम् में मिलता है—उपमा (ध्वनित तथा अन्य), गम्य अर्थ और इरैच्चि ।

1. उपमा का विस्तृत विवेचन तोलकाप्पियम् में आया है। 36 उपमा सूचक शब्दों की सूची देने के बाद परम्परानुसार अन्य शब्दों की उपमावाचकता की संभावना भी मानी गई है। उपमा के क्रिया, फल, रूप और रंग (गुण) के आधार पर चार भेद कहे गये हैं। उपमा के बीजतत्त्व के रूप में उत्कर्ष, सुरूप, आकर्षण तथा दृढ़ता (साम्यगत) की चर्चा आई है। उपमा-नियोजन के काल-स्थान-पात्रगत औचित्य की विस्तृत व्यवस्था की गयी है। डॉ० न० वि० राजगोपालन के अनुसार तोलकाप्पियम् के टीकाकारों ने क्रिया, फलादि नेत्रगम्य प्रकारों के अतिरिक्त श्रवणगम्य, नासिकागम्य, स्पर्शगम्य, रसनागम्य और मनोगम्य उपमाएँ भी मानी हैं जैसे : श्रवणगम्य–कोयल के समान वाणी, नासिकागम्य–कमलगन्ध से युक्त अधर, स्पर्शगम्य—अग्नि के समान उष्ण, रसनागम्य–नीम के समान कड़ुआ और मनोगम्य पुण्यकर्मभोग के समान किसी तरुणी का समागम। उपमा के विवेचन से डॉ० न० वि० राजगोपालन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि तोलकाप्पियम् में निरूपित उपमा–प्रकारों में रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रांतिमान्, संदेह, रूपकातिशयोक्ति, उदाहरण, व्याजस्तुति, यथासंख्या, उपमेयोपमा, रसवदलंकार आदि बाद में निरूपित अर्थालंकार भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है। सामान्य अथवा अन्योपमा की परिभाषा भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। तोलकाप्पियम् में कहा गया है कि जो (पाठक के द्वारा) मन से अनुभूयमान न होकर (कवि के) कथित शब्दों के सहारे अपने आप प्रकाशमान हो वह प्रकटोपमा है। स्पष्ट है कि उपमा में उपमेय-उपमेय का आधारकल्प कवि का व्यापार है, शब्द-व्यापार है, पाठक का नहीं। प्रकारान्तर से यहाँ सर्जन-प्रक्रिया में शब्द की भूमिका देखी जा सकती है।

---

2. नाट्यशास्त्र का रचनाकाल भी ईसापूर्व 500 वष माना जाता है। विशेष विवरण के लिए देखें: नाट्यशास्त्र की संपादकीय भूमिका, डॉ० मनमोहन घोष।

'जहाँ पर उपमा आलोचना या विचार से गम्य होती है,' वहाँ ध्वनितोपमा माना गया है। डॉ० न० वि० राजगोपालन के अनुसार यह अधिकार-क्षेत्र अन्योक्ति, पर्यायोक्ति, वक्रोक्ति तथा ध्वनिकाव्य का है।

(ii) गम्य अर्थ के पाँच भेद बताए गये हैं : सहावस्थान, ध्वनितोपमा, संकेत, हास, और विशेषाख्यान। डॉ० न० वि० राजगोपालन के अनुसार दो वस्तुओं के सहावस्थान के वर्णन से किसी अन्यार्थ का प्रकट होना 'सहावस्थान गम्यार्थ' है, किसी वस्तुनिर्देश के माध्यम से किसी भाव का संकेत कर देना 'संकेत' है, हास के द्वारा किसी भाव को प्रकट करना 'हास' और 'इस वस्तु से यह उत्तम है' —यह कहकर अपने किसी मनोभाव को प्रकट करना विशेषाख्यान है।

(iii) इरैच्चि के दो विषय बतलाये गये हैं : मुख्यार्थ की अपेक्षा गौण अन्य अर्थ का द्योतन, तथा वर्णित वस्तु से अन्य तुल्यार्थ का द्योतन। डॉ० न० वि० राजगोपालन ध्वनिकाव्य के विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि तथा अविवक्षितवाच्य ध्वनि भेदों को इरैच्चि का अधिकार-क्षेत्र मानते हैं।

2·6·3. तोलकाप्पियम् में छन्द (काव्य) के अक्षर-विन्यास (तोड) की यथेष्ट चर्चा की गयी है :

मोनै : चरणों आद्यक्षर का होना,

एदुकै : प्रत्येक चरण के द्वितीयाक्षर का एक होना,

मुरण् : विरुद्ध (अर्थ अथवा शब्दगत) शब्दों का रखा जाना,

इयैबु : प्रत्येक चरण का अन्तिम अक्षर का एक होना।

ये व्यवस्थाएँ वस्तुतः अनुप्रास के रूप हैं।

2·6·4. तोलकाप्पियम् में दोषों का विवेचन भी आया है। उनकी संख्या दस है : पुनरुक्ति, अन्यथा कथन, अपूर्ण कथन, अधिक कथन, निरर्थक कथन, भ्रमपूर्ण कथन, असंगत छंद प्रयोग, अप्रयोजनीय संकेत-प्रयोग, कुछ विवक्षा करके अन्यथा कथन और सब प्रकार से अस्पष्ट कथन।

काव्यगुणों का निरूपण नहीं किया गया है। डॉ० न० वि० राजगोपालन के अनुसार उक्त दोषों का अभाव ही काव्यगुण है, यह तोलकाप्पियर का दृष्टिकोण है, इसीलिए कहा गया कि दस दोषों से हीन काव्य ही उत्तम माना जायगा।

इस प्रकार तोलकाप्पियम् में छंदों-विधान, अलंकार, गम्यअर्थ, इरैच्चि, तोड (अनुप्रास), काव्य-दोष आदि का निरूपण उपलब्ध है। ये निरूपण वस्तुतः दाक्षिणात्य शब्द-चिन्तन के ही रूप हैं, जिसमें सुसंबद्ध वर्गीकरण का अभाव है। भरत के नाट्यशास्त्र में भी इसी प्रकार काव्यलक्षणों का सुसम्बद्ध वर्गीकरण नहीं

मिलता। तोलकाप्पियम् और नाट्यशास्त्र की यह निरूपण-पद्धति प्रारम्भिक संकलन-प्रवृत्ति अथवा तरल संप्रत्यय का परिणाम है। ईसापूर्व का वह काल शब्द-चिन्तन सम्बन्धी तरल सम्प्रत्यय का काल था, जब काव्य-पाठ के समस्त वैशिष्ट्य के एक-स्थानिक संकलन मात्र प्रस्तुत किये जा सके। पर इतना तो निभ्रांत रूप से कहा जा सकता है कि ये संकलन परवर्ती काव्यशास्त्रीय प्रस्थानों के आदिस्रोत हैं।

पुराण, काव्य, शिलालेख आदि

2·7·1. ऋग्वेद में एक स्थान पर शब्द-चयन की प्रक्रिया पर विचार आया है। दसम् मंडल, छठे अध्याय के 71 वें सूक्त का देवता ही 'ज्ञान' है। सामान्य और मेधावी व्यक्ति के शब्द-चयन में बहुत अंतर होता है। सामान्य जन निरर्थक वाणी का प्रयोग करता है या समझ, देख-सुनकर भी शब्द को समझने, देखने या सुनने का प्रयत्न नहीं करता। किन्तु मेधावी जन (और कवि भी इसी कोटि का व्यक्ति है), अपने बुद्धिबल से (नियोजन बल से) शोधित भाषा का प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा-शोधन अथवा शब्द-चयनप्रक्रिया वैसी ही होती है, जैसी सूप से सत्तू अथवा जई (आदि अन्न) का शोधन अथवा चयन की प्रक्रिया होती है। ऐसे ही शोधित शब्द से अर्थद्योतन होता है, ऐसी ही वाणी का अर्थ अन्य समान भद्रजन ग्रहण कर पाते हैं और ऐसी ही वाणी गौरवास्पद (श्रीयुक्त) होती है :

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय: सख्य नि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

यहाँ वाक् की सर्वबीजरूपता की व्याख्या के साथ-साथ काव्यगत शब्द-चयन प्रक्रिया का, आनुषंगिक ही सही, सम्यक् उल्लेख है। स्वयं 'सूक्त' शब्द संभवत: सुन्दर उक्ति अथवा सूक्ति का ही पर्यायवाची है और काव्य की प्रथम परिभाषा भी। विदग्ध शब्द-चयन वाली सुन्दर उक्ति के रूप में 'सूक्ति' काव्य के व्यच्छेदक तत्त्व की पहली पहचान है। स्पष्ट ही अन्य पुराण काव्यादि ग्रन्थों में भी ऐसे आनुषंगिक चिन्तनमूलक उल्लेख की परम्परा रही है।

2·7·2. पुराणों में अग्निपुराण तथा विष्णुधर्मोतर पुराण ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें काव्य-शास्त्रीय चिन्तन की विपुल सामग्री उपलब्ध है। किन्तु अग्निपुराण को, विद्वानों ने बहुत बाद की रचना माना है, 7 वीं शती के बाद की रचना, जिसका काव्यशास्त्रीय भाग तो और भी बाद में—सन् 900 से 1050 ई० के बीच लिखा गया।[1]

1. डॉ० पांडुरंग वामन काणे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 9.

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

2·7·3. यह 4थी से 6ठी शताब्दी के मध्य संकलित[1] ग्रन्थ माना जाता है। इसके तीसरे कांड के अध्याय–18, 19, 32 और 36 में गीत, नाट्य, चित्र तथा काव्य-सम्बन्धी सामग्री हैं, सामूहिक रूप से इन्हें चित्रसूत्र कहा गया है। कलाओं के अध्ययन में अन्तरानुशासन की उपयोगिता का पहली बार विवेचन यहाँ मिलता है। अध्याय–2 में कहा गया है कि नृत्तशास्त्र के अध्ययन के बिना प्रतिमालक्षण, वाद्य-संगीत के बिना नृत्त तथा गीत के बिना वाद्य-संगीत का ज्ञान सम्भव नहीं : विनातु नृत्तशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्। ···आतोद्येन विना नृत्तं विद्यते न कथंचन। न गीतेन विना शक्यं ज्ञातुमातोद्यमप्युत। गीत के लिए भाषा और अलंकार का ज्ञान अनिवार्य है। भाषापक्ष में वाक्य-परीक्षा की चर्चा आई है। पूरी प्रक्रिया न्याय-पद्धतिसम्मत है: प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तवाक्यरूप प्रमाणों तथा स्मृति, उपमान और अर्थापत्ति के रूप में अर्थ-प्रक्रिया का निरूपण है। 15वें अध्याय में शास्त्र तथा इतिहास से काव्य का अन्तर प्रतिपादित किया गया है। काव्य उपदेश से रहित एवं रस-समन्वित होता है : तदेव काव्यमित्युक्तमुपदेशैर्विना कृतम्, रसैः कार्यं समन्वितम्। गीत तत्त्व के अन्तर्गत अनुप्रास, यमक (संदष्टक तथा समुद्गा), उपमा, रूपक, व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, उपन्यास (व्याजोक्ति का एक रूप), अर्थान्तरन्यास, विभावना, अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, यथासंख्य, विशेषोक्ति, निन्दास्तुति, निदर्शना, अनन्वय और विरोध का सलक्षण निरूपण किया गया है।

महाभारत

2·7·4. शान्तिपर्व में 24 गुणों की चर्चा है, जिसमें नौ वैशेषिक गुण हैं, शेष पन्द्रह गुणरूप शब्द-चिन्तन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं : वे इस प्रकार हैं :

उपेतार्थ—सम्पूर्ण वाक्यत्वरूप अर्थव्यक्ति,
अभिन्नार्थ—प्रसिद्ध अर्थवाले पदों का प्रयोग,
न्यायवृत्त—श्लाघ्य विशेषणों का प्रयोग,
अनधिक—संक्षिप्त किन्तु संश्लिष्ट प्रयोग,
श्लक्ष्ण —मृदु एवं श्लिष्ट प्रयोग,
असंदिग्ध—स्पष्ट अर्थ के लिए पृथक् पदों का प्रयोग,
गुर्वक्षर संयुक्त विपर्यय—सुकुमार अक्षर प्रयोग,
पराङ्मुख सुखकर विपर्यय—अग्राम्यत्व,

1. डॉ॰ सुशील कुमार डे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ॰ 97; डॉ॰ काणे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ॰ 67.

अनृत-विपर्यय—मिथ्यावचन का अभाव,
त्रिवर्ग विरुद्ध विपर्यय—प्रेय, औचित्य,
असंस्कृत विपर्यय—भङ्गीभणिति,
अन्यून—न्यूनता का अभाव,
कष्टशब्द विपर्यय—सौशब्द्य और
विक्रमाभिहित—सुसम्बद्ध क्रम

भागवत

275. (i) यहाँ आनुषंगिक रूप से वैदिक शब्द-ब्रह्म की वैष्णव व्याख्या की गई है। भगवान् कृष्ण ने उद्धव से अपने स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है—वेदों के नाम शब्दब्रह्म हैं। वे मेरी मूर्त्ति हैं। वह शब्दब्रह्म परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाणी के रूप में प्राण, मन और इन्द्रियमय हैं। समुद्र के समान सीमारहित और गहरा है ॥36॥ मैं अनन्त शक्तिसम्पन्न एवं स्वयं अनन्त ब्रह्म हूँ। मैंने ही वेदवाणी का विस्तार किया है। जैसे कमलनाल में पतला सा सूत होता है, वैसे ही यह वेदवाणी प्राणियों के अन्तःकरण में अनाहतनाद के रूप में प्रकट होती है ॥37॥ भगवान् हिरण्यगर्भ स्वयं वेदमूर्त्ति एवं अमृतमय हैं। उनकी उपाधि है प्राण और स्वयं अनाहत शब्द द्वारा उनकी अभिव्यक्ति हुई है। जैसे–मकड़ी अपने हृदय से मुख द्वारा जाल उगलती है और फिर निगल लेती है, वैसे ही वे स्पर्शादि वर्णों का संकल्प करने वाले मनरूप निमित्तकारण के द्वारा हृदयाकाश से अनन्त, अपार, अनेक मार्गों वाली वैखरीरूप वेदवाणी को स्वयं ही प्रकट करते हैं और फिर उसे अपने में लीन कर लेते हैं ॥38॥ वह वाणी हृद्गत सूक्ष्म ओंकार के द्वारा अभिव्यक्त स्पर्श स्वर, ऊष्मा और अन्तःस्थ वर्णों से विभूषित है ॥39॥ उसमें ऐसे छन्द हैं, जिनमें उत्तरोत्तर चार-चार वर्ण बढ़ते जाते हैं और उनके द्वारा विचित्र भाषा के रूप में विस्तृत हुई है ॥40 (भागवत, 11/21)।

(ii) शब्दब्रह्म की उपर्युक्त अभिव्यक्ति की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं जिस परमात्मा का परोक्ष रूप से वर्णन किया जाता है, वे साक्षात् अपरोक्ष-प्रत्यक्ष ही हैं, क्योंकि वे ही निखिल वस्तुओं को सत्ता-स्फूर्ति-जीवन-दान करने वाले हैं, वे ही पहले अनाहत नादस्वरूप परावाणी नामक प्राण के साथ मूलाधार चक्र में प्रवेश करते हैं। उसके बाद मणिपूरक चक्र (नाभिस्थान) में आकर पश्यन्ती वाणी का मनोमय सूक्ष्मरूप धारण करते हैं। तदनन्तर कण्ठदेश में स्थित विशुद्ध नामक चक्र में आते हैं और वहाँ मध्यमा वाणी के रूप में व्यक्त होते हैं। फिर क्रमशः मुख में आकर ह्रस्व-दीर्घ आदि मात्रा, उदात्त-अनुदात्त आदि स्वर

तथा ककारादि वर्णरूप स्थूल-वैखरी वाणी का रूप ग्रहण कर लेते हैं ।।17।। अग्नि आकाश में ऊष्मा अथवा विद्युत् के रूप में अव्यक्त रूप में स्थित है। जब बलपूर्वक काष्ठमन्थन किया जाता है, तब वायु की सहायता से वह पहले अत्यन्त सूक्ष्म चिनगारी के रूप में प्रकट होती है और फिर आहुति देने पर प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है, वैसे ही मैं भी शब्दब्रह्मस्वरूप से क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी रूप में प्रकट होता हूँ ।।18।। (भागवत, 11/12)।

काव्यगत शब्द-चिन्तन के संदर्भ में ब्रह्म की वाग्रूप अभिव्यक्ति का अर्थ यदि 'कवि के आत्मभाव की शब्दरूप अभिव्यक्ति' माना जाय, तो उक्त पौराणिक निरूपण में आयी प्रक्रिया को सर्जनप्रक्रिया की पुराण-प्रतीकित व्याख्या के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वाग्रूप अभिव्यक्ति का बीज प्राणशक्ति में है। विनियोग संकल्पित प्राण मनोभावों से समंजित होकर दृशारूप ग्रहण करने लगता है। वही प्राण 'दृशारूप' इंद्रियगम्यता अर्थात् मानवीय स्थितियों तथा संबंधों से युक्त होकर जब सुनिश्चित रूप अथवा अर्थग्रहण करने लगता है, तब स्वर-वर्णादि से युक्त भाषारूप में अभिव्यक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि कवि का आत्मभाव ही प्राण, मन, इंद्रियों के माध्यम से क्रमशः स्थूलतर होता हुआ स्वर-वर्णादि रूप में अभिव्यक्त होता है। भागवत का उक्त परा-पश्यन्ती आदि वाग्रूप तथा प्राण-मन-इंद्रियरूप 'शक्ति' का सम्बन्ध-स्थापन, तत्संबंधी वैदिक तथा तंत्रोक्त धारणाओं का, अपेक्षाकृत अधिक बोधगम्य निरूपण है। इसी को हमने वैदिक वाग्धारणा की वैष्णव व्याख्या कहा है। इस वैष्णव व्याख्या का एक अन्य पक्ष यह भी है कि औपनिषदिक-यौगिक प्राण-मनरूप वागोपासना के साथ यहाँ इंद्रियरूप वागोपासना तथा अभिव्यक्ति का अपरिहार्य संश्लेष उपस्थित किया गया है।

(iii) गुणदोषरूप शब्द-चिन्तन में गुण का दोष के विपर्यस्त होने की बात नाट्यशास्त्र में भी है और तोलकाप्पियम् में भी। इस धारण का बीज कदाचित् भागवत अथवा तत्सदृश अन्य कोई पुराणग्रंथ है।

गुणदोष का विवेचन करते हुए भागवत में कहा गया है कि अपने-अपने अधिकार के अनुसार धर्म में दृढ़ निष्ठा रखना ही गुण है और इसके विपरीत अनधिकारी चेष्टा करना दोष।[1] और यह भी कि गुण-दोष संबंधी व्यवस्था

1. स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेषः निश्चयः।। —भागवत, 11/21/2।

आत्यंतिक नहीं हो सकती, वस्तुतः यह कल्पित विभाजन है, क्योंकि शास्त्रविधि से गुण, दोष में परिवर्तित हो जाता है और कहीं दोष, गुण में।[1] यद्यपि गुणदोष संबंधी ये व्यवस्थाएँ वर्णाश्रम धर्म के संदर्भ में दी गयी हैं, फिर भी काव्यगत शब्द-चिन्तन की दृष्टि से भी इनका महत्त्व असंदिग्ध है, क्योंकि काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में भी उपर्युक्त अवधारणाएँ चर्चित हुई हैं।

श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण

2·76. वाल्मीकि का सुप्रसिद्ध श्लोक 'मा निषाद ··' (बाल-2/15), आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त द्वारा ध्वनि-विवेचन के क्रम में अनेकशः विवेचित हुआ है, इसीसे रामायण की विपुल काव्य-संपदा का स्पष्टीकरण हो जाता है। वाल्मीकि का काव्यचिंतक रूप भी है, इसकी संभावना भी उभरती है। पहला कारण तो यह है कि रामायण में तत्संबंधी काफी आनुषंगिक संकेत मिलते हैं, और दूसरा यह कि ध्वनि-विवेचन के क्रम में जिन 'पूर्वसूरिभिः' को आनन्दवर्धन ने साक्ष्य माना है, वह कालिदास के साक्ष्य पर (रघुवंश, 1/4) स्वयं महर्षि वाल्मीकि भी हो सकते हैं।

(i) निषाद को शापित करने के बाद वाल्मीकि को पश्चाताप होता है और वे अपने शिष्य से कहते हैं: शोक से पीड़ित हुए मेरे मुख से जो वाक्य निकल पड़ा है, यह चार चरणों में आबद्ध है। इसके प्रत्येक चरण में बराबर-बराबर अक्षर हैं तथा इसे वीणा की लय पर गाया भी जा सकता है। अतः मेरा यह वचन श्लोकरूप (श्लोक नामक छंद में आबद्ध काव्यरूप) होना चाहिए, अन्यथा नहीं (बाल-3/19)। ब्रह्मा द्वारा रामायण रचना के लिए वाल्मीकि की आशीर्वाद-प्राप्ति पर शिष्यों की उक्ति भी द्रष्टव्य है—हमारे गुरुदेव महर्षि ने क्रौञ्चपक्षी के दुःख से दुखी होकर जिस समान अक्षरों वाले चार चरणों से युक्त वाक्य का गान किया था, वह था तो उनके हृदय का शोक, किन्तु उनकी वाणी द्वारा उच्चरित होकर श्लोकरूप हो गया (बाल-3/40)।

उपर्युक्त कथनों में वाक्य की छंदोबद्धता, लय, सांगीतिकता की चर्चा के साथ-साथ दोनों श्लोकों के क्रमशः ये वाक्य-खंड—'शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोक' तथा 'शोकः श्लोकत्वमागतः' से कवि के आत्मभाव की शब्दरूप अभिव्यक्ति का रहस्य भी खुलता है। कवि का शोक (क्षुब्ध प्राणतत्त्व से प्रेरित मनोभाव) शब्दरूप में अभिव्यक्त होकर श्लोकत्व अथवा काव्यत्व प्राप्त करता है।

---

1. क्वचिद् गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधिनागुणः।
गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते॥

—भागवत, 11/21/16

(ii) रामायण में अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख आए हैं जिनसे वाणी के गुण अथवा काव्यगुण की अवधारणा स्पष्ट होती है : जैसे—

समाक्षरता (बाल-3/42); समाससंधियोग, समता, माधुर्य, उपनतार्थ (प्रसाद) (बाल 3/43); श्लक्ष्णता (किष्किन्धा-3/3), संस्कारयुक्तता, क्रमसंपन्नता (शब्दोच्चारण की शास्त्रीय पद्धति), अविलंबित (किष्किन्धा-3/32); गुणयुक्तता, दोषमुक्तता (युद्ध-17/45; अग्राम्यपदत्व, पुष्कलार्थ (युद्ध-37/6; लक्षणसंपन्नता (युद्ध-113/26)। परवर्ती नाट्य-काव्यशास्त्रीय गुण-चिन्तन पर उपर्युक्त संकेतित गुणों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

(iii) रामायण में भरत-निरूपित लक्षण' का स्पष्ट उल्लेख है। इतना ही नहीं, वाल्मीकि के समय ही 'लक्षण' और 'गुण' का पारस्परिक भेद स्पष्ट हो चुका था, इसका भी असंदिग्ध उल्लेख मिलता है। जब हनूमान ने सीता को रावणवध की कथा सुनायी तो सीता ने हनूमान की वाणी की प्रशंसा करते हुए कहा है :

अतिलक्षणसम्पन्नं माधुर्यगुणभूषणम्।

बुद्धया ह्ष्टाङ्गया युक्तं त्वमेवार्हसि भाषितुम् ॥ —युद्धकाण्ड, 113/26.

उत्तम वाणी के तीन तत्त्व बतलाये गये हैं—उत्तम लक्षण-संपन्नता, माधुर्य (आदि) गुण से भूषित तथा बुद्धि के आठ अंगों से अलंकृत। इसमें 'लक्षण' और 'गुण' में स्पष्ट अन्तर किया गया है। बुद्धि के आठ अंगों (सुनने की इच्छा, सुनना, ग्रहण, स्मरण, ऊहा, अपोह, अर्थज्ञान और तत्त्वज्ञान) से युक्तता को उत्तम वाणी का अनिवार्य तत्त्व माना गया है। इस प्रकार उत्तम वाणी में शब्द-व्यापार (लक्षण), शब्दार्थ संपदा (गुण) तथा विनियोग पक्ष (बौद्धिक गुण संपदा) का समाहार किया गया है।

(iv) रामायण में अलंकृति (अरण्य-16/4) तथा उपमा (अयोध्या-105/10) का स्पष्ट उल्लेख है।

भट्टिकाव्य

2·7·7. भट्टिकाव्य है तो यों रामकाव्य, किन्तु इसका रचना-शिल्प लक्षण-ग्रन्थ का है। प्रारंभ में ही टीकाकार जयमङ्गल ने स्पष्ट कहा है कि लक्ष्य-लक्षण का एकत्र प्रदर्शन के लिए कवि भट्टि ने रामकथा का आश्रय लिया है, जिसका उपनिबन्धन द्विविध है : लक्षणसूचक प्रकीर्णकांड, अधिकारकांड, प्रसन्नकांड तथा तिङन्तकांड

और लक्ष्यसूचक रामसंभव आदि-बीस सर्ग। लक्षण भी द्विविध हैं : शब्द-लक्षण और काव्य लक्षण।[1] इस प्रकार, भट्टिकाव्य अपने समय का संपूर्ण व्याकरण-काव्यशास्त्र है।

(i) भट्टिकाव्य के प्रसन्नकांड में अलंकार, माधुर्य एवं भाषा-विधान की चर्चा है। इन्हें पारिभाषित नहीं किया गया है, उल्लेख मात्र हैं। अलंकारों में अनुप्रास, यमक (युक् पाद, पादान्त, पादादि, पादमध्य, चक्रवाल, समुद्ग, कांची, यमकावली, अयुग्मपाद, पादाद्यन्त, मिथुन, वृन्त, पुष्प, पादादिमध्य, विपथ, मध्यान्त, गर्भ, सर्व, महा, आद्यान्त), दीपक (आदि, अन्त, मध्य), रूपक (विशिष्ट उपमायुक्त, शेषार्थान्विवासित, अर्ध, अन्वर्थयोपमायुक्त या ललाम), उपमा (यथोपमा, सहोपमा, तद्धितोमा, लुप्तोपमा, समोपमा), अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, व्यतिरेक विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, वार्ता, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदार (उदात्त), श्लेष (गुण, हेतु), अपह्नुति, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, उपमा-रूपक, तुल्योगिता, निदर्शन, विरोध, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, स-सन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, आशी, हेतु और निपुण के लक्ष्य दिये गये हैं।

(ii) माधुर्य गुण के लक्ष्य रूप में 46 छन्द आये हैं।

(iii) भाविक को प्रबन्ध गुण माना गया है, इसके अन्तर्गत जयमंगल के अनुसार भूत-भविष्य के दृश्य प्रत्यक्ष की तरह रहते हैं, उदात्त एवं अद्भुत अर्थ की नियोजना होती है तथा शब्दानुकूलता पर विशेष बल होता है। इसके लिए 87 छंदों में लक्ष्य प्रस्तुत हुए हैं।

(iv) भाषा-विधान के अन्तर्गत संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के शब्दों के एकस्थ समावेश संबंधी लक्ष्य दिये गये हैं।

उपर्युक्त उल्लेखों में भट्टि का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का पता तो नहीं चलता, लेकिन उनके समय तक के सैद्धान्तिक विकास तथा उसके प्रायोगिक रूप का स्पष्टीकरण अवश्य होता है।

अन्य काव्य

2·7·8 काव्यगत शब्द-चिन्तन की दृष्टि से कालिदास, सुबन्धु आदि महाकवियों के कतिपय संकेत कम महत्त्वपूर्ण नहीं। वाक् संबंधी कालिदास ने मनोरम प्रकल्प दिये हैं।

---

1. भट्टिकाव्य (जयमंगला), सं० विनायक नारायण शास्त्री जोशी और वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री पंशीकर, निर्णयसागर, पृ०। (1912)

तारकासुर से पीड़ित देवताओं ने ब्रह्मा की स्तुति की। स्तुति से प्रसन्न होकर ब्रह्मा जी जब देवताओं से बोलने लगे, कालिदास कहते हैं 'तब ब्रह्मा जी के चार मुखों से निकलने वाली वाणी ने अपनी चतुष्टय प्रवृत्ति को सार्थक किया,'[1] वाक् की प्रवृत्ति-चतुष्ट्य (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की वैदिक अथवा जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा की—व्याकरणिक धारणा) और ब्रह्मा के चतुर्मुख का मनोरम योग है।

शब्द के ध्वनितत्त्व तथा अर्थतत्त्व वस्तुतः एक हैं, ऐसी मान्यता दर्शनशास्त्र तथा व्याकरणदर्शन की रही है। रामायण में भी 'मनोभाव' के शब्दगत प्रकटीकरण की बात आई है। कालिदास एक मनोरम प्रकल्प देते हैं :

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिप· ये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।। —रघुवंश, 1/1.

वागर्थ (वाक् और अर्थ) की प्रतिपत्ति के लिए कालिदास 'शक्तिरूपा' पार्वती एवं जगत्पिता शिव की वंदना करते हैं। शिव और शक्ति सर्वथा एक हैं, वैसे ही वाक् और अर्थ अभेदस्थित। नामरूपात्मक जगत् शिव और शक्ति का ही रूपान्तरण है, जैसे वाक् और अर्थ का रूपान्तरण अन्य भाषिक पक्ष हैं। सामान्य व्यवहार में तो वाक् और अर्थ के भेदरूप से काम चल जाएगा, लेकिन कवि के लिए तो उनकी वास्तविक प्रतिपत्ति अपरिहार्य है। कालिदास ने एक प्रकार से समस्त दार्शनिक, व्याकरणिक तथा तंत्रोक्त धारणाओं को यहाँ संदर्भित कर दिया है।

2·7·9. भारवी ने कीरातार्जुनीय में गोमूत्रिका (15/12), सर्वतोभद्र (15/25), एकाक्षर (15/14), यमक (15/35, 37, 52) आदि का निरूपण किया है। इसी प्रकार सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' में श्लेषमय प्रबन्ध-विन्यासवैदग्ध्य, काव्य-जीवित के रूप में वक्रोक्ति तथा शृंखलाबंध, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, मालादीपक, यमक आदि की चर्चा की है। बाणभट्ट ने भी हर्षचरित में अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, बिन्दुमती, प्रहेलिका आदि चित्रकाव्यात्मक विधाएँ, श्लेष, उत्प्रेक्षा, उपमा, दीपक आदि अलंकार की शब्दतः चर्चा की है।

इन प्रत्यक्ष चर्चाओं के अतिरिक्त यह तो स्पष्ट ही है कि बाद के काव्यशास्त्रीय चिन्तन के लिए ये काव्य-रचनाएँ तथा अन्य उपजीव्य ही रही हैं। ये

1. पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ।। —कुमारसंभव, 2/17.

सर्जनात्मक काव्य काव्यशास्त्र को सिद्धांत तथा लक्ष्य दोनों स्तर पर प्रभावित करते हैं।

अन्य सामग्री

पुराण-काव्य आदि के अतिरिक्त कौटिल्य अर्थशास्त्र, कतिपय शिलालेख आदि में भी शब्द-चिन्तन सम्बन्धी सामग्री, अल्पमात्रा में ही सही, प्राप्त है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र

2·8·1. कौटिल्य अर्थशास्त्र में कई स्थलों पर ऐसी चर्चाएँ आयी हैं, जिनसे समकालीन व्यावहारिक भाषा-चिंतन की पर्याप्त जानकारी मिलती है।

(i) वर्ण, पद वाक्य का स्वरूप-विभाजन दिया गया है। शब्द को वर्ण-संघात कहा गया है, जिसके पुनः चार विभाग बतलाए गये हैं : नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। अर्थ परिसमाप्ति वाले पदसमूह को वाक्य कहा गया है। (अर्थशास्त्र, 2/10)

(ii) लेखन-सौंदर्य के पाँच गुण बतलाएँ गये हैं : अर्थक्रम, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य और स्पष्टता। इन्हें लेखसम्पदा कहा गया है। महत्त्व के अनुकूल विषयों का पूर्वापर अभिनिवेश 'अर्थक्रम' है, प्रस्तुत अर्थ के अनुकूल बाद का अर्थ-विधान 'सम्बन्ध'; अर्थ, पद तथा अक्षर में कमी अथवा अतिरिक्तता का नहीं होना और हेतु, उदाहरण तथा दृष्टांत आदि से युक्त अर्थ-योजना एवं तदनुकूल योग्य पदों का प्रयोग 'परिपूर्णता' है; सुखकारक शब्द और अर्थ का प्रयोग माधुर्य है; अग्राम्य शब्दों का प्रयोग नहीं करना 'औदार्य' और प्रतीतशब्द प्रयोग 'स्पष्टता' है। पुनः लेख के उपसंहार में दीर्घसमासपद-प्रयोग का निषेध किया गया है। (अर्थशास्त्र) 2/10.

(iii) तन्त्रयुक्ति के अन्तर्गत 32 प्रकार की उक्तियों को पारिभाषित किया गया है। वे इस प्रकार हैं—अधिकरण, विधान, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ, उद्देश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, अतिदेश, प्रदेश, उपमान, अर्थापत्ति, संशय, प्रसंग, विपर्यय, वाक्यशेष, अनुमतं, व्याख्यान, निर्वचन, निदर्शन, अपवर्ग, स्वसंज्ञा, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, एकान्त, अनागतावेक्षण, अतिक्रान्तावेक्षण, नियोग, विकल्प, समुच्चय और ऊहा (15/180)। इनमें से अनेक युक्तिप्रकार नाट्यशास्त्र तथा परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में स्वीकृत हुए हैं। भरत-निरूपित 'लक्षण' और इन उक्तिप्रकारों की तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि उक्ति-संपदा के सम्बन्ध में उस समय प्रायः समानान्तर चिन्तन किया जा रहा था, जो अन्तर है वह दृष्टिकोण-वैभिन्न्य के कारण—भरत के लक्षण का संदर्भ काव्य है और कौटिल्य का संदर्भ 'राजकार्य'।

रुद्रदामन का शिलालेख

2·8·2 गिरनार शिलालेख [1] (ईसापूर्व 150 वर्ष) में संगीत, न्याय आदि महा-विद्याओं के साथ शब्दविद्या का भी उल्लेख है। "स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्द-समयोदारालंकृत गद्यपद्य" से दो बातें स्पष्ट होती हैं : एक तो यह कि तबतक भाषिक विन्यास की दृष्टि से काव्य के दो भेद—गद्य और पद्य, स्थापित हो चुके थे और दूसरी बात यह कि शैली के गुणों का संधान भी हो चुका था। स्फुट, लघु (संक्षिप्तता), मधुर, चित्र (कदाचित् चित्रमयता), कांत, उदार, समय (काव्य एवं कविरीति) को गुण कहा गया है। गद्य-पद्य इन गुणों से युक्त होने के साथ-साथ अलंकारों से भी युक्त हों, यह कहकर अलंकृत संस्कृत-काव्य की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। इनमें से अधिकांश बाद के गुण-विवेचन में स्वीकृत हुए हैं।

कामसूत्र

2·8·3. कामसूत्र के विद्यासमुद्देश प्रकरण में चर्चित चौसठ कलाओं में से प्रहेलिका, प्रतिमाला (अन्त्याक्षरी का कौशल), दुर्वाचक योग (उच्चारण तथा अर्थ की दृष्टि से कठिन श्लोक), काव्यसमस्यापूर्त्ति, अक्षरमुष्टिका कथन (सांकेतिक अक्षरों का अर्थ जानलेना), मलेच्छितविकल्प, देशभाषा विज्ञान (विभिन्न भाषाओं का ज्ञान), मानसी काव्यक्रिया (विशृंखलित अक्षरों से श्लोक बनाना), अभिधान-कोशछन्दोविज्ञान और क्रियाकल्प (काव्यालंकार का ज्ञान) इन दस कलाओं का सम्बन्ध भाषिक व्यवहार से है। इनसे और कुछ नहीं तो कम-से-कम इतना तो स्पष्ट है ही कि वात्स्यायन ने भाषिक व्यवहार के दो रूप माने हैं : सामान्य और कलात्मक। भाषिक व्यवहार का यह पार्थक्य ही तो सामान्य भाषिक चिन्तन की तुलना में काव्यगत शब्द-चिन्तन का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करता है।

निष्कर्ष

2·9·1. वैदिक शब्द-चिन्तन शब्द को जीवन्त, स्पन्दनशील एवं सर्जन शक्ति सम्पन्न मानता है। मन अथवा प्राण और वाक् का मिथुन, समस्त संसृष्टि का बीज माना गया है। प्रणव अथवा 'ॐ' उक्त मिथुनरूप का प्रतीक है। 'ॐ' का यह मैथुनी प्रतीक तंत्रशास्त्र में भी मान्य है। मिथुन से इंद्रिय-संस्पर्श भी व्यंजित होता है, इसीलिए भागवत में प्राण, मन तथा इंद्रियमयता के रूप में वाक् के क्रमशः परा, पश्यती तथा

---

1. उत्कीर्णलेखाञ्जलिः, संपादक—श्री जयचन्द्रविद्यालङ्कार, मेसर्स खेमाड़ीलाल संकठा प्रसाद, वाराणसी, 1968 ई०।

मध्यमा स्तरों की व्याख्या की गयी है। आधुनिक चिन्तक-कवि भी शब्द को जीवित अनुभव मानता है।

2·9·2. षड्दर्शनों का शब्द-चिन्तन दो दिशाओं में हुआ। पहली दिशा में 'शब्द' की अपौरुषेय व्याख्या हुई, जिसके अन्तर्गत 'शब्द' को ब्रह्मरूप माना गया है। दूसरी दिशा 'शब्द' को एक प्रमाण मानकर उसकी प्रायोगिक व्याख्या की ओर विकसित हुई है, जिसके अन्तर्गत शब्द और उसके व्यापार की तार्किक विवेचना की गई है। मीमांसा दर्शन में शब्दशक्ति का संभवतः पहली बार उल्लेख आया है।

2·9·3. व्याकरण आधुनिक भाषिकी का बीज है। भाषा-व्यापार एवं व्यवहार की वैज्ञानिक विवेचना यहाँ उपलब्ध है। व्याकरण-दर्शन में भाषा-व्यापार की अपेक्षा भाषा-दर्शन का संप्रेरित विवेचन है और चूँकि काव्य मूलतः भाषा-व्यापार होते हुए भी भाषा-दर्शन के अधिक निकट है—शब्द के सर्जनशील प्रयोग के कारण, इसलिए परवर्ती काव्यगत शब्द-चिन्तन पर इसका गहरा असर है। काव्य के व्यापक अर्थ–वर्णक्रम, अर्थबिम्ब आदि से सम्बद्ध आधुनिक चिन्तन के अनेक प्रश्न भर्तृहरि के विवर्त-सिद्धान्त के तहत सुलझाये जा सकते हैं।

2·9·4. नाट्यशास्त्र तथा शिक्षाशास्त्र का महत्त्व इस बात में है कि वहाँ काव्य की भाषा-प्रयोग सम्बन्धी प्रारंभिक शिल्पविधि के संकलन प्रस्तुत हुए हैं। शब्द-चिन्तन को काव्य-सन्दर्भ देने के ये पहले प्रयत्न हैं। इनके अलावे यह भी ध्यातव्य है कि परवर्ती काव्यशास्त्रीय प्रस्थानों, जैसे अलंकार, रस आदि के स्रोत भी यही हैं।

2·9·5. पुराणादि के आनुषंगिक उल्लेख प्रारंभिक शब्द-चिन्तन के विवरण तथा रूप तो प्रस्तुत करते ही हैं, साथ ही, विष्णुधर्मोत्तर के संकेतों से ऐसा लगता है कि काव्यानुशीलन को गहराई तथा विस्तार उसे नृत्त, संगीत आदि विभिन्न कला अनुशासनों से जोड़कर दिया जा सकता है। अन्तरानुशासन की चर्चा नाट्यशास्त्र में भी है और बाद के आचार्यों में भामह, कुन्तक, आनंदवर्धन आदि ने भी इसकी उपयोगिता को समझा है। आधुनिक काव्य-चिन्तन की अन्तरानुशासनात्मकता का प्रारंभिक रूप यहाँ देखा जा सकता है।

2·9·6. काव्यगत शब्द-चिन्तन के आदिस्रोत वस्तुतः दर्शन, व्याकरण और काव्यानुभव की त्रिपुटी में निहित हैं। भारतीय दर्शन में शब्द और अर्थ के व्यावहारिक तथा निर्विकल्प सर्वात्मरूप की गम्भीर विवेचना की गयी है। व्याकरण ने भाषा के

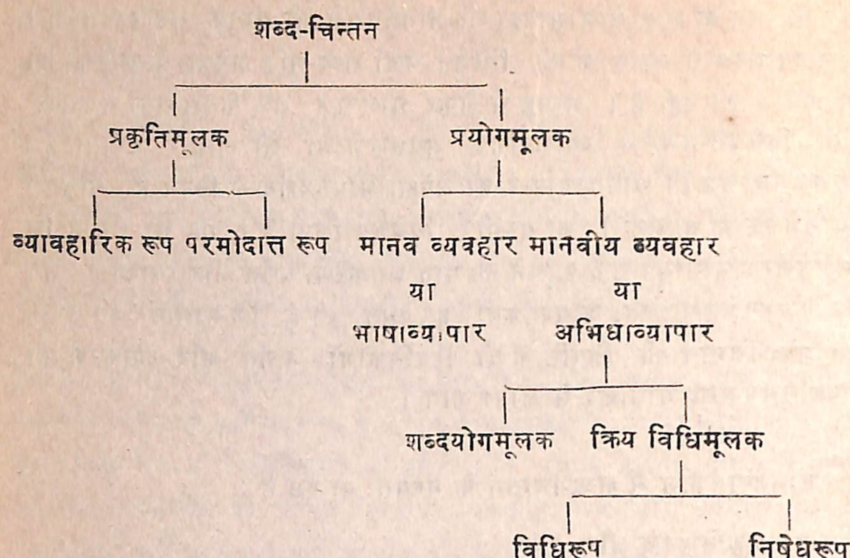
वैज्ञानिक विवेचन के साथ-साथ भाषा की जीवंतता से भी सम्पर्क बनाये रखा है। संस्कृत काव्यशास्त्र में व्याकरण की विस्तृत चर्चा शब्द-शुद्धि अथवा प्रायोगिकी की दृष्टि से की जाती रही है। भामह से लेकर भोजराज तक के आचार्यों ने काव्य-भाषा के विवेचन-क्रम में व्याकरणिक अवधारणाओं को आधार बनाया है। काव्यानुभव निश्चय ही भाषा-व्यापार की अपेक्षा भाषा-दर्शन के निकट है। आचार्यों ने काव्यानुभवजन्य भाषारूपों का गम्भीर विवेचन किया है। यह भी तय है कि काव्यानुभवजन्य भाषारूप तक पहुँचने का मार्ग व्याकरण, दर्शन और व्याकरण-दर्शन से होकर गुजरता है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि प्राचीनों की तरह, काव्यगत शब्द-चिन्तन की त्रिपुटि के दो स्थितिकोणों—दर्शन और व्याकरण को पुन: काव्यानुभवजन्य भाषारूप से जोड़ा जाय।

2·10·1. भामह-पूर्वकाल में शब्द-चिन्तन के मुख्यत: दो रूप हैं :

(क) प्रकृतिमूलक और
(ख) प्रयोगमूलक

प्रकृतिमूलक चिन्तन के अन्तर्गत वेद-वाङ्मय तथा षड्दर्शनों की मान्यताएँ आती हैं। इनका लक्ष्य 'शब्द' को सृष्टि बीज मानकर समस्त जैव-व्यवहार के मूल में शब्द के सूक्ष्म अथवा स्थूल व्यापारों की खोज है। इस कोटि का चिन्तन शब्द के ठेठ व्यावहारिक रूप (न्याय-मीमांसा) से लेकर परमोदात्त रूप तक का विवेचन करता है।

2·10·2. प्रयोगमूलक चिन्तन के अन्तर्गत व्याकरण, व्याकरण-दर्शन, नाट्यशास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, पुराण, काव्यादि की मान्यताएँ आएँगी। प्रयोगमूलक चिंतन के भी पुन: दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं : मानव-व्यवहार का भाषा-व्यापार तथा मानवीय व्यवहार का अभिधाव्यापार। प्रथम के अन्तर्गत व्याकरणगत विचारों को रखा जा सकता है और शेष दूसरे वर्ग में रखे जा सकते हैं। अभिधाव्यापार सम्बन्धी चिन्तन के पुन: दो प्रकार मिलते हैं : शब्दयोगमूलक, और क्रियाविधिमूलक। शब्दयोगमूलक चिन्तन में मुख्य विचारणीय विषय है, कवि के आत्मभाव की अभिव्यक्ति में शब्द की भूमिका का स्वरूप और क्रियाविधिमूलक चिन्तन का विचारणीय विषय है—उक्त शब्दयोग की प्रक्रिया। इस प्रक्रिया का विधिरूप विवेचन अलंकार, गुण, रीति आदि तथा निषेधरूप विवेचन दोष-प्रकरण में आया है। सारांशत: शब्द-चिन्तन का रूपगत वर्गीकरण अग्रांकित है :



काव्यशास्त्र में शब्दशक्ति सम्बन्धी विचार शब्दयोगमूलक अभिधाव्यापार के अन्तर्गत ही आया है, यों मुख्या अथवा अभिधाशक्ति का सम्बन्ध मानव-व्यवहार-गत भाषाव्यापार से भी है,। छदोविधान सम्बन्धी चर्चाएँ भी इसी कोटि में आएँगी, क्योंकि यहाँ काव्य की पद-योजना की लयात्मकता का ही विचार मुख्य है।

आगे के अध्यायों में शब्द-चिन्तन के विशेषतः प्रयोगमूलक रूपों मुख्यतः अभिधाव्यापारमूलक चिन्तन के अवधारणिक विकास पर विचार किया गया है।

अध्याय-3

आचार्य भामह से रुद्रट तक

3·1·1. पूर्ववर्ती अध्यायों में हमने देखा है कि शब्द-चिन्तन दर्शन, व्याकरण और काव्यानुभव की त्रिपुटि पर आधारित है। आचार्य भरत के काव्य-लक्षण-विवेचन को उक्त त्रिपुटि का, काव्य-सन्दर्भ में संयोगी तत्त्व माना जा सकता है। यह काव्य-लक्षण वाल्मीकि रामायण में भी प्रकारान्तर-चर्चित है।

आचार्य भरत और आचार्य भामह के बीच लगभग हजार वर्षों का अन्तर है। यह अन्तराल काव्य-चिंतन से शून्य रहा होगा, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन उस समय के काव्यशास्त्रीय चिंतन सम्बन्धी कोई ग्रन्थरूप प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। यों भट्टिकाव्य के अलंकार-गुण विवेचन, मेधाविरुद्र का सम्भावित आचार्यत्व, रुद्रदामन के गिरनार-शिलालेख के संकेत, कौटिल्य अर्थशास्त्र में आये गुण-दोष विवेचन आदि इस तथ्य के पर्याप्त संकेत हैं कि वह अन्तराल भी गम्भीर काव्य-चिन्तन का काल रहा होगा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कालिदास की लालित्य-योजना के विवेचन-क्रम में इस बात की बड़ी पुष्ट सम्भावना व्यक्त की है कि कालिदास ने 'विनिवेशन', 'अन्यथाकरण', 'अन्वयन', 'वागर्थ', 'भावाभिनिवेश', 'भावानुप्रवेश', 'यथालिखितानुभव' तथा 'करणविगम' आदि शब्दों का पारिभाषिक प्रयोग किया है। 'विनिवेशन' से तात्पर्य 'यथाप्रदेश विनिवेश' है अर्थात् जो जहाँ सही हो उसका वहीं योग। 'अन्यथाकरण' का तात्पर्य है कवि की रचना-प्रक्रिया का वह दौर जब बाह्यजगत से प्राप्त उपादानों को वह आत्मभाव के अनुकूल रस-संस्कार कर देता है। 'अन्वयन' की व्याख्या करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद जी ने कहा है—"चित्र अपने-आप में स्थिर पदार्थ है, पर जब वह रसयुक्त बनता है तो

भाव-परम्परा को दीर्घकाल तक उत्पन्न करता रहता है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार वीणा के तार को हल्का-सा आघात कर देने से देर तक 'अनुरणन' होता रहता है। परन्तु वीणा का अनुरणन श्रव्यध्वनि-परम्परा है और चित्र या मूर्ति (और काव्य भी-लेखक) का अनुरणन मानसिक भाव-परम्परा है। इसी भाव-परम्परा के उत्पन्न करने की क्षमता को अन्वय कहा जाता है और उस प्रक्रिया को 'अन्वयन'।[1] 'वागर्थ' वाक् और अर्थ की संपृक्ति अथवा साहित्य का पर्याय है। यथार्थ जीवन की कामनाओं में लिप्तता 'भावाभिनिवेश' है। चित्रितव्य अथवा वर्ण्य को रेखा और रंगों अथवा शब्दों में फिर से प्रवेश करा देना 'भावानुप्रवेश' है और इस 'भावानुप्रवेश' से तादाम्य 'यथालिखितानुभव'। 'करण-विगम' के माध्यम से आचार्य हजारीप्रसाद जी ने रसास्वाद की प्रक्रिया की व्याख्या की है। करण का अर्थ है इन्द्रिय और विगम का अर्थ विपरीत गमन। इस प्रकार, करण-विगम का अर्थ हुआ इन्द्रियों के बाह्यमुखी संवेग का अन्तर्मुखी होना।[2] अत:, यदि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रस्ताव को मान लिया जाय, और अन्यथा मानने का कोई कारण नहीं, तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि कालिदास के समय काव्य-चिंतन यथेष्ट गांभीर्य तथा व्यापकता अर्जित कर चुका था। यह भी ध्यातव्य है कि कालिदास ने उक्त शब्दों का पारिभाषिक प्रयोग प्राय: चित्रकला के सन्दर्भ में किया है। इससे इस धारणा की भी पुष्टि होती है कि काव्य-चिंतन वस्तुत: अन्तरानुशासनात्मक चिंतन का ही एक विशिष्ट विकास है। नाट्शास्त्र की बहुज्ञता तथा संगीत, काव्य, नृत्त आदि के समन्वय का आयोजन भी इसका एक प्रबल प्रमाण है।

उपर्युक्त विवेचन का एक युक्तिसंगत निष्कर्ष यह भी हो सकता है कि सम्भवत: काव्य-सम्बन्धी चिंतन को पृथक् रूप देने का पहला प्रयत्न आचार्य

---

1. कालिदास की लालित्य योजना, राजकमल, पृ० 89.
2. उपरिवत्, पृ० 107.

भामह[1] ने ही किया और यह भी कि इनके पूर्व संगीत, काव्य आदि का एकत्र विवेचन किये जाने की ही परम्परा थी—विष्णुधर्मोत्तर, नाट्यशास्त्र तथा राजशेखर कृत काव्यमीमांसा में काव्यपुरुष उत्पत्ति सम्बन्धी विवरण इसी की ओर संकेत करते हैं।

आचार्य भामह

3·2·1. नाट्य के अन्य अनेक उपादान हो सकते हैं, होते; लेकिन काव्य का एकमात्र उपादान शब्द है। काव्यशास्त्रीय चिन्तन में 'शब्द' की काव्यगत भूमिका की अनेकविध विवेचना की गयी है, जिसकी सारिणी हम दूसरे अध्याय में दे आए हैं।

---

1. आचार्य भामह का काल आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने अपने काव्यालंकार-भाष्य में 500 ई० से 550 ई० माना है (पृ० 177)। लेकिन आचार्य भामह और आचार्य दण्डी की पूर्वापरता को लेकर काफी विवाद है। विद्वानों के तीन वर्ग हैं : (i) दण्डी को भामह से पूर्व मानने वाले विद्वान हैं—काव्यालंकार के टीकाकार नामिसाधु, श्री एम० टी० नरसिंह अयंगर, प्रो० ए० बी० कीथ, डॉ० जयशंकर त्रिपाठी आदि। (ii) भामह को दण्डी के पूर्व माननेवाले विद्वान हैं—काव्यादर्श के टीकाकार तरुण वाचस्पति, श्री के० पी० त्रिवेदी श्री गणपति शास्त्री, डॉ० सुशील कुमार डे आदि। (iii) दोनों को समकालीन मानने वाले विद्वान हैं—डॉ० पांडुरंग वामन काणे तथा अन्य। डॉ० काणे ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स' में यद्यपि आचार्य भामह को पहले रखा है, परन्तु काल-सम्बन्धी उनके निर्णय भिन्न हैं—भामह का काल वे 700 ई० के बाद और दण्डी का काल 660-680 ई० मानते हैं (पृ० 132)। आचार्य बलदेव उपाध्याय 'भारतीय साहित्यशास्त्र' में आचार्य दण्डी कृत अवंतिसुन्दरी कथा में महाकवि बाण के उल्लेख के आधार पर उन्हें बाण के परवर्ती मानते हैं और ध्वन्यालोक के एक उल्लेख (चतुर्थ उद्योत) के आधार पर भामह को बाण से पूर्व बतलाते हैं (पृ० 167-168)। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने भी भामह को बाण के पूर्ववर्ती होना बतलाया है (काव्यालंकार भाष्य, पृ० 177)। डॉ० जयशंकर त्रिपाठी अवन्तिसुन्दरी कथा को दण्डी की रचना नहीं मानते। उनके अनुसार दण्डी की एकमात्र रचना 'काव्यादर्श' है (आचार्य दण्डी एवं संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन, पृ० 430)।

उपर्युक्त विवाद से किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचना कठिन है।

काव्य-संदर्भ में शब्द की भूमिका का पृथक्, विधिवत् तथा नाट्य संदर्भ से अलग विश्लेषण की शुरुआत भामह से हुई है। भामह का कार्य अत्यंत कठिन था, उन्हें समस्त नाट्यव्यपारों की तुलना में, श्रव्यकाव्य के संदर्भ में, शब्दव्यापार को प्रस्थापित करना था। इसीलिए उन्होंने भाषा के बुनियादी व्यावहारिक प्रश्नों से लेकर उनकी काव्यगत भूमिका के स्वरूप तक का विश्लेषण किया है।

3·2·2. काव्यालंकार समाहार करते हुए भामह ने कहा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में साठ कारिकाओं में काव्य-शरीर का निर्णय, एक सौ साठ में अलंकार, पचास में दोष, सत्तर में न्याय-निरूपण और साठ में शब्द-शुद्धि का विवेचन किया गया है (काव्यालंकार, 6/65 66)। इन विषयों का विवेचन शब्द की काव्यगत भूमिका की दृष्टि से भामह ने किया है।

3·2·3. पहला प्रश्न है कि काव्य-शरीर क्या है? शरीर का एक अर्थ तो पंचभूतात्मक अथवा जैविकीय है और दूसरा चेतनाश्रित प्राणरूपात्मक। चेतनाश्रित प्राणरूपात्मक शरीर को ही जीव कहते हैं, लोक में उसे ही यशः शरीर के रूप में जाना जाता है। भामह ने 'दिवंगत सत्कवियों के रमणीय काव्यमय शरीर को जरा-मरण से रहित' होने की बात कही है (काव्या-1/6)। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में काव्य-शरीर के भी दो रूप होंगे : वर्णादि से निर्मित प्रत्यक्ष शरीर और चेतनारूप प्राण शरीर। दोनों की खोज भामह ने शब्दार्थ में, अलंकारमुख से की है। इसलिए उन्होंने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान प्राप्तकर, काव्यज्ञों की उपासना कर और अन्यों की रचनाओं का अवलोकन कर ही काव्य-प्रणयन में प्रवृत्त होना चाहिए (काव्य-1/10)। शब्द और अर्थ के सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है शब्द-व्यापार की प्रक्रियायों को जानना, जिससे शब्द-सामर्थ्य अर्जित की जा सकेगी। काव्यज्ञों की उपासना से वैदग्ध्य अर्जन तथा अन्य रचनाओं के अध्ययन से काव्य की चेतनारूप प्राणशक्ति की पहचान हो सकेगी। अतः वे दूसरी व्यवस्था देते हैं कि काव्य के प्रकृत संदर्भ के अनुपयुक्त अथवा सदोष एक शब्द का भी प्रयोग न हो, इसका ध्यान रहना चाहिए; क्योंकि लक्षण से रहित काव्य से कुपुत्र के समान निंदा होती है (काव्य-1/19)। स्पष्ट ही यहाँ 'लक्षण' को काव्य का स्वाभाविक धर्म माना गया है, जिसके अभाव में काव्य कुकाव्य बन जाता है।

3·2·4. शब्द-निर्मित काव्य-शरीर (प्रत्यक्ष तथा चेतनारूप) की खोज अलंकारमुख से की गयी है। अलंकारमुख से क्यों? इसलिए कि "ग्राम्य शब्दों से रहित, अर्थसौष्ठव से युक्त, सालंकार वाणी" (काव्य-1/19) ही काव्य का प्रत्यक्ष शरीर निर्मित करती है। ऐसी अलंकृत वाणी ही विभूषित नारी के समान

शोभती है (काव्या-3/58)। यहीं दूसरा सवाल उठता है कि यह अलंकार अथवा अलंकारता क्या है ? भामह ने इस प्रश्न का तलस्पर्शी विवेचन किया है, लेकिन इसके विमर्श में प्रवृत्त होने के पूर्व यह जान लेना उपयोगी होगा कि जिस प्रकार काव्य-शरीर के दो रूप हैं, उसी प्रकार अलंकार के भी दो रूप होंगे : शब्द और अर्थरूप अलंकार तथा अलंकृति का चेतना रूप।

3·2·5. भामह ने अपने पूर्ववर्ती शब्द और अर्थरूप अलंकार सम्बन्धी मतों की चर्चा की है। वे कहते हैं कि "रूपकादि काव्यालंकारों के बारे में आलंकारिकों ने अनेक प्रकार से उल्लेख किया है। (आलंकारिकों के मत में) रमणी का सुन्दर मुख भी अलंकार के बिना सुशोभित नहीं होता। दूसरों के मत में रूपकादि अलंकार बाह्य हैं। इनकी दृष्टि में काव्य में प्रयुक्त संज्ञा, क्रिया और व्युत्पत्तिजन्य सौशब्द्य (शब्दशुद्धि) ही वास्तविक अलंकार है, क्योंकि सौशब्द्य (शब्दशुद्धि) की तरह अर्थ-सौन्दर्य चमत्कारी नहीं होता (काव्य-1/14, 15)। भामह शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार की आपेक्षिक प्रधानता या काव्यता के पक्षधर नहीं, क्योंकि काव्य में सिर्फ शब्द (वर्ण, पदादि) अथवा अर्थ (अभिधेयता) नहीं, शब्द और अर्थ दोनों होते हैं (काव्य-1/15, 16)। यों, भामह ने एक अन्य संदर्भ में व्यंजनचारुता अथवा वर्णसांगीतिकता को अन्य अलंकारों से बढ़कर माना है[1] फिर भी अन्य विवेचनों से यह स्पष्ट होता है कि उनका अभिमत शब्दार्थ-समन्वय के ही पक्ष में है। वैसे भी व्यंजनचारुता में उन्होंने अन्य अलंकारों की अपेक्षा सौन्दर्य की अतिशयता की चर्चा की है, यह अतिशयता भी 'वक्रोक्तिजन्य अतिशयता' के अन्तर्गत ही आएगी जिसकी व्यवस्था उन्होंने अलंकार की चेतनारूप प्राणवत्ता की स्थापना के क्रम में दी है। अस्तु:, प्रत्यक्षत: शब्द और अर्थ समन्वित रूप में काव्य के शरीर हैं।

3·2·6. लेकिन सामान्य रूप में शब्द और अर्थ तो काव्य के अंग होते नहीं, अन्यथा कोश, शब्द, अर्थादि की जानकारी को कवि के लिए आवश्यक बतलाने के बाद भी उसे शब्द और अर्थ के सम्यक् रूप को जानने सम्बन्धी निर्देश देने की जरूरत नहीं होती। (काव्या-1/9, 10)। अत: स्पष्ट है कि सामान्य शब्द और अर्थ की जानकारी की अपेक्षा उनके सम्यकत्व की जानकारी कोई भिन्न ज्ञान है। वह सम्यकत्व क्या है ? इस 'सम्यकत्व' की व्यवस्था दो स्थलों पर भामह ने दी है : काव्यमार्ग-निरूपण तथा अतिशयोक्ति अलंकार के क्रम में।

---

1. क्रमागतं श्रुतिसुखमं शब्दमर्थ्यमुदीरयेत्।
अतिशेते ह्यलङ्कारस्यं व्यञ्जनाचारुता॥—काव्यालंकार, 6/28.

भामह ने वैदर्भ और गौडमार्ग के रूप में काव्य के वर्गीकरण का विरोध किया है। इस प्रकार के वर्गीकरण को वे गतानुगतिकता (परंपरा पालन) मात्र मानते हैं (काव्या-1/32)। उनके मत में तथाकथित वैदर्भ अथवा गौडमार्गीय काव्य में परस्पर श्रेष्ठ अथवा हीन होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि, अर्थ-गांभीर्य तथा वक्रोक्ति से रहित, स्पष्टता, सरलता और कोमलता (जो वैदर्भमार्ग के लक्षण कहे जाते हैं) से युक्त काव्य, संगीत के समान सिर्फ सुनने में मधुर होता है, जबकि अलंकारयुक्त, ग्राम्य-दोष से मुक्त, न्यायसंगत, अनाकुल (जटिलतादि दोषों से रहित) अगर गौडमार्गीय काव्य भी हो तो वह ग्राह्य एवं साध्य है (काव्या-1/34, 35)। तब प्रश्न उठता है कि अन्ततः सत्काव्यत्व के व्यवच्छेदक तत्त्व क्या होंगे? दो का संकेत तो भामह ने पहले ही किया है—अर्थगांभीर्य तथा अलंकार-युक्तता, लेकिन काव्य-सौन्दर्य के संपादन के लिए इतना ही काफी नहीं। काव्य की चारुता वाणी की अलंकृति के आश्रित है और वाणी की अलंकृति शब्द, अर्थ और उक्ति की वक्रता के आश्रित है—श्रुतिपेशल कोमल शब्दों के व्यवहार से सत्काव्य नहीं बनता, जबतक उसमें शब्द, अर्थ तथा उक्ति की वक्रता नहीं हो—

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृति॥ काव्यालंकार, 1/36.

भामह का निश्चित मत है कि शब्द, अर्थ तथा उक्ति की वक्रता के बगैर अलंकारता आती ही नहीं और वैसी वाणी को वार्ता कहा जाएगा, सत्काव्य नहीं (काव्या-2/87)। अतः उपर्युक्त त्रिविध वक्रता अलंकारता की प्राणवत्ता है। इस व्यवस्था के बाद प्रश्न उठता है कि इस प्राणवत्ता की बीजभूत चेतना कहाँ है? भामह का स्पष्ट उत्तर है—'अतिशयोक्ति में' और यह अतिशयोक्ति है, 'लोकातिक्रान्तगोचरता' में (काव्या-2/81)। लोक-व्यवहार में भाषा के सामान्य व्यवहार से काम चल जाता है। गोचरता अर्थात् इंद्रियग्राह्यता यहाँ भी है, लेकिन यह आम गोचरता है। काव्य की गोचरता इंद्रियग्राह्यता तक सीमित नहीं रहती, वह मन-प्राण के धरातल पर संवेदनीय भी होती है। जो कुछ भी इंद्रियग्राह्य है वह मन-प्राण के धरातल पर संवेदनीय भी हो, उसके लिए वाणी का विशेष विधान करना होता है। वाणी का यही विशेष विधान, सामान्य इंद्रियग्राह्यता-स्तर को क्रान्त ही नहीं अतिक्रान्त करता है—यही काव्य की अलौकिकता अथवा अतिशयता है। यह भामह का अभिमत है, इसीलिए उन्होंने व्यवस्था दी कि यह अतिशयोक्ति (लोकातिक्रान्तगोचरता) ही काव्य में परिव्याप्त है, यही वक्रोक्ति (शब्द, अर्थ और उक्ति की वक्रता) है, यही अलंकारता है और क्योंकि कवि (इंद्रियग्राहिता-स्तर को मन-प्राणगत संवेदनीयता

में बदलने के लिए) वाणी का विशेष विधान करता है, इसलिए उसे अवधानपूर्वक वक्रोक्ति की साधना करनी चाहिए।

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ काव्यालंकार, 2/85.

स्पष्ट है कि भामह के अनुसार काव्य में अर्थ का विभावन शब्द, अर्थ और उक्ति की वक्रता से हा संभव है, अन्यथा नहीं।

3·2·7. हमने पहले ही यह संकेत दिया है कि नाट्यगत अनेक उपादान—अभिनय, रंग-विधान, नृत्य, संगीत आदि का कार्य काव्य में अकेले शब्द को ही करना है। भामह ने शब्द की इसी बृहत्तर भूमिका की तलाश का प्रयत्न किया है। शब्द अकेले यह कार्य- संपादन वक्रोक्ति (शब्द, अर्थ उक्ति) अथवा अलंकारों के माध्यम से करता है। इस प्रकार, भामह ने वक्रोक्ति को शब्द की सर्जनशील शक्ति का रूप माना है। शब्द की इस बीजभूत सर्जनशक्ति की पहचान ही कवि को यत्नपूर्वक करना होता है।

शब्द की इस बीजभूत सर्जनशक्ति की पहचान का यत्न प्रकारान्तर से कवि की रचना-प्रक्रिया का एक रूप है, जिसे भर्तृहरि ने 'विनियोग' कहा था। शब्द अपने-आप अर्थ नहीं देते, उनका विनियोग करना होता है, उसीप्रकार सामान्य शब्द-व्यवहार 'काव्यार्थ' नहीं देता उसका विशिष्ट विनियोग करना पड़ता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए भामह ने सुकवि और मालाकार का रूपक बाँधा है—जिसप्रकार माली फूलों की ग्राह्यता, सौंदर्य, उपयुक्त सन्निवेश और त्याज्यता पर विचार करके ही उन्हें माला में गूँथता है, उसीप्रकार सावधान बुद्धि से काव्य में शब्द-प्रयोग करना चाहिए।[1] इसप्रकार काव्य में शब्द-संघटना के चार पक्ष हुए—शब्द की ग्राह्यता अर्थात् साधुता अथवा उपयुक्तता, सौंदर्य अर्थात् संदर्भगत रमणीयता, सन्निवेश अर्थात् उचित स्थान पर प्रयोग और त्याज्यता अर्थात् अग्राह्यता। इस रूप में विचारित होने पर ही काव्य सुकाव्य बन पाता है। शब्द-प्रयोग के औचित्य की नियामक, भामह के अभिमत से वक्रोक्ति ही है, क्योंकि वही काव्यार्थ दे सकने में समर्थ है।

---

1. एतद्ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम् ॥—काव्यालंकार, 1/59.

3·2·8. यह काव्यार्थ क्या है ? एक उत्तर तो हो सकता है—'लोकातिक्रान्त-गोचरता', लेकिन इसके अन्य पक्ष भी हैं। भामह ने काव्य के भेद बतलाते हुए उसका शैली के आधार पर गद्य और पद्य, भाषा के आधार पर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तथा स्थापत्य के आधार पर सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेय (नाटक आदि रूपक), आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध (मुक्तक) के रूप में वर्गीकरण किया है। सर्गबंध के लिए रस से जुड़ा होना अनिवार्य बतलाया गया है। अभिनेयार्थ का विवेचन भामह ने यह कहकर नहीं किया है कि अन्य लोगों ने इसकी सविस्तर चर्चा की है। श्रव्यकाव्य के वर्ग में नाटक का स्थानापन्न महाकाव्य है, जिसके लिए भामह ने रस से जुड़ा होना अनिवार्य कहा है और नाटक का नाट्यार्थ आचार्य भरत के साक्ष्य पर 'रस' है ही—न हि रसाकृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्त्तते (ना शा-पृ० 82)। तो क्या भामह काव्यार्थ को रसाश्रित मानते हैं ? सहसा इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता, पर इतना तो स्पष्ट है कि भामह रस-विरोधी नहीं हैं। अतः काव्यार्थ संबंधी उनके अभिमत जानने के लिए कुछ और खोजबीन आवश्यक है :

एक : 'प्रीति' को भामह ने एक काव्य-प्रयोजन माना है, जबकि भरत ने अनेक नाट्य प्रयोजनों में से एक को 'विनोदजनन' कहा था—विनोदजनन लोके नाट्यमेतद् भविष्यति (ना० शा० 1/120)। विनोद' की तुलना में 'प्रीति' निश्चय ही अधिक व्यापक है, जिसे विद्वानों ने 'आनन्द' का पर्याय माना है।[1]

दो : शृंगारादि रस के स्पष्ट निरूपण को भामह ने रसवत् अलंकार कहा है (काव्या-3/6)।

तीन : काव्य और शास्त्र की ग्राह्यता की चर्चा करते समय 'स्वाद' और 'काव्यरस' का स्पष्ट उल्लेख ही नहीं, महत्त्व-प्रतिपादन भी किया गया है। शास्त्र प्रायः दुर्बोध होता है और अल्पबुद्धि के लोग घबड़ाते भी हैं, लेकिन सुस्वादु काव्यरस में मिलाकर शास्त्र का भी सदुपयोग किया जा सकता है, क्योंकि मधु के साथ कड़वी दवा भी लोग पी लेते हैं।[2]

---

1. आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, काव्यालंकार भाष्य, भूमिका, पृ० 10.
2. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्।। काव्यालंकार, 5/3.

चार : न्यायमूलक दोषों के विवेचन-क्रम में भामह ने पुनः रस की चर्चा की है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है रस-सामग्री अथवा समृद्ध वस्तु-परिगणना से सुकाव्य नहीं बनता, उसे हृदयावर्जक भी होना है। ऐसा नहीं होने पर रसवत् काव्य भी कपित्थ पाक (कैथ के फल के समान, जो भीतर तो रसयुक्त होता है, पर पूरा का पूरा कठोर और कसैला) का उदाहरण हो जाएगा। भामह ने जो उदाहरण दिये हैं उससे प्रतीत होता है कि यहाँ 'रसवत्' से उनका तात्पर्य रस-सामग्री से ही है। स्पष्ट ही भामह यहाँ कपित्थपाक की भर्त्सना कर रहे हैं। काव्य के लिए आदर्श द्राक्षापाक को माना जाता है जो सरस तो है ही, साथ ही हृदयावर्जक, सरल तथा आप्यापक होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भामह रस-विरोधी नहीं हैं। हाँ, उन्होंने सिर्फ रस-सामग्री की उपस्थिति अथवा वस्तु-परिगणना को सत्काव्य नहीं माना है, यह तय है। इसलिए भामह सम्मत 'काव्यार्थ' लोकातिक्रान्तगोचरता, सरसता तथा हृदयावर्जकता का संश्लिष्ट रूप होगा। यह हृदयावर्जकता भी भामह के मत में वक्र शब्द, अर्थ और उक्ति से आएगी। इसी त्रिविध वक्रता से लोकातिक्रान्तगोचरता भी आती है और रस की सार्थकता भी, ऐसा भामह का पक्ष प्रतीत होता है।

महाकाव्य के क्रम में रस को स्वीकार करके तथा अन्य प्रसंगों में भी रस की उपयुक्त चर्चा करते हुए भी भामह ने रस को ही काव्यार्थ क्यों नहीं माना, यह प्रश्न उठता है। इसका उत्तर यह है कि समस्त काव्य-भेदों में तो उन्होंने रस, वक्रोक्ति और स्वाभावोक्ति का प्रयोग स्वीकार कर लिया है (काव्या-1/30), लेकिन अनिबद्ध काव्य अथवा मुक्तक में इतना अवकाश नहीं होता कि रस-निष्पत्ति के सारे उपादान वहाँ लाये जा सकें। इसलिए वहाँ वक्रोक्ति का विशेष विधान है। इसके अतिरिक्त श्रव्यकाव्य में नाट्यधर्मों (रंगमंच, नेता, वस्तु आदि) का सारा कार्य शब्द को ही करना होता है, अतः भामह का अभिमत यह है कि यहाँ शब्द का विशिष्ट विनियोग अर्थात् लोकातिक्रान्त प्रयोग, विशेषतः अनिबद्ध काव्य में, अनिवार्य है। श्रव्यकाव्य में, इस दृष्टि से रस-स्थिति भी, शब्द-प्रयोग की त्रिविध वक्रता के आश्रित होगी। इसीलिए भामह ने बार-बार साधु शब्द-प्रयोग तथा दोष की त्याज्यता (काव्या-1/11,5/61) की व्यवस्था दी है।

3·2·9. श्रव्यकाव्य में शब्द-प्रयोग के अतिशय महत्त्व होने के कारण ही भामह ने शब्दशुद्धि पर विशेष बल दिया है तथा काव्य-दोषों की विस्तृत चर्चा की

है। शब्द-शुद्धि के लिए उन्होंने व्याकरण के साथ ही काव्य-परंपरा को भी प्रामाण्य माना है (6/1-3,27)। व्याकरण के नियमों के काव्योपयोगी पक्ष का सोदाहरण विवेचन किया गया है। शब्द, अर्थ और उक्तिगत दोषों का सोदाहरण सविस्तर विवेचन है। नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत्, श्रुतिदुष्ट, अर्थ-दुष्ट, अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देश-काल-कला-लोक-न्याय-आगम विरोध और प्रतिज्ञाहेतुदृष्टांतहीन सामान्य शब्द, अर्थ तथा छन्द से संबद्ध दोष; सात उपमा दोष—हीनता, असंभव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य और असदृशता; रीति-चर्चा के प्रसंग में प्रकीर्ण-रूप में चर्चित अपुष्टार्थता, वक्रोक्तिहीनता, ग्राम्यता और आकुलता तथा अहृद्यता, असुनिर्भेदता, अपेशलता, अस्वर्थ, व्यायतता (अनावश्यक विस्तार) आदि उक्तिगत दोष हैं। ये सारे दोष प्रयोगाश्रित हैं। यों, कहने के लिए कहा जा सकता है कि 'इनका सम्बन्ध काव्य के बाह्य तत्त्वों—शब्द, अर्थ, छन्द आदि—से हैं, आंतरिक तत्त्वों, जैसे रस या ध्वनि से नहीं''[1] लेकिन जैसा कि हमने उपर्युक्त विवेचन में देखा है कि भामह ने काव्य को आंतरिक या बाह्य तत्त्वों में वर्गीकृत करके देखा ही नहीं। रस से वे अपरिचित नहीं परन्तु उनकी दृष्टि में रस-सामग्री की प्रस्तुति ही यथेष्ट नहीं हृदयावर्जकता भी चाहिए और हृदयावर्जकता का काव्य में समावेश लोकातिक्रांत प्रयोग यानि शब्द, अर्थ एवं उक्ति की वक्रता से ही संभव है। इसलिए काव्य के वे आंतरिक गुण भी भामह की दृष्टि में शब्द-प्रयोग की त्रिविधवक्रता के ही आश्रित हैं। अपनी धारणा को वे आत्यंतिक सीमा तक ले जाते हैं कि अरमणीय प्रबन्ध की अपेक्षा एक रमणीय पद भी वरेण्य है।[2]

3·2·10. भामह की उपर्युक्त धारणा में वस्तुतः एक बड़े विवाद का बीज है कि रस वर्णसंघटना के आश्रित है अथवा वर्णसंघटना रस के आश्रित। दूसरे शब्दों में कहें कि यह विवाद गुण और रस के परस्पर आश्रयत्व के प्रश्न से जुड़ा है। भामह का पक्ष यों 'रस' को वर्णसंघटनाश्रित मानने का प्रतीत होता है, लेकिन इसका विवेचन-विश्लेषण उन्होंने नहीं किया है। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों की चलती-सी चर्चा उन्होंने की है (2/1,2,3)। इस चर्चा से पारिभाषिक अर्थ में गुण-सम्बन्धी भामह की धारणा का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। दरअसल, भामह का सारा प्रयत्न शब्द-प्रयोग की त्रिविधवक्रता के स्थापन में लगा है। समासतः भामह ने शब्द-

1. आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, काव्यालंकार भाष्य की भूमिका पृ० 38.
2. पदमेकं परं साधु नार्वाचीननिबंधनम् —काव्या-5/61.

व्यवहार और शब्दव्यापार के व्यवच्छेदक तत्त्व को शब्दप्रयोग की त्रिविधवक्रता के माध्यम से स्पष्ट किया है। भामह की दृष्टि में शब्द-व्यवहार सामान्य लोक-व्यवहार है और शब्दव्यापार लोकातिक्रांत अथवा त्रिविधवक्रता से युक्त कवि का विशिष्ट व्यापार।

3·2·11. (i) शब्द-चिन्तन की दृष्टि से भामह का भाविकत्व सम्बन्धी विवेचन का विशेष महत्त्व है। भाविकत्व को भामह ने प्रबन्धगुण कहा है। इससे भूत और भविष्य प्रत्यक्ष दीखते हैं। अर्थ की चित्रमयता, उदात्तता, अद्भुतता, कथा की अभिनेयता तथा शब्दों की स्वच्छता भाविक के निष्पादक तत्त्व बतलाये गये हैं (काव्या-3/53,54)। भूत और भविष्य की प्रत्यक्षवत् प्रतीति काव्यात्मक बिम्ब का धर्म है। स्पष्ट है कि काव्य में प्रयुक्त शब्द सिर्फ अर्थ ही नहीं, बिम्ब भी देते हैं; बल्कि बिम्बात्मक होना शब्दप्रयोग की अनिवार्य शर्त्त होगी, क्योंकि इसके बगैर 'कथाया: स्वभिनीतता' की स्थिति आएगी ही नहीं—काव्य में शब्द ही दृश्य के वाहक होते हैं। यहाँ बिम्बविधान की स्पष्ट स्वीकृति है, भाविकत्व को मुख्यतः प्रबन्धगुण कहा गया है, लेकिन अनिबद्ध काव्य में भी इसकी स्थिति होती है।

(ii) भाविकत्व के गुण के क्रम में भामह ने शब्दशुद्धि की चर्चा की है। हम यह विवेचित कर आये हैं कि शब्दशुद्धि के लिए भामह ने व्याकरण को प्रामाण्य अवश्य माना है, पर वही एकमात्र प्रमाण नहीं। इस दृष्टि से भामह ने काव्य का निजी व्याकरण प्रस्तुत किया है। व्याकरणगत शब्दशुद्धि काव्यगत शब्द-शुद्धि का एकमात्र निर्धारक नहीं हो सकती; क्योंकि व्याकरण का लक्ष्य शब्द की व्युत्पत्तिजन्य शुद्धि का प्रतिपादन मात्र है, जबकि काव्य में शब्दप्रयोग त्रिविध-वक्रता, बिम्बप्रस्तुति, उदात्तता आदि के लिए होता है। व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध किन्तु दुर्बोध, अपेशल, ग्राम्य, श्रुतिकटु, अप्रतीत शब्द काव्य में प्रयोज्य नहीं (काव्या-6/25,26)।

(iii) भाविकत्व गुण के क्रम में अर्थ की उदात्तता तथा अद्भुतता की चर्चा भी आयी है। अगर यह उदात्तता तथा अद्भुतता न्याय अथवा तर्कविरुद्ध हो तो क्या होगा? क्या न्यायशास्त्र काव्य में अविकल रूप से स्वीकार्य होगा? भामह ने स्पष्ट प्रत्याख्यान किया है। उनका मत है कि सामान्यतः न्यायशास्त्र स्वीकार्य है, किन्तु शास्त्रीय न्याय और काव्यन्याय में अन्तर होता है। काव्यन्याय लोकानुभव के आश्रित होता है, आगमन्याय तत्त्वाश्रित (काव्या-5/33)। यदि ऐसा न हो तो 'आकाश तलवार के जैसा (कृष्णवर्ण) है', 'यह शब्द दूर तक जाता है', 'नदियों का जल

सदा वही रहता है,' 'आकाश में महाज्योतियाँ भी स्थिर हैं' (काव्या-5/34) जैसे काव्यनियोजन संभव ही नहीं, क्योंकि ये सब यथातथ्य विरोधी अर्थ हैं। ऐसे नियोजन लोकाश्रित होते हैं—काव्य की अतिक्रांतगोचरता के ये रूप लोकहृदय सिद्ध हैं। इसीलिए भामह ने स्पष्ट व्यवस्था दी है—अपरंवक्ष्यते न्यायलक्षणं काव्यसंश्रयम् (काव्या-5/30)। काव्यन्याय की कसौटी त्रिविध वक्रतासंपन्न विशिष्ट शब्दव्यापार है और इस शब्दव्यापार की सीमा यह है कि सत् कवि नेयार्थ (दूरारूढ़ अर्थ), क्लिष्ट, अन्यार्थ (अर्थ की अनुपलब्धि), अवाचक (वाच्य अर्थ में शब्द का साक्षात् रूढ़ नहीं होना), अयुक्तिमत्, गूढ़शब्दाभिधान, श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, तथा कल्पनादुष्ट प्रयोग नहीं करते (काव्या-1/37)।

आचार्य दण्डी

3·3·1. आचार्य दण्डी के शब्द-चिन्तन पर विचार करने के पूर्व उनकी (परम्परागत) पृष्ठभूमि का स्पष्टीकरण आवश्यक है, कारण कि भामह की तुलना में ये किसी भिन्न चिन्तन-परम्परा को प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं। अनुमानतः वह तमिल-काव्यशास्त्र अथवा तोलकाप्पियम् की परम्परा रही होगी।

उपमालंकार के स्रोतानुसंधान के क्रम में डॉ० जयशंकर त्रिपाठी ने उपमा और रूपक को मूलतः एक होने की संभावना बतलायी है, साथ ही उनकी यह मान्यता भी है कि "दाक्षिणात्यों ने उपमामुख से और औदीच्यों ने रूपकमुख से उसकी (अलंकार) व्याख्या का आरम्भ किया।"[1] इस धारणा की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि तमिल-लक्षणग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' में उपमा सम्बन्धी विस्तृत निदेश हैं[2] तथा प्रतीप, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार उपमा में ही अन्तर्भुक्त हैं।[3] संस्कृत-काव्यशास्त्र में उपमा का अतिविस्तृत निरूपण सर्वप्रथम दण्डी ने ही किया है। उपमा वाचक 67 पदों की सूची भी पहले-पहल दण्डी ने ही प्रस्तुत की है।[4] यह प्रवृत्ति भी तोलकाप्पियम् की है, वहाँ 36 उपमावाचक पदों की सूची दी गयी

---

1. आचार्य दण्डी और संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन, पृ० 25.
2. डॉ० न० व० राजगोपालन कृत 'तमिल और हिन्दी के काव्यशास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन', परिशिष्ट-1, तोलकाप्पियम् का हिन्दी-अनुवाद, अध्याय–5. पृ० 212-214.
3. उपरिवत्, पृ० 102-106.
4. काव्यादर्श, 2/57-65.

हैं।[1] उपमामुख अलंकार-विवेचन तथा उपमावाचक पदों की सूची की प्रस्तुति[2] इस संभावना को पुष्ट करती है, कि आचार्य दण्डी तोलकाप्पियम् की परम्परा से प्रभाव-ग्रहण कर रहे थे। दण्डी ने काव्य को पारिभाषित नहीं किया है, और तोलकाप्पियम् में भी काव्य-लक्षण नहीं है, इस तथ्य को उपर्युक्त धारणा की पुष्टि में अतिरिक्त प्रमाण के रूप में लिया जा सकता है। स्पष्ट है कि दण्डी के सामने लक्ष्यरूप में संस्कृत की अलंकृत काव्यपरम्परा के साथ ही दाक्षिणात्य काव्य की सहज एवं ऋजु अभिव्यक्ति की आग्रही परम्परा भी थी।

3·3.2. काव्यगत शब्दप्रयोग के सम्बन्ध में काव्यादर्श के प्रारम्भ में ही दण्डी ने तीन व्यवस्थाएँ दी हैं: (i) वाणी के प्रसाद से ही संपूर्ण लोकयात्रा (लोक-व्यवहार) होती है (काव्यादर्श, 1/3), (ii) शब्दरूप वाङ्मय ही संसार में (ज्ञानरूप) दीप्ति का कारण है, जिसके अभाव में त्रिलोक अंधकारग्रस्त हो जाएगा। वाङ्मय के शब्दबिम्ब में प्रतिबिम्बत पुरातनपुरुषों के यश अमर हैं (का० 1/4, 5) और (iii) शब्द का सम्यक् प्रयोग कामधेनु की तरह कामनापूर्ति करने वाला और दुष्प्रयोग वृषत्व अथवा बैल की मूर्खता प्रदर्शित करने वाला होता है। अतः काव्य में स्वल्प दोष भी स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि सुन्दर शरीर भी केवल एक श्वेतकुष्ठ चिह्न से सौभाग्यहीन हो जाता है (का०1/6,7)। पहली व्यवस्था का सम्बन्ध सामान्य शब्द-व्यवहार से है। दूसरी व्यवस्था वाङ्मय के शाश्वत मूल्यों पर बल देती है। और तीसरी उस मूल्यवत्ता को सम्यक् शब्दव्यापार के आश्रित बतलाती है।

3·3·3. यह सम्यक् शब्दव्यापार क्या है? दण्डी ने 'सम्यकत्व' और शब्दव्यापार दोनों पर (नामतः न सही) विचार किया है।

(क) ऐसे अनेक संकेत दण्डी ने दिये हैं, जिनका सम्यकत्व के स्वरूप-निर्धारण में उपयोग किया जा सकता है:

महाकाव्य के क्रम में निदेश—

(i) अलङ्कृतमसङ्क्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्। 1/18.

(ii) काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति। 1/19.

---

1. 'तमिल काव्यशास्त्र', अध्याय-5, सूत्र-11, हिन्दी और तमिल काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 212.
2. वैसे, निरुक्त में भी 12 उपमावाचक पद आए हैं: सदृश (3/13), यथा, इव, यावद्, ये, वा (3/15), आ, भूत, रूप, था, अमुथा और वत् (3/16)। इनमें से सिर्फ इव, वत्, वा, यथा और सदृश ही काव्यादर्श में स्वीकृत हैं।

मार्गगुण के क्रम में संकेत—

(i) श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ।। 1/41.
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणादशगुणाः समृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।। 1/42.

(ii) कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथापि अग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ।। 1/62.

(iii) तदेतत्काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः। 1/100.

महाकाव्य के संदर्भ में दिये गये निदेश में भाव तथा रस के अव्यवहित प्रवाह पर बल है। लेकिन भाव तथा रस के नैरन्तर्यमात्र से काव्य की प्रभावापन्नता शाश्वत नहीं रह पाती, ऐसी दण्डी की मान्यता है। इसीलिए वे सदलंकृति की व्यवस्था देते हैं। अर्थात् भाव तथा रसतत्त्व के आस्वाद्य रूप से दण्डी इनकार तो नहीं करते, लेकिन वे यह मानते प्रतीत होते हैं कि वह आस्वाद स्थायी हो, शाश्वत हो, इसके लिए सदलंकृति की योजना कवि अवश्य करे। यह सदलंकृति क्या है ? शब्दार्थ रूप अलंकार तो सर्वज्ञात हैं, लेकिन उनका सत् रूप क्या होगा ? दण्डी के अनुसार शब्दार्थरूप अलंकार काव्य के शोभाधर्म हैं : काव्य शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते (2/1)। शोभाकारक धर्म का प्रयोग दण्डी ने पारिभाषिक अर्थ में किया है। शोभा बाहरी सजावट का पर्याय नहीं, बल्कि काव्य की समस्त कांति, तेजस्विता तथा भव्यता का प्रतीक है। काव्यनिर्मिति शब्दाश्रित है, दण्डी ने इसे 'इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' (1/10) कहा है। यह काव्यशरीर है, लेकिन उस 'शरीर' की शोभा को अभिव्यक्त करने वाला तत्त्व 'अलंकार' है। अलंकार को दण्डी ने शोभाकारक धर्म कहा है, धर्म अर्थात् स्वभाव या प्रकृति। अतः दण्डी की दृष्टि में अलंकार, 'इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' का स्वभाव है, वे होंगे ही—वे स्वयंसिद्ध हैं। इसलिए दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि अलंकारों के नये-नये विकल्प निकलते रहते हैं। फलतः उनकी समग्र गणना नहीं की जा सकती (2/1)। इस प्रकार दण्डी ने अलंकार को कवि के वाग्विकल्प से जोड़ दिया है, वह भी ध्वनिकार के बहुत पहले। उनकी सरणि में अलंकार काव्यत्व का स्वभाव है—धर्म है, जो काव्य की दीप्ति, उसकी भव्यता को उजागर करता है।

'शोभाकरान्' पद से यह भी स्पष्ट होता है कि अलंकार शोभा को सक्रिय बनाने वाले साधन हैं। अलंकार को ही 'साध्य' दण्डी भी नहीं मानते, वह हैं साधन ही; लेकिन स्वभावगत साधन, अर्जित अथवा आयातित साधन नहीं।

अब दूसरे प्रश्न को लें, अलंकृति का सत् रूप क्या है। 'सदलंकृति' के उल्लेख से यह तो स्पष्ट ही है कि दण्डी की धारणा में 'सदलंकृति' के साथ-साथ 'असदलंकृति' का रूप भी रहा होगा। महाकाव्य सम्बन्धी निदेश के क्रम में दण्डी ने कहा है कि निर्दिष्ट विषयों में से यदि कुछ का वर्णन नहीं भी किया गया हो तब भी उससे महाकाव्य में न्यूनता नहीं आती। शर्त सिर्फ यह है कि रसभावनैरन्तर्य जो काव्य की वास्तविक अर्थसम्पदा है, बना रहे। अतः असदलंकृति का एकपक्ष है 'रसभावनैरन्तर्य' में व्याघात अथवा बाधा। असदलंकृति का दूसरा पक्ष है काव्यगुणों का अभाव और तीसरा सदोषता। इसप्रकार 'सदलंकृति' के तीन पक्ष दण्डी को अभिमत हैं—रसभावनैरन्तर्य, काव्यगुणों का समावेश तथा अलंकृति और दोषाभाव। इनमें रसभावनैरन्तर्य तो काव्य की उपात्त (गृहीत) अर्थसम्पदा है; गुण, अलंकार और दोषभाव सम्यक् शब्दप्रयोग के पक्षत्रय हैं। दोष विशेषतः ग्राम्यदोष के अभाव को ही निषेक का दायी कहा गया है, गुण को काव्य का प्राण और समाधि को सर्वस्व कहा गया है।

3·3·4. (क) दण्डी का समस्त प्रयत्न वस्तुतः सम्यक् शब्दप्रयोग की गुणमुखेन व्यवस्था में लगा है। पहली बार गुणों का इतना व्यवस्थित विवेचन किया गया है। वस्तुतः दण्डी का गुणविवेचन शब्दशास्त्र का काव्यसन्दर्भ है—काव्यात्मक शब्दप्रयोग-प्रविधि का व्यावहारिक निदर्शन। अतः शब्द-चिंतन की दृष्टि से दण्डीकृत व्यवस्थाओं का विवेचन जरूरी है।

(ख) दण्डी ने दश गुणों की व्यवस्था दी है : श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, औदार्य, ओज, कान्ति और समाधि। ये दशगुण वैदर्भ (दाक्षिणात्य) मार्ग के प्राण कहे गये हैं (1/41, 42)। गौडमार्ग में इनके विपरीत प्रयोग होते हैं।

(i) **श्लेष**—शैथिल्यविहीन पदरचना श्लेषगुण कहा गया है। अल्पप्राण वर्णों का आधिक्य शैथिल्य है (1/43)। 'क' वर्ग आदि के तृतीय, पंचम तथा य, व, र, ल अल्पप्राण वर्ण हैं। अतः श्लेषगुण का तात्पर्य वर्णों का सुगुम्फन तथा संघटना अथवा वर्ण-संसृष्टि है।

(ii) **प्रसाद**—सुपरिचित अर्थयुक्त तथा सरलता से समझ में आने वाले वाक्य को प्रसाद गुण कहा गया है (1/45)। तत्काल अर्थप्रतीति प्रसाद गुण का बीज है, अतः प्रसिद्धार्थयुक्त शब्दों का प्रयोग प्रसाद गुण है।

(iii) **समता**—काव्य में आद्यन्त एक ही प्रकार के बन्ध अथवा वर्णसंघटना समता है। बन्ध अथवा वर्णसंघटना के तीन प्रकार हैं–मृदु, स्फुट और मध्यम अथवा मिश्र (1/47)। मृदु वर्णविन्यास अर्थात् ह्रस्व स्वर, वर्ग के अन्त्याक्षर एवं दन्त्यवर्ण से युक्त बन्ध 'मृदुबन्ध'; दीर्घ स्वर, ओष्ठ्यवर्ण तथा ठडशषसह से युक्त स्फुट वर्णविन्यास 'स्फुटबन्ध' और इन दोनों का मिश्ररूप 'मध्यम' बन्ध कहा जाता है। ये त्रिविध वर्णविन्यास प्रकारान्तर से असमास, दीर्घसमास और अल्पसमास कहे जाते हैं और क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीतियों के रूप हैं।

(iv) **माधुर्य**–रसव्यंजक वर्णविन्यास तथा अर्थयोजना माधुर्य गुण के लक्षण हैं (1/51)। स्पष्ट ही दण्डी ने विशिष्ट वर्ण-विन्यास को काव्य में रसस्थिति का हेतु माना है। उनका अभिप्राय श्रुत्यनुप्रासजन्य विशिष्ट वर्णविन्यास से है—श्रुत्यनुप्रास को दंडी 'रसावहा' कहते हैं। समान कंठादि उच्चारणस्थानजन्य वर्णों की अबाधित श्रुति से भावोद्वेलन होता है। अतः वैसे ही, समस्थानिक वर्णों से युक्त पदों का प्रयोग श्रुत्यनुप्रास है और ऐसे प्रयोग रसव्यंजक होते हैं।[1] दण्डी ने समस्थानिक वर्णों वाले शब्दसाम्य पर आधारित श्रुत्यनुप्रास (वैदर्भी) तथा वर्ण की आवृत्ति वाले अनुप्रास (गौडीय) में प्रयत्नपूर्वक अन्तर दिखलाया है। उनकी दृष्टि में सामान्य आनुप्रासिकता (छेक, वृत्त्य) में वह रसावहक्षमता नहीं होती जो समस्थानिक उच्चार्यमाण वर्णों वाले शब्दसाम्य में होती है, क्योंकि पहली अवस्था में माधुर्य हो भी सकता है और नहीं भी, लेकिन दूसरी अवस्था अनिवार्यतः माधुर्ययुक्त होगी।

(v) **सुकुमारता**—कर्णकटु रहित अक्षर से युक्त वाक्य सुकुमारता है (1/68)। यह आवश्यक नहीं कि सारे वर्ण श्रुतिमधुर हों, वैसी स्थिति में शैथिल्य दोष आ जाने की सम्भावना होती है। इसीलिए दण्डी ने 'अनिष्ठुराक्षर प्रायं' की व्यवस्था दी है, अर्थात् अधिकांश वर्ण तो श्रुतिमधुर हों ही। दण्डी की यह स्पष्ट धारणा है कि अलंकारादि के अस्फुट

---

1. यया कयापिच्छ्रुत्या यत्समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा॥—काव्यालंकार, 1/52.

रहने पर भी सुकुमारता गुण रहने पर काव्य सहृदय के लिए आकर्षक बन जाता है (1/71)। प्रकारान्तर से अलंकार की अपेक्षा गुण को वे प्रश्रय देते प्रतीत होते हैं, क्योंकि अलंकार तो शोभाकारक धर्म हैं, लेकिन गुण प्राण हैं और 'धर्म' की उपयोगिता प्राणवान् होने पर ही सिद्ध है।

(vi) **अर्थव्यक्ति**—अध्याहार (आकांक्षित अर्थ के लिए अतिरिक्त शब्द को ले लेना) के बिना ही विवक्षित अर्थ की अभिव्यक्ति 'अर्थव्यक्ति' गुण है। (1/73)। तात्पर्य यह है कि काव्यार्थबोध के लिए काव्य में प्रयुक्त शब्दों के अतिरिक्त किसी अन्य शब्द को आयत्त करने अथवा किसी अन्य क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता जहाँ न पड़े, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण है। इसका स्वारस्य यह है कि काव्य में प्रयुक्त पदावली इष्टार्थ को व्यक्त कर सकने में पूर्ण समर्थ होनी चाहिए।

(vii) **उदार**—काव्य में आयी उक्ति से उत्कृष्ट अर्थ का बोध उदार गुण है (1/76)। तात्पर्य यह है कि काव्य में यदि ऐसी उक्ति (वाक्य) आये कि जिससे किसी लोकोत्तर चमत्कारी अर्थ का बोध हो तो वहाँ उदार गुण होता है। यहाँ प्रश्न अलंकृति आदि का नहीं, सहज प्रयोग में ही लोकोत्तर चमत्कार की प्रतीति का है।

(viii) **ओज**—समास बहुलता को दण्डी ने ओजगुण कहा है (1/80)। गुरु वर्ण, लघु वर्ण तथा इनके मिश्रित रूप में समास बहुलता के आधार पर ओज के तीन रूप माने गये हैं।

(ix) **कांति**—इसकी दो शर्तें रखी गयी हैं—सर्वप्रियता तथा लोकप्रसिद्ध अर्थ का अतिक्रांत नहीं होना। यहाँ अर्थ का हृद होना वस्तुतः उक्ति में विशिष्ट शब्दविन्यास पर निर्भर होता है (1/85)। दण्डी के अभिमत में अत्युक्तिजन्य चमत्कार कांति गुण का विषय नहीं।

(x) **समाधि**—इसे दण्डी ने 'काव्यसर्वस्व' कहा है (1/100)। अप्रस्तुत के धर्म को प्रस्तुत में सम्यक्‌रूपेण आधान अथवा आरोप समाधि गुण है (1/93)। समाधि गुण में एक प्रकार से समस्त अप्रस्तुत-विधान, लाक्षणिकता तथा वाग्वैदग्ध्य का समावेश हो जाता है।

(ग) दण्डी की गुण-व्यवस्था मूलतः शब्दाश्रित है, सौशब्द्य-प्रविधि की व्यवस्था है; यों प्रधानता की दृष्टि से उन्हें शब्दगुण और अर्थगुण के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। मोटे तौर पर श्लेष, समता, सुकुमारता तथा ओज शब्दगुण

हैं; प्रसाद, अर्थव्यक्ति, उदारता, कांति तथा समाधि अर्थगुण और माधुर्य शब्दार्थोभय गुण। लेकिन क्या ऐसा वर्गीकरण दण्डी को भी अभिमत रहा? स्पष्ट ही, दण्डी को वैसा कोई भी वर्गीकरण अभिमत नहीं है। निर्दिष्ट गुण वस्तुतः उक्ति के गुण हैं, इन गुणों से जुड़कर 'उक्ति' 'सूक्ति' बन जाती है।

3·3·5. (क) उपर्युक्त संदर्भ में 'शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' (1/10) संबंधी दण्डीकृत स्थापना व्याख्येय है। 'शरीरं' से दण्डी का मन्तव्य काव्य-शरीर है। तो क्या यह अनुमान लगाया जाय कि वे काव्यात्मा की खोज भी कर रहे थे? सहसा ऐसा प्रतीत नहीं होता, लेकिन किंचित् गहराई से विचार करने पर दण्डी का अभिमत स्पष्ट होता है। हमने उपर्युक्त विवेचन में देखा है कि दण्डी काव्य में रस-स्थिति से अपरिचित नहीं, सदलंकृति की एक अनिवार्य शर्त रसभाव नैरन्तर्य का होना भी मानते हैं; इतना ही नहीं, रसवदलङ्कार के क्रम में उन्होंने शृंगारादि रसों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। रसवत् को वे 'रसपेशल' कहते हैं (2/275)। विभावादि परिपुष्ट होने पर स्थायीभाव कैसे रसरूप बनता है, इस प्रक्रिया का संकेत भी प्राप्त है (2/281)। फिर भी वे रस को काव्यात्मा नहीं कहते।

दूसरी ओर दण्डी ने गुण को काव्य का प्राण कहा है और समाधी गुण को काव्य का सर्वस्व। लेकिन यहाँ भी आत्मा का प्रश्न नहीं उठा। वस्तुतः उनकी खोज काव्यात्मा की खोज थी भी नहीं, वे तो काव्य तथा उसके मार्ग की क्रियाविधि(1/9) को व्यवस्था दे रहे थे।

काव्य की क्रियाविधि एक प्रकार से सदलंकृतिप्रक्रिया का पर्याय है, जिसके तीन प्रक्रियात्मक पक्ष हैं—रसभावनैरन्तर्य, गुणालंकार और दोषाभाव। इस त्रिप्रक्रियात्मक सदलंकृति से ही वैसी विशिष्ट पदावली का सर्जन संभव होगा जो कवि के इष्टार्थ को, अन्य अर्थों से पृथक् स्थापित तथा विशेषीकृत रूप दे सकेगा। अतः दण्डीसम्मत काव्यात्मा यदि कोई है तो वह 'इष्टार्थ' है। 'इष्टार्थ' की व्याख्या दण्डी ने नहीं की है, फिर भी यह तो तय है कि इसके माध्यम से दण्डी ने कविपक्ष से काव्यसर्जन का महत् प्रश्न उठाया है। यह बात दूसरी है कि इसका पल्लवन वे नहीं कर सके।

(ख) 'इष्टार्थ' को काव्य-सर्जन का नाभिक मान लेने के बाद दण्डी ने सारा ध्यान अभिव्यक्तिप्रक्रिया के परिणतरूप काव्यशिल्प पर केन्द्रित कर दिया है। रस भावनैरन्तर्य उस काव्य-शिल्प की धुरी है, गुण कवि के 'इष्टार्थ' की प्राणवत्ता को उजागर करते हैं, अलंकार उनमें प्रभावापन्नता तथा निखार लाते हैं और दोषाभाव

इष्टार्थ के औचित्य को प्रतिष्ठापित करते हैं। इन प्रक्रियाओं से गुजर कर ही कवि का इष्टार्थ, अन्य जीवनअर्थों से विशिष्ट रूप में, प्रस्थापित होता है। 'इष्टार्थ' कवि का जीवनबोध है और सदलंकृति' कवि के जीवनबोध का अभिव्यस्त रूप अर्थात् काव्यबोध। जीवनबोध और काव्यबोध के इस अन्तर को दण्डी ने पहचाना था; यह तो उनका महत् श्रेय है ही, साथ ही उन्होंने उक्त जीवनबोध के काव्यात्मक होने को अभिव्यक्ति से भी जोड़ दिया है। यह दण्डी का अतिरिक्त महत्त्व है, क्योंकि सिर्फ जीवनबोध काफी नहीं है—सिर्फ 'इष्टार्थ' काव्य नहीं; उसे प्रस्थापित करने वाली, अन्य अर्थों से विशिष्ट बनाने वाली अभिव्यक्ति भी चाहिए। इस अभिव्यक्ति के व्यावहारिक रूप को ही उन्होंने क्रियाविधि यानि सदलंकृति कहा है। दृष्टिकोण में इसी व्यापकता के कारण वे गुण को अलंकार की अपेक्षा वरीयता देते हैं, क्योंकि अभिव्यक्ति के लिए शोभायुक्त होना ही पर्याप्त नहीं, उसे प्राणवान भी होना है। इसी दृष्टिप्रसार के कारण वे स्वाभावोक्ति को भी अलंकार मान पाते हैं (2/8) और रसभाव को भी (2/275)।

3·3·6. (क) दण्डी ने आचार्य भरत द्वारा विवेचित नाट्यसन्धि और उसके अंग, वृत्ति और उसके अंग, लक्षण आदि (नाट्यालंकार) को अलंकार में अन्तर्भुक्त कर लिया है।[1] भामह के शब्द-चिन्तन सम्बन्धी विवेचन के क्रम में हमने यह स्थापना दी थी कि वे नाट्यसम्मित विधानों के स्थानापन्न रूप में शब्द की काव्यगत भूमिका की तलाश कर रहे थे और शब्द की काव्यगत भूमिका का विवेचन उन्होंने त्रिविध वक्रोक्ति के रूप में किया था। लेकिन शब्द की इस काव्यगत भूमिका में, संध्यंग आदि के अलंकाररूप अन्तर्भाव की प्रथम स्पष्ट स्वीकृति का श्रेय दण्डी को है।

नाटक में कथानक के कार्यव्यापार (कथाविकास) तथा अर्थप्रकृतियाँ (विकास की अवस्थाएँ) को जोड़ने वाले कथनों को नाट्यशास्त्र में 'सन्धि' कहा गया है। सन्धियाँ पाँच हैं: मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण (ना. शा. 21/6) मुख सन्धि के अंग हैं: उपक्षेप (व्यंजना), परिकर (वृद्धि), परिन्यास (व्यवस्था), विलोभन (लोभ), युक्त (तर्कपूर्ण कथन), प्राप्ति, समाधान, विधान (भावों की टकराहट), परिभावना (कुतूहल), उद्भेद (परिचय), करण (क्रियात्मकता), और भेद। प्रतिमुख (प्रगति) सन्धि के तेरह अंग हैं: विलास (रति इच्छा), परिसर्प (वस्तु-अनुसरण), विधूत (अस्वीकृति), तापन (भय का आभास), नर्म (हास्य), नर्मद्युति,

---

1. यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव न॥ काव्यादर्श, 2/367

प्रगमन, निरोध (बाधा), पर्युपासना (क्रोधशान्ति), पुष्प (मधुरवचन), वज्र (कठोरवचन), उपन्यास (तर्कसंगत संदर्भ), और वर्णसंहार (ब्राह्मणादि वर्णों का मिलना)। गर्भ (विकास) सन्धि के अंग इस प्रकार हैं—भूतहरण (कपटवचन), मार्ग (उद्देश्यकथन), रूप (चित्र, अर्थ से युक्त वितर्क), उदाहरण (अतिशयोक्तिपूर्ण वचन), क्रम (भावतत्त्व की उपलब्धि), संग्रह (साम, दाम, अर्थ का योग), अनुमान, प्रार्थना (रतिक्रीड़ा, हर्ष, उत्सव आदि की प्रार्थना), आक्षिप्त (विकास का उपक्रम, उद्भेद), तोटक (क्रुद्धवचन), अधिबल (वाक्छल), उद्वेग (राजा आदि से भय) और विद्रव (राजा, अग्नि से भयाक्रांत)। विमर्श अथवा अवमर्श सन्धि के तेरह अंग हैं: अपवाद (दोषप्रख्यान), संफेट (रोषग्रथित वाक्य), अभिद्रव (गुरुजनों की अवमानना), शक्ति (विरोध का उपशम), व्यवसाय (किसी कारणवश प्रतिज्ञा), प्रसंग (गुरुजनों से वार्ता), द्युति (अपमानबोधक शब्द), खेद (मानसिक श्रम से उत्पन्न थकावट), निषेध (ईप्सितार्थ में बाधक), विरोध (उत्तेजक वार्तालाप), आदान (बीज अर्थ-प्रकृति और कार्यावस्था के सारे पक्षों का एकत्ररूप), सादन (किसी उद्देश्य से अपमानजनक वाक्य-प्रयोग) और प्ररोचना (संहार अथवा निर्वहण की पूर्व-सूचना)। संहार या निर्वहण के अंग इस प्रकार हैं : संधि (मुख और बीज की संधि), विबोध (कार्यान्वेषणयुक्तता), ग्रथन (कार्य के विभिन्न पक्षों का उपक्षेप), निर्णय (अनुभूत कथन), परिभाषण (परिवाद), कृति (लब्ध अर्थ के प्रयोग में प्रवृत्त होना), प्रसाद (सेवा-शुश्रुषा), आनन्द (इच्छापूर्ति से उत्पन्न हर्ष), समय (सभी दुखों की समाप्ति), उपगूहन (अद्भुत संप्राप्ति), भाषण (साम, दान आदि से संबद्ध कथन), पूर्ववाक्य (पूर्वकथन की ओर संकेत), काव्य-संहार (वरदान देना, प्राप्त करना) और प्रशास्त। (ना. शा-21वाँ अध्याय)

नाटक में उपर्युक्त सन्ध्यंगों के प्रयोग का माध्यम भाषा है। अभिनय के क्रम में इन सन्ध्यंगों के उपयोग से नाटक के कार्यव्यापार तथा विकास की अवस्थाओं से निष्पन्न नाट्यफल की सूचना पाठकों अथवा प्रेक्षकों को मिलती रहती है। प्रबन्धकाव्य में अभिनयतत्त्व नहीं होता, किंतु कथाव्यापार होता है और वहाँ इन सन्ध्यंगों के प्रयोग से कथासौंदर्य में वृद्धि होती है। इसी अर्थ में आचार्य दण्डी ने प्रबन्धसंदर्भ में इन सन्ध्यंगों को अलंकार कहा है।

(ख) वृत्तियों की वाग्रूपता की चर्चा हम द्वितीय अध्याय में कर आये हैं। भरत ने वृत्तियों के प्रकार की व्यवस्था भी दी है। भारती वृत्ति को वाक् प्रधान कहा गया है, जिसे सिर्फ पुरुष ही प्रयोग करते हैं। इसके अंग हैं—प्ररोचना (प्रारंभिक घोषणाएँ), मुख अथवा आमुख (प्रस्तावना के अन्तर्गत उद्घात,

कथोद्गात, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक, अवलगित–स्थानान्तरण और आमुख कथन), वीथि तथा प्रहसन (ना० शा० 22/26-37)। सात्त्वती वृत्ति सत्त्व, न्याय, छन्द, उत्कट हर्ष, संहृत शोकभाव की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होती है। इसमें वागाभिनय तथा अंग-संचालन का योग होता है; उत्थापक (संघर्ष तथा शक्ति-प्रदर्शन की चुनौती देना), परिवर्तक (उत्थापक से भिन्न आवश्यकतानुसार अन्य अर्थ का कथन), संलापक (अनेक प्रकार के आक्षेप वचन) और संघात (मित्र के हित के लिए, दैववश अथवा आत्मदोष के कारण सम्बन्ध-विच्छेदजन्य वचन) इसके अंग हैं (ना० शा० 22/38-46)। कैशिकी वृत्ति सर्वरूपेण माधुर्ययुक्त होती है। नाटक में स्त्रियों के वस्त्राभूषण, अनेक प्रकार के नृत्य-गीत तथा कामोपभोग के विविध उपचारों के रूप में यह अत्यन्त आकर्षक होती है। इसके चार अंग हैं—नर्म (वीरोचित भाव रहित, हास्य-प्रवचन बहुल, श्रृंगारसम्मत वचन तथा चेष्टाएँ, ईर्ष्या, क्रोध, उपालंभ आदि से संबद्ध वचन), नर्मस्फूर्ज (रतिभाव के उत्तेजक वचन, वेष आदि के साथ प्रथम मिलन, जिसका अवसान भय में हो), नर्मस्फोट (अनेक भावों से युक्त असमग्राक्षिप्त रसस्थिति) और नर्मगर्भ (नायक द्वारा अपने रूपगुण का प्रदर्शन) (ना० शा० 22/49, 53)। आरभटी वृत्ति के अन्तर्गत उद्धत नायक की बहुवाक्यता, कपट, दम्भादि के प्रदर्शन आते हैं। उछलकूद, युद्ध, इन्द्रजाल सम्बन्धी प्रदर्शन आदि इसी वृत्ति के अंग हैं। इसके चार प्रकार बतलाये गये हैं: संक्षिप्तक (सम्बद्ध चित्तादि से रंगमंचविधान), अवपात (भय, आतंक आदि से उत्पन्न तीव्र क्रिया, भगदड़, क्षिप्र प्रवेश अथवा निकलना आदि), वस्तु उत्थापन (भयाक्रांतता, आतंक अथवा आतंकित को आश्रय दिये जाने से संबद्ध सारे भावावेग) और संफेट (उत्तेजक अवस्था, द्वन्द्वयुद्ध, शस्त्रप्रहार, कपटाचरण, धोखाधड़ी आदि दृश्य) (ना० शा० 2?/57-62)।

ये वृत्तियाँ रंगमंचीय विधान तथा अभिनय के रूप हैं, अतः नाट्याश्रित हैं। दण्डी का दृष्टिकोण यह है कि प्रबन्धकाव्य में इन वृत्तियों को साक्षात् सहृदय संवेद्य बनाने का दायित्व शब्दों का है, अतः वे श्रव्यकाव्य के संदर्भ में अलंकार हैं।

(ग) सन्ध्यंग आदि को अलंकार मानने के क्रम में दण्डी ने 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है। यह 'आदि' शब्द अन्य नाट्यालंकारों की ओर संकेत करता है। भरत ने नाटक के सुन्दर, प्रभावशाली तथा समग्ररूपेण रसाक्षिप्त बनाने वाले प्रत्येक तत्त्व को नाट्यालंकार कहा है। नाट्यालंकार के अन्तर्गत अभिनयकौशल, संवाद-पाठ, नायिकाओं के अंगज-सत्त्विक आहार्य रूप, संगीत की स्वर-रचना आदि सभी ले लिए गये हैं। दण्डी भी इन्हें प्रबन्ध-अलंकार मानने के आग्रही हैं। उनका पक्ष यह

है कि नाट्य के तीन तत्त्व वस्तु, नेता और रस प्रबन्ध में भी यथावत् होते हैं (काव्यादर्श, 1/14-22); किन्तु, नाट्यसम्मित अभिनय, रंगमंच-विधान, संगीत, नृत्य आदि का प्रबन्ध में अभाव होता है। अतः, अलंकारविधान के माध्यम से ही इनकी क्षतिपूर्ति होती है। कवि का शब्दविधान ही इतना शोभाकर (अलंकृत) होता है कि नाट्यसम्मित अभिनयादि का अभाव खटकता नहीं। भरत ने आदर्श नाटक के लिए वृत्ति, वृत्त्यंग, पंचकार्यावस्था, पंचअर्थप्रकृतियाँ, पंचसंधि, इक्कीस सन्ध्यन्त, चौंसठ संध्यंग, छत्तीस लक्षण, गुण, अलंकार, रस, उदात्तवचन, मृदुशब्द-विधान और रंगमंचीय अभिनेयता की नाट्यविधि जन्य (तकनीक) व्यवस्था दी थी।[1] दण्डी ने इन समस्त नाट्यविधियों को, प्रबन्धकाव्य के संदर्भ में, शब्दविधान की अलंक्रिया में अन्तर्भुक्त कर लिया है।

3·3·7. (क) काव्य में शब्दोपचार की दृष्टि से दण्डी ने तीन प्रयोगविधियों की चर्चा की है :

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ --काव्यादर्श, 2/263

उपर्युक्त व्यवस्था में स्वभावोक्ति प्रयोगविधि और वक्रोक्ति प्रयोगविधि की स्पष्ट स्वीकृति है। श्लेष, दोनों प्रयोगविधियों, विशेषतः वक्रोक्ति का पोषक है और, इस रूप में वह सर्वपोषक प्रयोगविधि है। इनके अतिरिक्त अपेक्षाकृत न्यून रसपोषक तथा साधारण चमत्कारी (काव्यादर्श, 1/61) शब्दविधान के रूप में यमक, दुष्करमार्ग के रूप में चित्रालंकार (काव्यादर्श, 3/79) और रसविरोधी होने के बावजूद आमोदगोष्ठी के वाग्व्यवहार के उपयुक्त 'प्रहेलिका' (काव्यादर्श, 3/97) की व्यवस्था दण्डी ने दी है। यमक, चित्रालंकार तथा प्रहेलिका क्रमशः रस एवं चमत्कारशून्य होते जाते हैं, अतः अनुमान होता है कि दण्डी की दृष्टि में यमक तक

1. वृत्तिवृत्त्यंगसम्पन्नं पदार्थप्रकृतिक्षमम्।
पञ्चावस्थासमुत्पन्नं पञ्चभिः सन्धिभिर्युतम् ॥113॥
सन्ध्यन्तरैकविंशत्या चतुःषट्यङ्गसंयुतम्।
षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतं गुणालङ्कारभूषितम् ॥114॥
महारसं महाभोगमुदात्तवचनान्वितम्।
महापुरुषसञ्चारं साध्वाचारजनप्रियम् ॥115॥
सुश्लिष्टसन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम्।
मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ॥116॥
—नाट्यशास्त्र, अध्याय-21.

तो अलंकार रूप में मान्य है, अन्य दो को वे काव्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं कर पाते। इसप्रकार, प्रकारान्तर से दण्डी ने भावी काव्य-कोटिक्रम का निर्धारण कर दिया है।

(ख) भामह ने स्वाभावोक्ति को चमत्कारशून्य मानते हुए उसे न तो अलंकारवर्ग में रखा था और न काव्यगत शब्दविधान की प्रयोगविधि के रूप में स्वीकार किया था। लेकिन दण्डी की मान्यता भिन्न है। चूँकि दण्डी ने गुणरूप शब्दविधान को काव्य का प्राण माना है, इसलिए उन्हें स्वाभावोक्ति को एक सामान्य अलंकार (अर्थालंकार–काव्यादर्श, 2/3,4) के रूप में स्वीकारने तथा काव्यगत शब्द-विधान की एक प्रयोगविधि बतलाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। सामान्य अर्थालंकार के रूप में वस्तु की नानावस्थाओं तथा उसके स्वरूप की प्रत्यक्षवत् प्रस्तुति स्वभावोक्ति कही गयी है (काव्यादर्श, 3/8)। वस्तुओं के नानारूपों की ऐसी प्रस्तुति जो प्रत्यक्षवत् संवेद्य हो स्वभावोक्तिजन्य अलंकृति है। इसके चार प्रकार कहे गये हैं—जातिरूप नानावस्था, क्रियारूप नानावस्था, गुणरूप नानावस्था और द्रव्यरूप नानावस्था।

काव्यगत शब्दविधान की प्रयोगविधि के रूप में स्वाभावोक्ति को स्वीकार करते हुए दण्डी ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि शास्त्र में तो स्वाभावोक्ति का साम्राज्य है ही, काव्य के लिए भी यह ईप्सित (प्रयोगविधि) है।[1]

3·3·8. वक्रोक्ति का पृथक् अलंकाररूप में निरूपण दण्डी ने नहीं किया है। लेकिन भामह का साक्ष्य यदि लें कि लोकातिक्रांतगोचरता ही अतिशयोक्ति है और यह वक्रोक्ति की पर्याय है, तब दण्डी की मान्यता भी स्फुट होती है। दण्डी ने अति-शयोक्ति को एक पृथक् अलंकार मानते हुए भी, यह व्यवस्था दी है कि अतिशयोक्ति समस्त अलंकारवर्ग के बीजस्थ है।[2] वस्तुतः स्वाभावोक्ति भी दण्डी के मतानुसार वस्तु के 'नानावस्था स्वरूप उद्घाटन' में ही होती है, एकावस्था वर्णन में नहीं। इसप्रकार दण्डी का अभिमत भी यही प्रतीत होता है कि सपाटबयानी की तुलना में काव्य में कुछ-न-कुछ अतिशय शब्दविधान होगा ही। जहाँ यह अतिशय शब्दविधान

---

1. जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम् ।
   शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ।। —काव्यादर्श, 2/13.
2. अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
   वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् । —काव्यादर्श, 2/220.

वैचित्र्यरहित होगा वहाँ स्वाभावोक्ति होगी और जहाँ वैचित्र्यसन्निवेश होगा वहाँ वक्रोक्ति। जिसप्रकार विभिन्न वैचित्र्यविकल्पों तथा मात्रा के अनुसार उपमा, रूपक आदि संज्ञाएँ होती हैं, उसीप्रकार अत्यधिक वैचित्र्यसन्निवेश अतिशयोक्ति कहलाती है।

3·3·9. श्लेष को दण्डी ने समस्त अलंकृति-विधान का पोषक बतलाया है, और यह भी कि इसका वास्तविक चमत्कार वक्रोक्ति वाङ्मयरूप में स्फुट होता है। यों, एक ही अक्षर–सङ्घातरूप शब्द की अनेकार्थता में ही श्लेष होता है, लेकिन अलंकार-रूप में ऐसे शब्दों का प्रयोग प्रसंगादि के आग्रह से अर्थगांभीर्य उत्पन्न करने के लिए होता है। दण्डी ने उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक, दीपक आदि में भी श्लेष का प्रसार दिखलाया है, साथही इसके अनेक प्रयोगप्रकार जैसे, अभिन्नक्रिय, अविरुद्धक्रिय, विरुद्धक्रिय, सनियम, नियमाक्षेप, रूपोक्ति, अविरोधी आदि बतलाए गये हैं (काव्यादर्श, 2/313-315)। वस्तुतः, इस रूप में श्लेष वाग्वैदग्ध्य का एक अत्यन्त उपयोगी शब्दविधान सिद्ध होता है। और चूँकि श्लेष एक काव्यगुण के रूप में भी दण्डी को अभीष्ट है, इसलिए 'इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' की महत्त्वपूर्ण अलंक्रिया के रूप में उसका समस्त वाङ्मय में प्रसार दिखलाया जाना स्वाभाविक ही है।

आचार्य उद्भट

3·4·1. भट्ट उद्भट्ट (आनुमानित काल 750 ई०-850 ई०)[1] के लिखे तीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथ कहे जाते हैं—भामह-विवरण, अलंकारसार-संग्रह और नाट्य-शास्त्र पर चन्द्रिका[2], जिनमें संप्रति सिर्फ अलंकारसार-संग्रह ही उपलब्ध है। कहते हैं कि अलंकारसार-संग्रह भी उक्त भामह-विवरण का सार-संक्षेप ही है, कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं।[3] उद्भट की मान्यताएँ परवर्ती काव्यचिन्तकों द्वारा काफी सम्मानपूर्वक उल्लेख्य रही हैं, अतः उन्हीं के आश्रय से उद्भट की काव्यगत शब्दचिन्तन संबंधी धारणाओं की किंचित् जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

3·4·2. (क) उद्भट शब्द और अर्थ के वैशिष्ट्य अथवा चारुत्व को ही काव्य का व्यवच्छेदक तत्त्व मानते हैं। उनकी धारणा है कि शास्त्र, इतिहास आदि

1. डॉ० पांडुरंग वामन काणे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स,, पृ० 138.
2. प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य, स्टडीज इन इन्डियन पोएटिक्स, पृ० 31.
3. डॉ० पांडुरंग वामन काणे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 134.

से काव्य विलक्षण होता है और यह वैलक्षण्य शब्दार्थवैशिष्ट्य से प्राप्त होता है, सिर्फ अभिधावैशिष्ट्य से नहीं।[1] उद्भट ने यहाँ शब्दार्थ-वैशिष्ट्य और अभिधा-वैशिष्ट्य में स्पष्ट अन्तर किया है। 'व्यक्तिविवेक' की टीका में रूय्यक ने उद्भट का एक अन्य मत उद्धृत करते हुए कहा है कि उन्होंने अलंकारों को शब्द और अर्थ का धर्म माना है, अभिधा का नहीं; अभिधा या तो अर्थप्रतीति का व्यापार है या शब्दोच्चारण का व्यापार, जबकि चारुत्व वैचित्र्य का पर्याय है, जो अलंकाररूप में प्रकाशित होता है और यह अलंकाररूपता शब्दोच्चारण अथवा अर्थ-प्रकाशन पर आश्रित नहीं, बल्कि बुद्धिस्थ शब्दार्थचारुत्व किंवा वैचित्र्य का धर्म है।[2]

(ख) पुनः उद्भट ने अभिधावैशिष्ट्य तथा अभिधाव्यापार में सूक्ष्म अन्तर बतलाया है। अभिधावैशिष्ट्य, रुय्यक के साक्ष्यानुसार या तो वक्ता के शब्दोच्चारण रूप में होता है, या फिर साक्षात् अर्थानुमान में; किन्तु अभिधाव्यापार 'ईप्सित भाव को व्यक्त करने वाले पदों के समुचित रूप से संग्रथित सदर्भ अर्थात् वाक्य का व्यापार है, जिसके राजशेखर के साक्ष्यानुसार उद्भट के मत में तीन प्रकार हैं :—वैभक्त, शाक्त और शक्ति-विभक्तिमय।[3] जहाँ विभक्तियाँ व्यक्त हों वहाँ 'वैभक्त', जहाँ विभक्तियाँ लुप्त हों, पर समास की शक्ति से अर्थप्रकाशन में समर्थ हों वहाँ 'शाक्त' और जहाँ दोनों लक्षण हों वहाँ उभयात्मक अभिधाव्यापार होता है।

(ग) इसी क्रम में उद्भट की काव्यार्थवैशिष्ट्य संबंधी धारणा भी द्रष्टव्य है। बुद्धिस्थ शब्दार्थचारुत्व अर्थात् शब्दार्थवैशिष्ट्य से 'काव्यार्थ' भी 'शास्त्र-अर्थ'

---

1. "शास्त्रेतिहासवैलक्षण्यं तु काव्यस्य शब्दार्थवैशिष्ट्यादेव नाभिधावैशिष्ट्यादिति भट्टोद्भटादीनं सिद्धान्तः"। महिमभट्ट कृत 'व्यक्तिविवेक' की टीका में रुय्यक द्वारा उदाहृत, व्यक्तिविवेक, सं डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ० 23.

2. "इह चिरन्तनैरलङ्कारतन्त्रप्रजापतिभिर्भट्टोद्भटप्रभृतिभिः शब्दार्थधर्मा एवलङ्काराः प्रतिपादिताः, नाभिधाधर्माः। यतोऽर्थप्रतिपत्त्युन्नेयः शब्दव्यापारः शब्दोच्चारणव्यापारो वाभिधा।...... न च तेत्प्रकारत्त्वम् अलङ्काराणाम् युक्तिमत। चारुत्वं हि वैचित्र्यापरपर्याय प्रकाशमानमलङ्कारः। न च शब्दोच्यारणस्यार्थप्रकाशनस्य वा चारुत्वं प्रकाशते, उच्चार्यमाणस्य च प्रतिपाद्यमानस्य च चारुत्वप्रतीते।" उपरिवत्, पृ० 23.

3. 'पदानामभिधित्सतार्थग्रंथनाकरः सन्दर्भो वाक्यम्। "तस्य च त्रिधाऽभिधाव्यापारः" इत्योद्भटाः वैभक्तः शाक्तः शक्तिविभक्तिमयश्च। काव्यमीमांसा, सं० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, पृ० 55.

से भिन्न होगा। यों, शब्द का अर्थसमूह निःसीम है और यह उद्भट को मान्य भी है, किन्तु उसके दो वर्ग हो सकते हैं। राजशेखर के साक्ष्यानुसार उद्भट ने निःसीम अर्थसमूह के दो प्रकार बतलाये हैं—विचारितसुस्थ और अविचारितरमणीय। विचारितसुस्थ अर्थ अनेकविध तर्क-वितर्क, विमर्शादि से लब्ध स्थिरअर्थ होता है, यह शास्त्र-अर्थ है। अविचारितरमणीयार्थ में महत्त्व तर्क-वितर्क, विमर्शादि का नहीं, बल्कि आपाततः प्रतिभासित अर्थ तथा रमणीयता का है, यह काव्यार्थ है। अतः काव्यार्थ अविचारितरमणीय-अर्थ होता है, यही उसका वैशिष्ट्य है।[1] अविचारितरमणीय का तात्पर्य, किन्तु, विचारहीनता नहीं; बल्कि काव्यार्थग्रहण में तर्क-वितर्क, विमर्शादि के सायास उपक्रम का अभाव है।

3·4·3. (क) काव्यगत शब्दार्थवैशिष्ट्य गुण एवं अलंकार के आश्रित हैं, उद्भट यह मानते प्रतीत होते हैं। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के टीकाकार गोपेन्द्र त्रिपुरहर भूपाल के साक्ष्यानुसार उद्भट की यह मान्यता है कि "उत्तम पुरुष का कथावर्णन सुमेरुपर्वत में कल्पतरु के वर्णन के समान ग्राह्य है। वस्तुतः उत्तम पुरुष का कथा-वर्णन काव्य के गौरवास्पद होने का आश्रय है और जिसके कारण काव्य (गुणालंकार चारुत्व से प्राप्त उज्ज्वलता से भी अधिक) उज्ज्वल होता है।"[2] यहाँ उद्भट का मत भिन्न प्रसंग में उद्धृत किया गया है, फिर भी काव्यगत शब्दार्थवैशिष्ट्य का गुणालंकारचारुत्व के आश्रित होने की उद्भट की मान्यता थी, यह स्पष्ट हो जाता है। प्रयुक्त उपमान द्रष्टव्य है। काव्य में उत्तमपुरुष का कथावर्णन वैसा ही गौरवास्पद होता है, जैसा सुमेरु में कल्पवृक्ष का वर्णन। स्पष्टतः ही 'काव्य' के लिए 'सुमेरु' उपमान है। उत्तमपुरुष का वर्णन काव्य को उत्कर्ष तथा यश प्रदान करता है, गुणालंकारचारुत्व की अपेक्षा अधिक; स्पष्टतः गुणालंकारचारुत्व काव्य का विधायक तत्त्व हुआ। अतः, काव्यार्थ का व्यवच्छेदक तत्त्व, जो अन्य अर्थ से शब्दार्थ-वैशिष्ट्य के कारण अलग होता है, उद्भट के मतानुसार गुणालंकार चारुत्व है।

---

1. "सोऽयमित्थंकारमुल्लिख्योपजीव्यमानो निःसीमार्थसार्थः सम्पद्यते। अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः। किन्तु द्विरूप एवासौ विचारितसुस्थोऽविचारित रमणीयश्च। तयो पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि।"
—काव्यमीमांसा, संपादकः पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत, पृ० 108.

2. भट्टोद्भटेनापि कथितम् "गुणालङ्कारचारुत्वयुक्तमप्यधि कोज्ज्वलम्। काव्य-माश्रयसंपत्त्या मेरूणेवाऽमरद्रुम"।—काव्याङ्कारसूत्र कामधेनु, चौखम्भा (1971), पृ० 5.

(ख) उद्भट के मतानुसार यह गुणालंकारचारुत्व गुण और अलंकार का चारुत्व नहीं, बल्कि 'गुणेव अलंकार, अलंकार इव गुण' के रूप में अविभक्त, समवाय चारुत्व है। मम्मट के साक्ष्यानुसार उद्भट गुण और अलंकार को अभिन्न मानते हैं। "लोक में गुण (शौर्यादि आत्मगुण) तथा अलंकार (हारादि) में भेद किया जा सकता है; क्योंकि वे (गुण और अलंकार) संयोग सम्बन्ध से जुड़े रहते हैं; किन्तु काव्य में गुण (श्लेष, माधुर्यादि) तथा अलंकार (अनुप्रास, उपमादि) समवायरूप से स्थित होते हैं। अतः वे अभेद्य हैं।"[1] रूय्यक के साक्ष्य से भी उद्भट का यह मत ज्ञात होता है।[2]

मम्मट ने उद्भट की इस मान्यता का खण्डन यह कहकर किया है कि गुण रसाश्रित है, उसका रस से अनिवार्य सम्बन्ध होता है, जबकि अलंकार को वह श्रेय प्राप्त नहीं। दरअसल, उद्भट की उक्त धारणा काव्याभिव्यक्ति की सहज प्रक्रिया की ओर संकेत करती है। अभिव्यक्तिकाल में गुण और अलंकार निश्चय ही पृथक्-पृथक् नहीं, बल्कि समवाय भाषिकप्रक्रियारूप होते हैं। काव्य में भी वैसी ही समवाय-संरचना उभरती है। भावव्युत्पत्तिरूप अलंकार अर्थात् सौंदर्य के संदर्भ में गुणालंकार का समवाय रूप ही सिद्ध होता है; करणव्युत्पत्तिरूप उपमादि अलंकार के क्रम में विशेषतः रससंदर्भ में अन्तर स्वीकार किया जा सकता है। वैसी स्थिति में भी गुणालंकार की संघटनाधर्मरूपता बनी रहती है। उद्भट ने इसीलिए अभिनव के साक्ष्यानुसार गुण को[3] और रुय्यक के साक्ष्यानुसार गुणालंकार दोनों को[4] संघटनाधर्म कहा है। संरचना अथवा शिल्प की दृष्टि से संघटना

---

1. एवं च "समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणाम् भेदः। ओजःप्रभृत्तिनाम् अनुप्रासोपमादीनां चोभयेषापि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः", काव्यप्रकाश, सपादकः आचार्य विश्वेश्वर, पृ० 384.
2. 'उद्भटादिभिस्तु गुणालंकार प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेद-प्रतिपादनात्।" —अलंकारसर्वस्व, (काव्यमाला), पृ० 7.
3. "संघटनायाधर्मागुणा इति भट्टोद्भटादयः।" लोचन-तारावती भाष्य पृ० 721.
4. "उद्भटादिभिस्तु गुणालंकारणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेद प्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः।", अलंकारसर्वस्व (काव्य-माला), पृ० 7.

(वर्णगुंफ, शब्दगुम्फ) के महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि कवि की अभिव्यक्तिप्रक्रिया का मूर्तरूप यही संघटना है और सहृदय की काव्यबोध-प्रक्रिया की यात्रा भी इसी बिन्दु से शुरू होती है, रसादि का प्रश्न बाद का है। उद्भट वस्तुतः बुनियादी तथ्यों का विश्लेषण कर रहे थे, इसीलिए वे संघटना-वैशिष्ट्य को गुणालंकार के रूप में देखते हैं।

3·4·4. अभिनवगुप्त के साक्ष्यानुसार उद्भट ने शब्द की दो ही शक्तियाँ मानी हैं: मुख्य और गुणवृत्ति अर्थात् लक्षणा।[1] यों अलंकारसार-संग्रह में उद्भट ने पर्यायोक्त अलंकार के प्रसंग में कहा है कि :

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृतिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥ 47 ॥

अर्थात् पर्यायोक्त अलंकार वहाँ होता है जहाँ वाच्यवाचकभाव या अभिधा से शून्य अवगमात्मना अन्य रूप से वक्ता अपनी बात कहे। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी की धारणा है कि शायद उद्भट ने व्यंजना की भी अनजान में आवश्यकता स्वीकार कर ली है; क्योंकि शब्द की यही 'अवगमात्मक शक्ति' आगे चलकर व्यंजना नाम से विवेचित हुई है।[2] डॉ० त्रिपाठी ने यह भी कहा है कि उद्भट ने वास्तव में अभिधा और गुणवृत्ति को ही मान्यता दी है। इसकी पुष्टि रुय्यक के इस साक्ष्य से भी होती है कि उद्भट उन लोगों में हैं "जो व्यंग्यार्थ को भी वाच्यार्थ का उपस्कारक मानते हैं, उपस्कार्य या अलंकार्य तो शब्द और वाच्यार्थ ही हैं, अतः पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति आदि अलंकारों में ही व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव कर लिया जाना चाहिए।"[3] प्रतिहारेन्दुराज ने भी अलंकारसार-संग्रह की लघुवृत्ति

1. "भामहेनोक्तम्—'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' इति। अभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटोबभाषे—शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च इति।", ध्वन्यालोक–लोचन-तारावती भाष्य, डॉ० रामसागर त्रिपाठी, पृ० 57.

2. काव्यालङ्कारसार-संग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या, भूमिका, पृ० 35.

3. "इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरंतनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते। तथाहि—पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन 'स्वासिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्' इति यथायोग द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादितं तैः।"—रुय्यक, अलंकारसर्वस्व (सं० पण्डित दुर्गाप्रसाद, काशीनाथ पांडुरंग परब, निर्णयसागर, 1893 ई०), पृ० 3.

में उद्भट के उपर्युक्त मत की पुष्टि की है। इस प्रश्न पर कि उद्भट ने सहृदय-श्लाघ्य ध्वनि की चर्चा क्यों नहीं की है, प्रतिहारेन्दुराज ने स्पष्ट कहा : एष्वलंकारेष्वन्त-र्भावात अर्थात् उसका (ध्वनि का) इन्हीं अलंकारों में अन्तर्भाव है[1]। स्पष्ट है कि उद्भट शब्द की सिर्फ दो शक्तियाँ मानने के पक्षधर हैं : अभिधा और लक्षणा। वे शब्द की अवगमात्मक शक्ति की चर्चा भी करते हैं, लेकिन यह 'अवगमात्मक शक्ति' का स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध में वे मौन हैं। इस अवगमात्मक शक्ति के दो रूप हो सकते हैं—प्रसंगगर्भत्व के कारण अर्थानुकूलन (adaptation) अथवा प्रसंगगर्भत्व के आग्रह से अन्यार्थ संसूचन किंवा अभिव्यंजन। समासतः व्यंजना के कार्य भी यही हैं। इसलिए व्यंजना की प्रकारान्तर स्वीकृति तो है ही, लेकिन उद्भट उसे शब्द की अवगमात्मक शक्ति कहना बेहतर समझते हैं। जो भी हो काव्यगत शब्दचिन्तन की दृष्टि से दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष तो मिलते ही हैं—एक तो यह कि काव्यशास्त्र में शब्दशक्ति की स्पष्ट विवेचना की शुरुआत उद्भट ने की और दूसरा यह कि उद्भट ने शब्द की मूलतः दो शक्तियों को स्वीकारते हुये भी अवग-मात्मक शक्ति के रूप में अभिधा-गुणवृत्ति तथा व्यंजना के बीच मध्यम कड़ी को व्यवस्था दी है।

आचार्य वामन

3·5·1. पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा वामन ने काव्य में शब्द की भूमिका एवं सौन्दर्यविधायक शक्ति को बेहतर समझा था। वामन के काव्यगत शब्दचिन्तन की केन्द्रीय चिन्ता है—काव्यसौन्दर्य की उपलब्धि और उसके विधायक तत्त्व। डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे ने कहा है कि, "आचार्य वामन साहित्य के दो तत्त्वों से सुपरिचित थे—1. एक मूल वस्तु या पदार्थतत्त्व है, जिससे साहित्य का निर्माण होता है और 2. दूसरा मूल्यतत्त्व या सौन्दर्यतत्त्व है जिसके लिए साहित्य का निर्माण किया जाता है।"[2] वामन की दृष्टि में काव्य का पदार्थ तत्त्व है—विशिष्ट पद रचना, जो शब्द और अर्थ का सहभावमात्र नहीं, बल्कि गुण और अलंकार से संस्कृत होती है—"काव्यशब्दोऽयंगुणाऽलङ्कार—संस्कृतयोः शब्दार्थयोवर्तते", काव्य को शब्दार्थ कहना लक्षण मात्र है—"भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते"। (का० सू० वृ०, 1/1/1 वृत्ति)। इसी विशिष्ट पदरचना का मूल्य तत्त्व है सौन्दर्य। काव्य में, स्पष्ट ही,

1. काव्यालंकारसार-संग्रह एवं लघुवृत्ति, पृ० 418.
2. सौंदर्या चे व्याकरण का हिन्दी-अनुवाद, सौन्दर्यतत्त्व और काव्य-सिद्धान्त, अनुवादक : डॉ० मनोहर काले, पृ० 159.

वामन शब्दतत्त्व के पक्षधर हैं। इसी शब्दतत्त्व की, सौन्दर्यमूल्यजन्य काव्यात्मक भूमिका की व्याख्या उन्होंने गुण, अलंकार और रीति की पारिभाषिक स्थापनाओं में की है।

3·5·2. रीति, गुण और अलंकार वामन के विचार में अन्योन्याश्रित हैं। तत्सम्बन्धी सूत्रों की व्याख्या से बात स्पष्ट हो जाएगी।

(i) काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है : काव्यं ग्राह्यम् अलङ्कारात्, 1/1/1.

(ii) भावव्युत्पत्ति की दृष्टि से अलंकार ही सौंदर्य है, जो पुनः करणव्युत्पत्ति की दृष्टि से उपमादि अलंकार कहे जाते हैं : सौन्दर्यमलङ्कारः। 1/1/2 तथा वृत्ति—अलङ्कृतिरलङ्कारः। करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कार-शब्दोऽयम् उपमादिषु वर्तते।

(iii) वह सौन्दर्यरूप अलंकार दोषों के परित्याग तथा गुण एवं (करण-व्युत्पत्तिरूप) अलंकार के योग से आता है : स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्। 1/1/3.

(iv) गुण शब्दार्थ की वह प्रकृति अथवा धर्म है जो काव्यशोभा का उत्पादक होता है : काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणः, 3/1/1 तथा वृत्ति—ये खलु शब्दार्थयोधर्माः काव्यशोभा कुर्वन्ति ते गुणाः।

(v) यह गुण शब्दार्थवैशिष्ट्य है : विशेषो गुणात्मा। 1/2/8। गुण की अतिशयता अर्थात् प्रभावकारिता, आकर्षण आदि के लिए (करण व्युत्पत्तिरूप) अलंकार का प्रयोग होता है : तदशियहेतवस्त्वलङ्काराः, 3/1/2

(vi) गुणालंकार से संस्कृत पदरचना 'विशिष्ट' होती है और यही विशिष्ट पदरचना रीति है : विशिष्टा पदरचना रीतिः, 1/2/7.

(vii) यह रीति काव्य की आत्मा है : रीतिरात्मा काव्यस्य, 1/2/6.

उपरिनिर्दिष्ट अनुक्रम में वामन की चिन्तनयात्रा 'सौन्दर्य' से शुरू होकर 'रीति' में पर्यवसित होती है। सवाल हो सकता है कि वामन 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर 'सौन्दर्यमात्मा काव्यस्य' का प्रतिपादन तो नहीं कर रहे? वस्तुतः सौन्दर्य और रीति एक ही काव्ययात्रा के दो छोर हैं। कवि की सौन्दर्यभावना अभिव्यक्त होती है। उस अभिव्यक्ति की कोई शब्दगत संरचना होगी, यही शब्दगत संरचना

वामन की 'रीति' है। सहृदय की काव्ययात्रा रीति अर्थात् शब्दगत संरचना से शुरू होकर सौन्दर्यसंवेदन में पर्यवसित होती है। इस सारी काव्ययात्रा में गुण और (करणव्युत्पत्ति) अलंकार सौन्दर्य-विभावन के उपादानरूप में कार्यशील रहते हैं। संक्षेप में वामन की यही विचारसरणि है। विद्वानों ने वामन को भ्रमवश रीतिवाद का प्रतिष्ठापक आचार्य कहा है, वस्तुतः वे 'सौंदर्यवाद' के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। यह सौंदर्य शब्दार्थवैशिष्ट्य का फलरूप है, जिसके विधिरूप उपादान हैं : गुण और अलंकार तथा निषेधरूप उपादान है : दोष।

3·5·3. गुण को वामन ने (शब्दार्थ का) काव्यशोभाकारक धर्म कहा है (3, 1, 1)। शोभा, जैसा कि हमने दण्डी के संदर्भ में कहा है, बाहरी सजावट का पर्याय नहीं, बल्कि काव्य की समस्त कांति, तेजस्विता तथा भव्यता का प्रतीक है। ध्यातव्य है कि दण्डी ने अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म कहा था, लेकिन वामन शोभा-कारित्व के सूक्ष्म कारकतत्त्व के रूप में गुण की व्यवस्था देते हैं। वस्तुतः गुण और अलंकार के परस्पर सम्बन्ध तथा उनके काव्ययोग की अस्फुटता दूर करने की कोशिश वामन ने की है। दण्डी भी काव्य में गुणालंकार के सम्यक् योग से अपरि-चित नहीं, वे एक ओर समाधि के माध्यम से गुण को काव्य का सर्वस्व कहते हैं, तो दूसरी ओर अलंकार को शोभाकारक धर्म बतलाते हैं। लेकिन गुण और अलंकार के काव्ययोग में अन्तर को जानते हुए भी वे स्फुट नहीं कर पाये हैं। उधर उद्भट ने गुण और अलंकार का अभेद्यप्रतिपादन कर रखा था। इसलिए वामन के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वे गुण और अलंकार की मर्यादाएँ निर्धारित करते। गुण, वामन की दृष्टि में काव्यगत वाग्योग का नित्यरूप है, जबकि अलंकार वाग्विकल्परूप योग। गुण से रहित काव्यगत वाग्योग होता ही नहीं, जबकि (करण व्युत्पत्तिमूलक) अलंकार वाग्योग का वैकल्पिक रूप है, अनित्य है। भावव्युत्त्पत्ति मूलक अलंकार की स्थिति भिन्न है। वामन भावव्युत्पत्तिरूप अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय मानते हैं; सौन्दर्य भी नित्य है, पर किसी काव्यतत्त्व या धर्मरूप में नहीं, मूल्यरूप में। इस प्रकार वाग्योगरूप गुण तथा वाग्विकलपयोगरूप अलंकार दोनों सौंदर्य का ही पोषण करते हैं। स्पष्ट ही वामन ने दण्डी की अस्फुट धारणाओं को स्फुट करने के साथ-साथ उद्भट के तत्सम्बन्धी सीमांत प्रतिपादन को निरस्त किया है।

3·5·4. गुण चूँकि काव्यगत वाग्योग है और लक्षणा से ही सही, काव्य को शब्दार्थ-रूप माना जाता है, इसलिए वामन ने गुण को शब्दगुण और अर्थगुण के तौर पर वर्गीकृत किया। सौशब्द्य-प्रविधि के रूप में दण्डीकृत दशगुण-व्यवस्था वामन के

सामने निश्चय ही थी, लेकिन वामन ने तो गुणों को शब्दार्थ का संस्कारक भी माना था, अतः सिर्फ शब्द अथवा पद के संस्कारकरूप गुण उन्हें अभीष्ट नहीं, अर्थ-संस्काररूप गुणव्यवस्था भी उन्हें आवश्यक प्रतीत हुई। वस्तुतः वामन भी शब्द-प्रयोग-प्रविधि की ही व्याख्या कर रहे थे; लेकिन सौशब्द्य को सम्यक् अर्थतत्त्व से भी वे मर्यादित कर देना चाहते थे, अन्यथा सिर्फ सौशब्द्य चमत्कार अथवा वैचित्र्य में परिणत हो जाता और यह स्थिति सौन्दर्य का उपस्कारक तो नहीं ही होती। अतः, वामन के गुणविवेचन की संप्रेरणा उसके सौन्दर्यविधायक वाग्योग के स्वरूप-विवेचन में निहित है। वे रस को भी काव्यसौन्दर्य का उपस्कारक मानते हैं, जो 'कान्ति' नामक अर्थगुण से अभिव्यक्त होता है—दीप्तरसत्वं कान्तिः (3/2/15)। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए गोपेन्द्र भूपाल ने 'दीप्ति' का अर्थ 'विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्ता' कहा भी है (काव्यालङ्कारसूत्र, कामधेनु, पृ० 118)।

3·5·5. वामनसम्मत गुण दश हैं : ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति और कान्ति। इन्हें वे शब्द और अर्थ के सन्दर्भ में पृथक्-पृथक् विवेचित करते हैं। बन्ध अथवा पदरचनागत गुण शब्दगुण हैं जो वाचक हैं और उनके ही वाच्यरूप अर्थगुण हैं, अर्थात् शब्दगुण तथा अर्थगुण में वाचक-वाच्य सम्बन्ध माना गया है (3/1/2 की पूर्ववृत्ति)। उदाहरणार्थ वाचक शब्दगुण ओज का ही वाच्यरूप ओज अर्थगुण कहा जाएगा। स्पष्टीकरण के लिए वामनसम्मत गुणों का संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है :

(i) **ओज : बन्धगत**—पदरचना का गाढ़त्व अर्थात् संश्लिष्ट वर्णविन्यास ओज शब्दगुण है (3/1/5)। संयुक्ताक्षर, रेफ, क वर्गादि के प्रथम-द्वितीय, तृतीय-चतुर्थ और प्रथम-तृतीय वर्ण का योग, गुरु वर्ण, दीर्घ समासादि के प्रयोग से वह गाढ़ता आती है।

अर्थगत–(गाढ़ पदबन्ध से उत्पन्न) अर्थप्रौढ़ि ओज अर्थगुण है (3/2/2)। इसकी पाँच प्रविधियाँ हैं : एक पद से प्रतिपाद्य अर्थ के लिए गाढ़ पदसमूह (वाक्य) का प्रयोग, पदसमूह से प्रतिपाद्य अर्थ के लिए एक (गाढ़) पद का प्रयोग, व्यासशैली से अर्थविस्तार, समासशैला से अर्थसंकोच तथा अर्थ का साभिप्रायत्व (3/2/2, वृत्ति)।

(ii) **प्रसाद : बन्धगत**–पदरचना का शैथिल्य प्रसाद गुण है (3/1/6)। सहसा यह स्थिति ओज के विपरीत दिखती है, किन्तु वामन ने इस शंका का

निराकरण करते हुए कहा कि शुद्धरूप में शैथिल्य दोष होता है, लेकिन ओज से संप्लवित (मिश्रित) होने पर वही गुण होता है (3/1/7, 8)। यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि दोनों (गाढ़त्व-शैथिल्य) परस्पर विरोधी स्थितियाँ हैं, उनकी एकस्थिति कैसे सम्भव है ? वामन का उत्तर है कि (लोक, नाट्यादि में) यह अनुभव सिद्ध स्थिति है। परस्पर विरोधी वस्तुएँ एकस्थानिक होकर नया सौन्दर्य उपस्थित करती हैं, यह सहृदयश्लाघ्य स्थिति है (3/1/9 तथा वृत्ति)। उसीप्रकार ओज और प्रसाद अर्थात् गाढ़त्व और शैथिल्य का साम्य तथा उत्कर्ष भी अनुभवसिद्ध होता है; कहीं साम्य, कहीं ओज से उत्कृष्ट प्रसाद और कहीं प्रसाद से उत्कृष्ट ओज की योजना कवि-प्रयोग एवं सहृदयअनुभवसिद्ध हैं (3/1/10 तथा वृत्तियाँ)।

अर्थगत—विवक्षित अर्थ के लिए सम्यक् शब्दप्रयोग किया जाता है और ऐसे ही प्रयोग से काव्य में अर्थवैमल्य आता है। यह अर्थवैमल्य ही प्रसाद अर्थगुण है (3/2/3)।

(iii) **श्लेष** : **बन्धगत**–मसृणत्व को श्लेष कहा गया है। अनेक पदों का एक समान प्रतीत होना मसृणत्व (शब्दनिष्ठ चिक्कणता) है (3/1/11)। गोपेन्द्र भूपाल ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि जहाँ पृथक्-पृथक् पदों में भी पाठादि के कारण समास का आभास मिलता हो, वह मसृणता है, वहीं शब्दश्लेष है, अर्थात् पद वस्तुतः अलग-अलग होते हैं, लेकिन उनका प्रयोग ऐसा होता है कि वे एक-दूसरे से जुड़े प्रतीत होते हैं (कामधेनु, पृ० 90)।

अर्थगत—(वैसे मसृण प्रयोग से) जब अनेक क्रियाओं (सुनियोजित क्रम में) वैदग्ध्यजन्य चमत्कार, सुप्रसिद्ध वर्णनप्रणाली तथा युक्ति का योग प्रस्तुत होता है, तब उसे 'घटना' कहते हैं और क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व तथा उत्पत्ति के योग अथवा घटित होने को ही अर्थगत श्लेष कहते हैं (3/2/4)। घटना वस्तुतः क्रम आदि के संघटन से उत्पन्न अर्थ-चमत्कार है। इस दृष्टि से इसका प्रसार अत्यन्त विस्तृत हो जाता है।

(iv) **समता** : **बन्धगत**–शैली की एकतानता समता शब्दगुण है। एकतान मार्ग अर्थात् पदरचना, शैली अथवा रीति का अवलम्बन कृति में आद्यन्त

किया जाना समता है (3/1/12 तथा वृत्ति)। यह व्यवस्था मुस्तक तथा प्रबन्ध दोनों पर सामानरूपेण लागू माना गया है।[1]

अर्थगत—अर्थक्रम में विषमता का अभाव समता अर्थगुण है। काव्य में अनेक अर्थों की योजना होती है। उनमें प्रक्रम का होना आवश्यक है। प्रक्रम का अभेद ही समता है (3/2/5)। अर्थबोध में सुगमता को भी अवैषम्य कहा गया है (3/2/6) अर्थात् जहाँ सुगमता से अर्थबोध हो वहाँ भी अर्थगत समता गुण माना जाएगा।

(v) समाधि : **बन्धगत**–प्रयुक्त शब्दों का दीर्घ-गुरु स्वरक्रम 'आरोह' तथा लघु स्वरक्रम 'अवरोह' कहा जाता है। काव्य में प्रयुक्त शब्दों का स्वरक्रम यदि आरोहावरोह अर्थात् क्रमशः आरोह के बाद अवरोह तथा अवरोह के आरोह द्वारा व्यवस्थित हो तो उसे वामन के अनुसार बन्धगत समाधि गुण कहा जाएगा (3/3/13)। वामन ने इस नियमन पर की गयी अनेक आपत्तियों का विवेचन किया है। मुख्य आपत्तियाँ दो हैं (i) आरोह ओजगुण का मूल है और अवरोह स्वरक्रम प्रसादगुण का इसलिए समाधिगुण की पृथक् स्थापना की आवश्यकता नहीं और (ii) आरोहावरोह पाठधर्म है, बन्धगत गुण नहीं। वामन इन आपत्तियों को निरस्त करने का प्रयत्न करते हैं कि (i) ओज में आरोह अथवा प्रसाद में अवरोह हो ही ऐसा कोई

---

१. **द्रष्टव्य**—"मनोभाव की परिवर्तित दशा के चित्रण के लिए शैली में परिवर्तन वाञ्छनीय होता है। अतः, ऐसे स्थल पर आरब्ध मार्ग का असमाप्ति निर्वाह का आग्रह काव्य में दोष का ही आधान करेगा, गुण का नहीं। जिस काव्य में एक ही रस हो उसमें शैलीगत एकरूपता को अवश्य गुण माना जाएगा। प्रबन्ध में एक ही रस का वर्णन दोष माना जाता है। वहाँ नाना सुख-दुःखात्मक भावों का वर्णन अपेक्षित होता है। अतः सम्पूर्ण प्रबन्ध में एक रीति का निर्वाह गुण नहीं माना जा सकता।"—डॉ० शोभाकांत मिश्र, काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ० 58.

टिप्पणी : वामन ने विशिष्ट पदरचना को रीति कहा है और विशिष्ट पदरचना कवि की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य का प्रर्याय है। अतः एक ही रीति के निर्वाह से तात्पर्य एकतान अभिव्यक्ति सामर्थ्य है, जो प्रबन्ध का भी अपेक्षित गुण है।

नियम नहीं, (ii) समाधिगुण में आरोहावरोह संपृक्त होती है, पृथक् नहीं (iii) यह आरोहावरोह क्रम शब्दप्रयोग की विशेष अवस्था है जो तीव्र भावावेग की अवस्था होती है। ओज और प्रसाद में यह तीव्रावस्था कहीं-कहीं होती है, सर्वत्र नहीं, (iv) आरोह और अवरोह एक विशिष्ट क्रमविधान है। (v) यह पाठधर्म भी नहीं है, क्योंकि गुण पाठधर्म के आश्रित नहीं होते, और न ही सर्वत्र पाठ गुणयुक्त होते हैं (3/1/28, तथा वृत्ति)।

अर्थगत—अर्थदृष्टि अर्थगत समाधि है (3/2/7)। वामन का पक्ष यह है कि अवहित अर्थात् एकाग्र चित्तावस्था में काव्य का अर्थदर्शन होता है। यहाँ अर्थबोध और अर्थदर्शन में अन्तर किया जाना आवश्यक है, अन्यथा वामन की स्थापना के स्वारस्य को हृदयंगम करने में भ्रम की संभावना है।[1] अर्थबोध का सम्बन्ध संप्रेषित चिंतन अथवा

1. मम्मट और उनके अनुकरण में हेमचन्द्र को ऐसे भ्रम हुए भी हैं। मम्मट ने वामनमत का खण्डन करते हुए कहा है कि 'यदि अयोनि अथवा अन्यच्छायायोनि अर्थ का दर्शन न हो, तो काव्य ही कैसे बने, इसलिए अर्थदृष्टिरूप समाधिगुण नहीं बनता—अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शन तत् कथं काव्यम् इत्यर्थदृष्टिरूप समाधिरापि न गुणाः। (काव्यप्रकाश, ज्ञानमंडल, पृ० 392)। हेमचन्द्र ने भी कहा है यदि अर्थदृष्टि को समाधिगुण माना जाय तो सभी सत्कवियों के काव्य का समग्र अर्थ समाधि ही मान लिया जाएगा, जो उचित नहीं—'अर्थस्ययोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शन तत्कथं काव्यम् स्यात्। ततश्च सकलसत्कविदृष्टः काव्यर्थः समाधिः स्यादिति नार्थगुणः समाधि। (काव्यानुशासन, निर्णयसागर, पृ० 237)। इन धारणाओं की बुनियाद है काव्य के अर्थबोध और अर्थदर्शन को पर्याय मानना, जबकि स्थिति यह है कि काव्यत्व के लिए अर्थबोध की अनिवार्यता होती है, अर्थदर्शन की नहीं; अर्थदर्शन तो पश्यन्ति वाक् अवस्था का पर्याय है। यह अर्थदर्शन स्वयं कवि को समाधिस्थ अभिव्यक्तिप्रक्रिया में, और सहृदय को समाधिस्थ आस्वादनप्रक्रिया में उपलब्ध होता है। महर्षि अरविन्द ने कहा है कि काव्यदृशा का साक्षात्कार करना तथा कराना काव्यात्मक शब्दप्रयोग की उच्चतम भूमि है, सिर्फ चिंतन तथा अनुभूति का संप्रेषण गौण भूमिका मात्र (द विजन ऑफ पोएट्री, द फ्यूचर पोएट्री, पृ० 33)।

अनुभूति के ग्रहण से है, लेकिन अर्थदर्शन का सम्बन्ध समाधिस्थ आस्वादनप्रक्रिया के उस स्तर से है जहाँ रूप, रस, गंध, स्पर्श, श्रवण-रूप तन्मात्राएँ सिर्फ ऐन्द्रिय संवेद्य नहीं प्रत्यक्षवत् प्रकट हो जाती हैं। इसीलिए वामन ने स्पष्ट कहा है कि 'अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यति' (3/2/7 की वृत्ति) अर्थात् एकाग्रचित्तता अथवा समाधिस्थ चित्तावस्था में ही अर्थ दृष्ट होते हैं। सामान्यतः काव्य में 'अर्थ' गम्य होते हैं, किन्तु अर्थ दृश्य बने, यह स्थिति समाधिस्थ अभिव्यक्ति तथा समाधिस्थ आस्वादन दोनों की अपेक्षा रखती है।

इस दृष्टअर्थ के कविपक्ष से दो रूप वामन ने बतलाए—कवि की स्व प्रतिभा से उपलब्ध अर्थदृशा अर्थात् अयोनि और अन्यत्र-गृहीत अर्थच्छाया से उपलब्ध अर्थदृशा अर्थात् अन्यच्छाया योनि (3/2/8)। दृष्टअर्थ के पाठपक्ष से भी दो रूप कहे गये हैं—व्यक्त और सूक्ष्म (3/2/9)। सहज अर्थगम्यता 'व्यक्त' का पक्ष है, किन्तु अवगाहन से ही प्राप्त अर्थदृशा 'सूक्ष्म' है। सहृदयपक्ष से सूक्ष्म अर्थदृशा के पुनः दो रूप हैं—भाव्य और वासनीय (3/2/10)। अवगाहन से शीघ्र प्राप्त होने वाली अर्थदृशा भाव्य है, किन्तु प्रकृष्ट एकाग्रता (आस्वादन की उच्चतम भूमि, समाधि) से प्राप्त अर्थदृशा वासनीय है। 'वासनीय' शब्द का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। आचार्यों ने काव्यसर्जना तथा काव्यास्वाद के लिए क्रमशः कवि तथा सहृदय की प्रतिभा को ही मूल-हेतु माना है। वामन ने प्रतिभा को कवित्व का बीज मानते हुए यह व्याख्या भी दी है कि प्रतिभा वस्तुतः जन्मान्त-रागत संस्कार विशेष है (1/3/16 तथा वृत्ति)। यह जन्मान्तरागत संस्कार ही वासना है। कामधेनु टीका में गोपेन्द्र भूपाल ने भट्ट गोपाल का मत उद्धृत करते हुए कहा भी है—कवित्वस्य लोकोत्तरवर्णना नैपुणलक्षणस्य बीजमुपादानस्थानीयः संस्कार विशेषः। कार्यकल्पनीया काचिद्वासनाशक्तिः' (का० सू० वृत्ति, कामधेनु, पृ० 35)। दण्डी ने भी प्रतिभा को 'पूर्ववासनागुणानुबन्धि' (काव्यादर्श, 1/104) कहा है। कुंतक एक कदम और आगे बढ़ते हैं। उनके अनुसार कवित्व की बात तो अलग अन्य विषयों में भी 'अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृतचित्त व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार व्युत्पत्ति तथा अभ्यास होता है—यस्मादास्तां तावत्कारणम्, विषयान्तरेऽपि सर्वस्य

कस्यचिदनादिवासनाभ्यासाधिवासितचेतसः स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्त्यभ्यासौ प्रवर्तते (वक्रोक्तिजीवितम्, 1/24 की वृत्ति)। इसीलिए वे प्रतिभा का स्वरूप 'जन्मान्तरागत संस्कारों का परिपाक' मानते हैं—प्राक्तनाद्यतनसंस्कार प्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः (व० जी०, 1/25 की वृत्ति)।

सहृदय भी काव्यास्वादप्रक्रिया में उतनी ही गहराई अथवा प्रसार का अनुगमन कर सकेगा, जितनी उसकी प्रतिभा है। सहृदय की योग्यता के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त की प्रसिद्ध व्यवस्था कि येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकरे वर्णनीयतन्मयीभवन योग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः (लोचन-तारावती, पृ० 62), इसी ओर संकेत करती है। व्यक्ति अपनी अनादि वासना की प्रेरणा से ही काव्यानुशीलनाभ्यास में प्रवृत्त होता है, तन्मयीभवन की योग्यता भी संस्कृत चित्त की योग्यता है, उसी प्रकार स्वहृदय संवाद की शक्ति भी विकसित, परिष्कृत एवं संस्कृत चित्त की शक्ति होगी।

अतः अर्थगत समाधि के सूक्ष्म अर्थभेद को 'वासनीय' कहकर वामन ने प्रकारान्तर से अर्थगत समाधि के आस्वादन को ही प्रतिभाश्रित कर दिया है। उधर बंधगत समाधि को भी वामन ने तीव्रभावावेग की अवस्था से प्राप्त आरोहावरोह का निरन्तर क्रम माना है। (ओज और प्रसाद में तो कहीं-कहीं तीव्रावस्था से प्राप्त आरोहावरोह होता है—3/1/17)। वामन ने यह स्थापना भी दी है कि ओज-प्रसाद में जो कहीं-कहीं तीव्रावस्था आती है, वह भी समाधिगुण के ही कारण (3/1/18 तथा वृत्ति)। अभिनवगुप्त ने तो स्पष्ट कहा है कि सहज-प्रतिभासंपन्न कवि में ही आरोहावरोह-क्रम का निर्वाह होता है[2]। स्पष्ट ही, समग्ररूप में समाधि गुण ही प्रतिभा का विशिष्ट प्रसादन है।

(vi) माधुर्य : बंधगत—काव्य में पृथक्पदत्व को वामन ने माधुर्यगुण कहा है। पृथक्पदत्व का अर्थ है पदों का पृथक्-पृथक् रहना अर्थात् असामासिक

---

2. तेन स्वभावप्रतिभादर्शनानुबिद्धा भगवती वाणी स्वरसोपनिपतिता स्वरसंभार प्रभावानुरोधेनैवारोहावरोहक्रम भजते।

—ना० शा०, अभिनवभारती पृ० 339.

बंध। तात्पर्य यह है कि समास से रहित बंध माधुर्यगुण संपन्न होता है।

अर्थगत—उक्तिवैचित्र्य को वामन ने अर्थगत माधुर्य कहा है (3/2/11)। वामन ने उक्तिवैचित्र्य अथवा उक्ति की विचित्रता को पारिभाषित नहीं किया है, फलत: उक्ति का विचित्र, अद्भुत अथवा चमत्कारपूर्ण होना मात्र उनकी दृष्टि में माधुर्य अर्थगुण मान लिया जाएगा, लेकिन यह स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है और न उचित ही; क्योंकि बंधगत माधुर्य तथा अर्थगत माधुर्य में कोई सम्बन्ध नहीं बन पाता।

(vii) **सौकुमार्य बंधगत**—अकठोर वर्णों का प्रयोग सौकुमार्य गुण कहा गया है। परुषवर्णों के निषेध का अर्थ कोमल वर्णों का प्रयोग ही है।

अर्थगत—कठोर विषय को भी अपरूष रूप में रखा जाना सौकुमार्य अर्थगुण कहा गया है, जैसे 'मृत' के लिए 'यश:शेष', किसी कार्य के लिए 'जाओ' कहने के बजाय 'सिद्ध करो' कहना। गोपेन्द्र भूपाल ने अमंगल तथा आतंक उत्पन्न करने वाले अर्थ के लिए अपरूष शब्द-प्रयोग को सौकुमार्य कहा है (कामधेनु, पृ० 114)।

(viii) **उदारता बंधगत**—बंध की विकट रचना वामन के अनुसार बंधगत उदारता है (3/1/23)। 'विकटता' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग हुआ है। वृत्ति में वामन ने बतलाया है कि पद-प्रयोगकौशल से वर्णों का नृत्य करते प्रतीत होना ही विकटत्व है। नृत्यवत् वर्णगुम्फन को वामन ने लीलायमानत्व भी कहा है। कामधेनु टीका में विकटत्व की व्यावहारिक प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है कि (i) क्रमश: वर्धमान वर्णों का होना तथा (ii) पद के प्रथम, द्वितीय आदि वर्णों का दूसरे पद के उसी क्रम से प्रथम, द्वितीय आदि वर्णों से सादृश्य होना विकटता है। नृत्य में धुन, ताल और भाव पर आधृत निश्चित क्रमबद्ध पदक्षेप होता है, उसीप्रकार भावाधृत, छंद की लय-ताल पर वर्णक्षेप विकटता कही जाएगी। बंधगत उदारता के अन्तर्गत वस्तुत: वामन ने पदप्रयोग अथवा वर्णगुम्फ को लय-ताल की गति तथा भावावेग से जोड़ने का प्रयास किया है। यों, यह स्थिति अनुप्रास का भेदविशेष भी मानी जा सकती है,[1] लेकिन अनुप्रास का बंध

1. डॉ० शोभाकान्त मिश्र, काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन, पृ० 65.

जहाँ वर्णों की आवृत्ति पर निर्भर होता है, बंधगत उदारता में वर्णों की आवृत्ति अभीष्ट नहीं है, बल्कि भाव तथा छदगत लय-ताल पर आधृत वर्णसादृश्य पर बल है; यह वर्णसादृश्य अगर रूपगत तथा नियतस्थानीय होगा तभी अनुप्रास अलंकार की कोटि में आएगा, अन्यथा नहीं। वह वर्णसादृश्य यदि ध्वनि पर आधृत होगा तो उसे अनुप्रास नहीं माना जा सकता। इसके अलावा बंधगत उदारता में नियतस्थानीयता की अपेक्षा नियत लय-ताल पर बल है, नृत्य-समीकरण का यही स्वारस्य है।

अर्थगत : अग्राम्यत्व को अर्थगत उदारता कहा गया है। ग्राम्य प्रसंग में भी जहाँ अग्राम्यत्व हो वहाँ अर्थगत उदारता होगी (3/2/13)। ऐसे अनेक प्रसंग हो सकते हैं जहाँ कथ्य अश्लील हो, लेकिन कथन में अश्लीलता न होकर विदग्धता हो। ऐसे स्थलों पर ही अर्थगत उदारता मानी गयी है।

(ix) **अर्थव्यक्ति** : **बंधगत**—ऐसे शब्दों का प्रयोग कि जिनसे तत्काल अर्थप्रतीति हो, उसे बंधगत अर्थव्यक्ति कहा गया है (3/1/24)। कामधेनु टीका में इसके अन्तर्गत दो प्रकार के शब्दों के प्रयोग की व्यवस्था दी गयी है—(i) जिसका अन्वय अबाधित हो और (ii) जिनका अर्थ प्रसिद्ध हो—अव्यवहितान्वयप्रसिद्धार्थपदत्वे हि भवत्यर्थव्यक्तिः (कामधेनु, पृ० 98)। इसके वैशिष्ट्य की व्याख्या करते हुए वामन ने प्रकीर्ण श्लोक में कहा है कि जहाँ पदों की गति (उच्चारण) मानो पीछे हो और अर्थ की अभिव्यक्ति पहले जाय, ऐसे बंध को अर्थव्यक्ति कहते हैं (3/1/25, श्लोक संख्या 10)।

अर्थगत—वस्तुस्वभाव का स्फुट होना अर्थगत अर्थव्यक्ति है (3/2/14)। तात्पर्य यह है कि वस्तुवर्णन में उसके गुणों का जब उल्लेख किया जाय और उससे वस्तु का चित्र प्रत्यक्षवत् अनायास प्रतीत हो तब अर्थव्यक्ति अर्थगुण कहा जायगा। दूसरे शब्दों में स्पष्ट शब्दचित्र की प्रस्तुति अर्थगत अर्थव्यक्तिगुण है।

(x) **कांति** : **बंधगत**-बंधरचना की उज्ज्वलता को बंधगत कांतिगुण कहा गया है (3/1/25)। प्रकीर्ण श्लोक में वामन ने कहा है कि गुणज्ञ विद्वानों ने रचना की उज्ज्वलता अर्थात् नवीनता को कांतिगुण कहा है।

उसके बिना कवि की वाणी प्राचीन चित्र के समान प्रतीत होती है (3/1/25 के प्रकीर्णश्लोक—11)। स्पष्ट ही, यहाँ काव्यगत शब्दकांति की धारणा चित्रकला में रंगयोजना की प्रभविष्णुता से गृहीत है। चित्र की रंगयोजना और काव्य की शब्दयोजना में साम्य के आधार पर निष्कर्ष निकाले गये हैं। काव्यस्थानीय गुण वामन के अनुसार चित्रस्थानीय रेखा के समकक्ष हैं। जिसप्रकार कुशल चित्रकार कलात्मक रेखांकन करता है, उसीप्रकार प्रतिभावान् कवि गुणों का विदग्ध गुंफन करता है।[1] चित्र में रेखांकन का आधार रंग है, काव्य में गुणगुंफन का आधार शब्द। अतः, शब्दकांति रंगकांति के समकक्ष हुई। चित्रगत रंगयोजना की कांति सद्यः नवीनता तथा ताजगी के आश्रित है, उसीप्रकार काव्यगत शब्दयोजना की कांति कल्पनाशील नूतन प्रयोग के आश्रित है, इसे ही वामन ने 'उज्ज्वलता' कहा है। कल्पनाशील नूतन प्रयोग के अभाव में वामन के अनुसार काव्य पुराने पड़ गये चित्रालेख की तरह होता है—रंगहीन, कांतिहीन (3/1/25 की वृत्ति)।

अर्थगत—दीप्तरसत्व को वामन ने अर्थगत कांतिगुण कहा है। 'दीप्त' शब्द व्याख्येय है। कामधेनु टीकाकार गोपेन्द्रभूपाल ने 'दीप्त' का अर्थ 'विभावानुभ वव्यभिचारिभिरभिव्यक्ता' कहा है (कामधेनुटीका, पृ० 118)। अर्थात्, रससामग्री की पूर्ण पाक-अवस्था दीप्तरसत्व की अवस्था है। भामह-दण्डी ने रस की चर्चा अलंकार के अन्तर्गत की थी, रसवत् आदि के रूप में; परन्तु, चूँकि वामन अलंकार की अपेक्षा गुण को नित्य मानते हैं, इसलिए वे रस को गुण में अन्तर्भुक्त कर लेते हैं। इसप्रकार, पहली बार रस को काव्य के नित्यधर्म के रूप में स्वीकृति मिली, जिसका श्रेय वामन को है।

3·5·6. काव्य में गुण की सत्ता सिद्ध करने के लिए वामन ने कई युक्तियाँ दी हैं। काव्यगुण की सत्ता पर कई प्रकार से प्रश्न उठाये गये : गुण निरा कल्पना है, गुण निरा भ्रम है और अगर है भी तो पाठधर्म के रूप में, स्वतंत्र अस्तित्व रूप में नहीं।

---

1. यथा हि छिद्यते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः।
तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता ॥ —का० सू० वृ०, 3/1/25 के बाद श्लोक-7.

वामन ने इन प्रश्नों को निरस्त किया है। ऐसा नहीं है कि गुण कोई बाहरी चीज है, जिसे रचनाकार अपनी रचना में जानबूझकर जोड़ता हो। गुण तो कवि के आत्मभाव के भाषाविधान का सहज पक्ष है। सहृदय इसे रचना के अवगाहनकाल में अनुभव करता है, महत्त्व नामकरण का नहीं, स्थिति का है और गुण की विद्यमानता सहृदय संवेद्य होने के कारण सिद्ध है (3/1/26)। काव्यगुण भ्रान्ति भी नहीं हैं। भ्रांन्ति वहाँ होती है जहाँ प्रतीति बाधित हो जैसे रस्सी में साँप की भ्रान्ति। गुण की सहृदयसंवेद्य प्रतीति बाधित नहीं, निष्कम्प होती है (3/1/27)। गुण पाठधर्म भी नहीं है। पाठधर्म का आश्रय पाठ करनेवाले का कौशल है, जबकि गुण रचनाविधान का अनिवार्य धर्म है, जिसका अनुभव काव्य के मौनपाठ करते समय भी होता है। पाठधर्म होने पर पाठ करने वाला जहाँ चाहे वहाँ, जिस गुण की भी चाहे प्रतीति करा सकता था, पर वैसा संभव नहीं है (3/1/28)।

गुण की सत्ता को प्रकारान्तर से सिद्ध करने के लिए वामन ने 'काव्यपाक' का प्रश्न उठाया। इसके तीन प्रकारों की चर्चा की गयी है। वह काव्य जो दशविध बन्ध-अर्थगुण से रहित है वह निरर्थक है, बेकार है—दाडिमपाक की तरह (3/2/15 का प्रकीर्ण श्लोक–3)। जहाँ सिर्फ सुप्, तिङ् आदि का संस्कार अर्थात् सौशब्द्यता हो, उसका अर्थगुण पक्ष क्लिष्ट हो जाता है—वह काव्य 'वृन्ताकपाक' कहा जायगा (3/2/15 का प्रकीर्ण श्लोक–2)। किन्तु, जिस काव्य में बन्धगुण तथा अर्थगुण पूर्णतः स्फुट हों, वही वास्तविक काव्यपाक है, आम्रपाक की तरह रूप-रस से परिपूर्ण (3/2/15 का प्रकीर्ण श्लोक–3)। ऐसा काव्यपाक ही वामन को इष्ट है।

3·5 7. शब्द-चिन्तन की दृष्टि से गुण की सत्ता की भावात्मक स्वीकृति का विशेष महत्त्व है। भरत ने गुण को दोष के विपर्यस्तधर्मी कहा था।[1] यह 'गुण' के दोषाभावरूप होने का प्रतिपादन है। अर्थात् भरत की दृष्टि में दोष के नहीं होने की स्थिति गुणस्थिति होगी। वामन की धारणा ठीक इसके विपरीत है। वामन मानते हैं कि गुण की प्रकृति के विरोधीरूप दोष हैं—गुणविपर्ययात्मानो दोषाः 2/1/ । अर्थात् गुण और दोष प्रकृत्या भिन्न होते हैं, उनमें किसी के अभाव से दूसरे की स्थिति होने का प्रश्न नहीं उठता। इस रूप में वामन ने गुण की वाग्योगरूपता ही सिद्ध की है। काव्य का वाग्योग अपोह के आश्रित नहीं (अर्थात् दोषाभाव के आश्रित न होकर), भावात्मक प्रक्रिया है, वामन ने इस तथ्य पर बल दिया है।

---

1. एते दोषा हि काव्यस्यमया सम्यक् प्रकीर्तिताः।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः।—ना० शा० 17/94.

3·5·8. वामन की अलंकारधारणा अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न है। काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है अथवा अलंकार काव्य के शोभाधायक धर्म है कि धारणा तो क्रमशः भामह और दण्डी को स्वीकार्य थी, लेकिन वे उस तत्त्व को स्फुट नहीं कर सके जो अलंकार का बीज है। वामन ने पहली बार स्पष्ट संकेत किया—सौन्दर्यमलङ्कारः (1/1/2)। अलंकार वस्तुतः भावव्युत्पत्ति की दृष्टि से सौन्दर्य का पर्याय है, करणव्युत्पत्ति से उपमादि वाग्विकल्पों को भी अलंकार कहा जाता है। वामन की दृष्टि में अलंकार अतः द्विरूपात्मक मान्य है : सौन्दर्यरूप और सौन्दर्यहेतुरूप। कठिनाई यह है कि सौन्दर्यरूप (भावव्युत्पत्तिमूलक) अलंकार की व्याख्या वामन ने नहीं की, सिर्फ संकेत करके रह गये, जबकि सौन्दर्यहेतुरूप अलंकार की वे विस्तृत विवेचना करते हैं। फिर भी, वामन का यह महत्त्व तो है ही कि 'काव्य मूल्य' के रूप में वे सौन्दर्य का संकेत कर गये। बाद में महिमभट्ट ने तो स्पष्ट कह दिया है कि कवि सौन्दर्यातिरेक निष्पत्ति (रस) के लिए ही कविकर्म में प्रवृत्त होता है।[1] वामन का यह महत्त्व भी है कि वे सौन्दर्य की विस्तृत वस्तुनिष्ठ विवेचना करते हैं अवश्य, किन्तु गुण पर विशेष बल देने तथा करणव्युत्पत्तिमूलक अलंकारवर्ग से रसप्रपंच को निकालकर कांति अर्थगुण में समाविष्ट कर लेने के कारण उनकी वस्तुनिष्ठता ऐकान्तिक नहीं रह जाती। सम्भव है वामन अगर भावव्युत्पत्तिमूलक अलंकृति के सौंदर्यवादी निर्वचन में प्रवृत्त होते तो, सौन्दर्य की व्यक्तिनिष्ठता को भी विवेचित कर जाते। पर, वैसे हुआ नहीं। सौन्दर्य के तीन पक्ष वस्तु, वस्तु-साधन और भोक्ता (व्यक्ति) में से वामन वस्तु और वस्तु-साधन का ही विवेचन कर पाये, लेकिन युगसीमा में यह भी कुछ कम नहीं।

3·5·9. गुण पर विशेष बल देने के कारण स्वभावतः वामन ने करण व्युत्पत्ति-मूलक अलंकारों पर विशेष ध्यान नहीं दिया है, फिर भी शब्दचिन्तन की दृष्टि से उनकी कई स्थापनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं :

(i) यमक की प्रायशः पारम्परिक व्यवस्था के बाद उसके उत्कर्षधायक तत्त्व का विवेचन किया गया है। वामन का कहना है कि पदों में भंग अथवा विच्छेद रहने से यमक-प्रयोग उत्कृष्ट होता है (4/1/3)। भंग के तीन प्रकार बतलाए गये हैं—शृंखला, परिवर्तक और चूर्ण। वर्णविच्छेद का जहाँ क्रमशः चलन हो, वहाँ शृंखला यमकभंग होगा। जैसे 'कलिकामधुर्गहित' में कलि,

1. सौन्दर्यातिरेकनिष्पत्तयेऽर्थस्य काव्यक्रियारम्भः कवेः। व्यक्तिविवेक, सं० डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी, पृ० 397.

कलिका, काम, मधु आदि क्रमशः शृंखलाबद्ध वर्णविच्छेद आते हैं। 'परिवर्तक' यमकभंग में समीपस्थ अक्षर की संगति छूट जाने पर पद के प्रकृत स्वरूप की प्राप्ति होती है। उपर्युक्त उदाहरण में 'कामधुक्' विच्छेद से 'र्अहित' पद, अपने विच्छेदपूर्व पदरूप 'गर्हित' से मुक्त हो जाता है। परिवर्तक में दरअसल विच्छेद के पूर्वापर से भिन्नरूपात्मक-स्वरूपात्मक पदरूप का संबंध होता है और दोनों सार्थक होते हैं। चूर्ण यमकभंग के अन्तर्गत संयुक्ताक्षर में वर्णविच्छेद से प्राप्त विभिन्न अन्वय वाले पदों का भिन्नार्थक प्रयोग आता है। वामन ने 'दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनाङ्कान्त' का उदाहरण दिया है। वर्णविच्छेद से तथा भिन्न अन्वय से उसके दो रूप आते हैं: (i) दूरे समुन्मुक्ता शुक् शोको येन स दूरसमुन्मुक्तशुक् एवं तिमानां कान्तः प्रियः और (ii) दूरसम् उन्मुक्ता उद्गतमुक्ता शुक्तयः उन्मुक्तशुक्तयः, एवं मीनानामङ्कचिह्नं वर्त्तते अन्तभागे प्रान्त भागे। दोनों के अर्थ भिन्न हैं। भारतेन्दु का 'सत्यासक्त दयालद्विज' में 'सत्यासक्त' इसी कोटि का प्रयोग है। शृंखला तथा परिवर्तक कोटि का प्रचुर प्रयोग प्रपद्यवादी कवियों ने किया है। नलिनविलोचन शर्मा का 'कलकत्—ताप्–अंजा–बमेल, (नकेन पृ० 8) तथा केसरी कुमार का 'काला–ई–वाच्'–काला-उ–वाच' (नकेन पृ० 58) प्रयोग क्रमशः शृंखला तथा परिवर्तक यमकभंग के उदाहरण हैं।

(ii) अनुप्रास के लिए वामन ने अनुल्वणत्व को श्रेयस्कर माना है (4/1/9)। अनुल्वणत्व का अर्थ है, उग्र अथवा कठोर वर्णों का अभाव। यों, आवश्यकतानुसार कठोर वर्णों की अस्निग्ध आवृत्ति भी होती ही है। वामन उसका निषेध नहीं करते, लेकिन अनुल्वणत्व को श्रेयस्कर वे अवश्य मानते हैं।

(iii) अर्थालंकार का विवेचन वामन ने उपमामुख से किया है। दण्डी ने भी ऐसा ही किया था, लेकिन उन्होंने सिर्फ शुरुआत उपमा से की थी, सविस्तर, वामन की धारणा भिन्न हैं। वे सर्वत्र अर्थालंकारों में सादृश्यविधान देखते हैं, परिणामतः पूर्वविवेचित अलंकारों में से आशीः, आवृत्ति, पर्यायोक्त, उदात्त, भाविक आदि को उन्होंने छोड़ दिया है। साम्य और साद्धर्म्य अप्रस्तुतविधान का अत्यत व्यापक क्षेत्र है और वामन इन्हें ही मूलतः काव्योपयोगी मानते हैं। यों, उक्ति-चमत्कार के अनेक विकल्प ऐसे हो सकते हैं, होते हैं, जिनका स्पष्ट सम्बन्ध साम्य अथवा साद्धर्म्य से नहीं बनता; फिर भी वामन का यह महत्त्व तो है ही कि उन्होंने अप्रस्तुतविधान के एक बुनियादी पक्ष—साम्यमूलकता को अर्थालंकारों का प्राण माना है।

(iv) किसी भी प्रकार का अथवा अनर्गल साम्य-प्रतिपादन उपमा का विषय नहीं होता। उपमा से चमत्कार तो उत्पन्न होगा, किन्तु चमत्कार मात्र के लिए नहीं; अर्थात् चमत्कार साधन हो सकता है, अप्रस्तुत-विधान का साध्य नहीं। इसके लिए वामन ने उपमा की मर्यादाएँ निर्धारित की हैं। पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों ने उपमा के दोषों की चर्चा काव्यदोष के प्रसंग में की है, किन्तु वामन उपमा-प्रसंग में ही उनका विवेचन करते हैं। व्यवस्था की दृष्टि से यही उपयुक्त भी है।

वामन के मत में उपमा के छह दोष हैं : हीनत्व, अधिकत्व, लिङ्गभेद, वचनभेद, असादृश्य और असंभव (4/2/8)। इन दोषों का नहीं होना ही उपमा की मर्यादा है, इनका सम्बन्ध उपमान तथा उपमेय के साम्य एवं साद्धर्म्य-औचित्य से है। उपमेय की अपेक्षा उपमान की, जाति, प्रमाण तथा धर्म पर आधारित न्यूनता 'हीनत्व' दोष है। इसी, प्रकार उपमान में जाति, प्रमाण तथा धर्म पर आधारित अधिकत्व 'अधिकत्व दोष' है। उपमान-उपमेय में लिंग का अन्तर लिंगभेद दोष है। वामन ने इसकी विशेष चर्चा की है। बात यह है कि संस्कृत में तीन लिंग हैं स्त्रीलिंग, पुंल्लिंग और नपुंसकलिंग। सामान्यतः उपमान तथा उपमेय का एक-लिंगवर्गीय होना उत्तम होता है, लेकिन वामन के अनुसार लौकिकी उपमा (छायेव स तस्या : वह पुरुष उस स्त्री की छाया की तरह है को, संस्कृत में 'छाया' नपुंसक लिंग है, फिर भी लोकसिद्ध स्थिति होने के कारण उपयुक्त प्रयोग माना गया है। हिन्दी में अर्थात् नपुंसकलिंग संबंधी समस्या उठती ही नहीं), सामासाभिहित उपमा (भुजलता नीलोत्पलसदृशी—स्त्रीलिंगी उपमेय के लिए नपुंसकलिंगी उपमान) तथा प्रतिवस्तूपमा के संदर्भ में भी लिंगभेद का प्रयोग ग्राह्य है। उपमेय-उपमान के वचन में अन्तर अर्थात् एकवचन उपमेय के लिए द्विवचन अथवा बहुवचन उपमान का प्रयोग वचनभेद दोष है। प्रतीत न होने वाले गुणों के आधार पर सादृश्ययोजना असादृश्य दोष है। उपमान की अनुपपत्ति अर्थात् असिद्धि में असंभव दोष होता है। जैसे—खिले हुए कमल के मध्य में चाँदनी की तरह नायिका के खिले हुए मुख पर मुस्कुराहट की छाया चमकती है। रात में कमल का खिलना असिद्ध है, फलतः पूरी उपमा ही असंभव हो जाती है।

इन छह दोषों के माध्यम से वामन ने कवियों की चमत्कारातिशय-प्रवृत्ति को मर्यादित करने का प्रयास किया है। उपमेय-उपमान के साम्यनिरूपण के लिए प्रतीति एवं सम्भाव्यता अनिवार्य है।

(v) अर्थालंकार को उपमाप्रपंच मान लेने का एक परिणाम यह भी हुआ है कि वामन काव्य में वक्रोक्तितत्त्व तथा वाग्विकल्परूप वक्रोक्ति का सम्यक् महत्त्व

नहीं आँक सके। उन्होंने सादृश्यमूला लक्षणा में वक्रोक्ति को सीमित कर दिया है (4/3/8)। लक्षणा के पाँच हेतु माने जाते हैं—सम्बन्ध, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य और क्रियायोग। इनमें सादृश्य तक वक्रोक्ति को सीमित कर देना निश्चय ही कोई उपयुक्त प्रतिपादन नहीं, इसीलिए बाद में भी यह धारणा स्वीकृत नहीं हुई। यों, डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में इसे ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्वसूचना अवश्य माना जा सकता है।[1]

3·5·10. शब्दचिन्तन के सन्दर्भ में वामन का दोष-विवेचन तथ्य की दृष्टि से नहीं, वर्गीकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वामन-विवेचित सारे काव्यदोष प्रायः वे ही हैं, जिन्हें भरत, भामह और दण्डी ने पहले ही प्रतिपादित किया था; लेकिन वामन का वैशिष्ट्य यह है कि पूर्ववर्ती संग्रहरूप काव्यदोषों को उन्होंने विधिवत् वर्गीकृत एवं व्यवस्थित किया।

(क) दोषों को वामन 'काव्यसौन्दर्याक्षेपहेतु' कहते हैं (2/1/1 की प्रस्ताव-वृत्ति)। अर्थात् काव्यसौन्दर्य के विनाशक तत्त्व दोष कहे जाएँगे। वे दोष गुण के विपर्ययात्मक हैं (2/1/1)। गुण का धर्म जहाँ काव्यशोभा में अभिवृद्धि करना है, वहाँ उसका विपर्यय धर्म अर्थात् काव्यशोभा का विनाश दोष का धर्म है। दोष की प्रकृति का पहली बार स्पष्ट निदर्शन वामन ने किया है।

(ख) काव्यसौन्दर्याक्षेपहेतु दोषों को वामन ने रीति के सन्दर्भ में देखा है। वामन पहले ही यह स्थापना दे चुके हैं कि गुण एवं अलंकार से संस्कृत शब्दार्थ काव्य कहा जाता है, लक्षण से लोग शब्दार्थमात्र को काव्य कहते हैं (1/1/1 की वृत्ति)। यह गुणालंकारसंस्कृत शब्दार्थ विशिष्ट पदरचना के रूप में प्रस्फुटित होते हैं। यही रीति है। जिस प्रकार शरीर के माध्यम से आत्मा का प्रकाश प्रस्फुटित होता है, उसी प्रकार काव्यशरीर (गुणालंकारसंस्कृत शब्दार्थ) से रीतिरूप काव्यात्मा प्रस्फुटित होती है—रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य। शरीरस्येवेति वाक्यशेषः (1/2/6) का यही स्वारस्य है। इसीलिए वामन ने दोषों को काव्यदोष नहीं, काव्य-सौन्दर्याक्षेपहेतु कहा है। यह काव्यसौन्दर्य वामन के मत में गुण, अलंकार के सद्भाव तथा दोषों के परित्याग से आता है (1/1/3)। वामनसम्मत 'रीति' अर्थात् विशिष्ट पदरचना के माध्यम से काव्यगत इसी मूल्य अर्थात् सौन्दर्य की उपलब्धि होती है। अतः, दोष-विवेचन का सन्दर्भ रीति ही है। इसकी पुष्टि एक अन्य विचार से भी होती है। 'दोष' 'गुणविपर्ययात्मक' है, तो दूसरी ओर 'वशिष्ट

1. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति की भूमिका, पृ० 26.

पदरचना अर्थात् रीति का वैशिष्ट्य गुणात्मक है। दोष की 'गुणविपर्ययात्मकता' और रीति की गुणात्मकता, स्पष्ट ही दोष को रीति के सन्दर्भ में विवेचित करने के आग्रह का संकेत है।

(ग) काव्यसौन्दर्य चूँकि गुणालंकारसंस्कृत शब्दार्थ के आश्रित है, इसलिए उसके आक्षेपहेतुओं को भी वामन ने शब्दार्थपक्ष से ही वर्गीकृत किया। पद और पदार्थदोष के अलावा वाक्य और वाक्यार्थ दोष की चर्चा भी आई है। वामन ने वाक्य को विवेचना का एक आधार इसलिए भी स्वीकार किया कि रीति अर्थात् विशिष्ट पदरचना को काव्य में बुनियादी महत्त्व का तत्त्व मानते हैं। वाक्य से तात्पर्य यहाँ पदरचना ही है। इस तथ्य से भी यह पुष्ट होता है कि वामन के दोष-विवेचन का संदर्भ रीति है।

पददोषों की संख्या पाँच है : (i) असाधु—व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध (ii) कष्ट—श्रुतिविरस या कर्णकटु (iii) ग्राम्य (iv) अप्रतीत—अप्रचलित शास्त्रीय शब्द आदि और (v) अनर्थकः—सिर्फ पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त शब्द।

अर्थदोषों की संख्या भी पाँच हैं : (i) अन्यार्थ रूढ़िच्युत अर्थ में प्रयोग, (ii) नेयार्थ—शब्द का किसी कल्पित अर्थ में प्रयोग, कूटप्रयोग इसी दोष के अन्तर्गत आएँगे, (iii) गूढ़ार्थ—अप्रसिद्ध अर्थ (iv) अश्लील और (v) क्लिष्ट। अश्लील अर्थदोष पर किंचित् विस्तार से विचार किया गया है। अश्लील अर्थ के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—व्रीडा उत्पादक, जुगुप्सा उत्पादक और आतंकदायी। किन्तु, अश्लील अर्थ यदि प्रयुक्त पद का अप्रसिद्ध अर्थ (गुप्त) हो, लक्षणागम्य अथवा लोक-संवीत (लोकव्यवहारसिद्ध) हो तो वहाँ अश्लील दोष नहीं माना जायगा।

वाक्यदोष तीन बतलाये गये हैं : भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट और विसंधि। इनका सम्बन्ध छन्दोविधान से है। लक्षण के अननुकूल वृत्त भिन्नवृत्त है, विरस यति अथवा विराम यतिभ्रष्ट है और अनुचित पदसंधि विसन्धि है।

वाक्यार्थ दोषों की संख्या सात हैं : व्यर्थ—पूर्वापर विरोधी, एकार्थ—पुनरुक्ति, किन्तु किसी विशेष प्रतीति, सामीप्यबोध, शुद्धता विशेष, उत्कर्षाधान, प्रौढ़ि, विशेषण आदि प्रयोजन की सीद्धि के लिए एकार्थ-प्रयोग होने पर दोष नहीं मान जाता, संदिग्ध—संदेहकारक, अप्रयुक्त—अतिशय कल्पित अर्थ, अपक्रम—क्रमहीन अर्थवाला वाक्य, लोकविरुद्ध—देश-काल—स्वभाव विरोधी और विद्याविरुद्ध—कला, चतुर्वग, शास्त्र आदि के विरुद्ध।

यह सही है कि इन दोषों का महत्त्व सार्वलौकिक या सार्वकालिक नहीं है, किन्तु यह भी सही है कि अपनी युगसीमा में वामन का वर्गीकरण उपयोगी, स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त है।

3·5·11. उपर्युक्त विवेचित सन्दर्भों में वामनसम्मत रीतिधारणा का भी यथेष्ट उल्लेख किया जा चुका है, उनका पुनराख्यान अपेक्षित नहीं। किन्तु कुछ विशिष्ट मुद्दों की व्याख्या आवश्यक है।

(क) रीति को विशिष्ट पदरचना के रूप में पारिभाषित करते हुए वामन ने उक्त वैशिष्ट्य को गुणात्मक कहा है और फिर गुणों का विस्तृत विवेचन किया है। वामनीय सूत्रों के अंगरेजी अनुवाद में डॉ० गंगानाथ झा ने रीति के लिए 'डिक्शन' शब्द का प्रयोग किया है।[1] 'डिक्शन' शब्द अंगरेजी में व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। जोसेफ टी शिप्ले ने डिक्शन की दो विशेषताएँ निर्दिष्ट की हैं : (i) सन्दर्भ, भंगिमा, उद्देश्य, सहृदय तथा प्रयोक्ता की दृष्टि से बन्ध की उपयुक्तता और (ii) रुचि बनाये रखने की दृष्टि से विविधता का समावेश।[2] 'रीति' के 'डिक्शन' शब्द के प्रयोग में डॉ० झा की सम्भवतः यही व्यापक दृष्टि काम कर रही थी। स्वयं आचार्य वामन ने भी दोष के परिहार, गुणालंकार के सद्भाव तथा प्रायोगिक के अन्तर्गत जो व्यवस्थाएँ रखी हैं, वे काव्य में पदरचना के वैशिष्ट्य के व्यापक वर्णक्रम को ही प्रमाणित करती हैं। इस सन्दर्भ में डॉ० नगेन्द्र का यह निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण है कि "वामन की रीति अपनी परिधि में शब्द चमत्कार, अलंकार-सम्पदा तथा अर्थ-स्वारस्य का भी समावेश कर लेती है। इसप्रकार उन्होंने नापनी रीति को शब्दसौन्दर्य, उक्तिसौन्दर्य और अर्थसौन्दर्य का संयुक्त पर्याय बनने का प्रयत्न किया है।"[3]

1. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, द्वितीयावृत्ति (आरिएन्टल बुक एजेन्सी, नपू 1928), पृ० 4.
2. 'डिक्शन : द वर्डिंग ऑफ एॅ वर्क, द स्टाइल ऑफ फ्रेजिंग, फन्डमेन्टली, डिक्शन नीड ऑब्ज़र्व टू क्राइटेरिया : फिटनेस (टू थीम, मूड, पर्पस, रिसेप्टर, यूज़र) एण्ड—टू सस्टेन इन्टरेस्ट—वरायटी।'
—डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटररी टर्म्स, जोसेफ टी० शिप्ले, पृ० 83.
3. काव्यालंकारसूत्र वृत्ति को भूमिका, पृ० 25। द्रष्टव्य : अन्यत्र डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—"··· केवल शब्दगुम्फ ही नहीं—परम्परा-मान्य तीन गुणों के अतिरिक्त रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्दशक्ति और उधर दोषाभाव भी वामनीय रीति के मूल तत्त्व हैं। और स्पष्ट शब्दों में, परवर्ती काव्यशास्त्र की शब्दावली में—वामन के मत में रीति के बहिरंग तत्त्व हैं शब्दगुम्फ और अन्तरंग तत्त्व हैं गुण, रस, ध्वनि (यद्यपि उस समय तक ध्वनि का आविर्भाव नहीं हुआ था), अर्थालंकार और दोषाभाव।" —उपरिवत्, पृ० 46.

(ख) यह सही है कि वामनीय 'रीति अवधारणा' तथा अंगरेजी के डिक्शन में पुंखानुपुंख अर्थसाम्य नहीं है। अंगरेजी का 'स्टाइल' अथवा 'डिक्शन' काव्य-व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का अर्थ देते हैं, यहाँ तक तो बात ठीक है; लेकिन इसके बाद इसप्रकार की स्थापना कि वामन की 'रीति' का उस काव्यव्यक्तित्व से कुछ लेना-देना नहीं; क्योंकि यह सिर्फ काव्यगुणों की संस्थिति (कोलोकेशन) का पर्याय है,[1] ठीक नहीं। वामन ने रीति और काव्यव्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न को रीति-वर्गीकरण के क्रम में उठाया है।

वामन ने रीति के तीन प्रकार बतलाए हैं : वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली (1/2/9)। यहीं प्रश्न उठा कि क्या काव्यों के द्रव्यगुण (विशेषता) की उत्पत्ति देश विशेष के कारण होती है कि रीतियों के नाम देश के आधार पर रखे गये हैं? वामन का स्पष्ट उत्तर है—नहीं। तत्-तत् क्षेत्रों के कवियों ने अपने काव्य में विशिष्ट प्रयोग किये हैं, उसप्रकार के द्रव्यगुण उन कवियों ने वस्तुतः उपलब्ध किये हैं (1/2/10 की वृत्ति)। स्पष्ट है कि क्षेत्रविशेष के कवियों की कुछ विशिष्ट भाषिक प्रवृत्तियाँ होती हैं, जिनका व्यापक वर्गीकरण वैदर्भादि के रूप में किया गया है। अर्थात् वे रीतियाँ वस्तुतः क्षेत्रविशेष के कवियों के काव्यव्यक्तित्व की परिचायक हैं। इस तथ्य की पुष्टि आधुनिक मनोभाषिकी (सायकोलिंग्विस्टिक्स) से भी होती है।[2] इसप्रकार ये रीतियाँ कवियों की विशिष्ट भाषिक प्रवृत्तियाँ हैं, जो मूलतः क्षेत्र

---

1. '.....इंगलिश स्टाइल और पोएटिक डिक्शन इज द मैनिफेस्टेशन ऑफ पोएटिक पर्सनाल्टी : वामन' स रीति ऑन द अंदरहैंड हैज नथिंग टु डू विद् पोएटिक इन्डिवीडुयल्टी, सिन्स इट इज ब्राँट इन्टु बीइंग थ्रू कोलोकेशन ऑफ लिटररी एक्सलेंसेज।"

—डॉ० अनन्तलाल गंगोपाध्याय; कॉन्ट्रीब्यूशन ऑफ अप्पयदीक्षित टू इंडियन पोएटिक्स, संस्कृत पुस्तक भंडार, कलकत्ता (1971), पृ० 3.

2. "भाषा की प्रवृति स्थानीय या क्षणिक परिखण्डों में अपने को प्रक्षिप्त या समाविष्ट कर देना है। कारण यह है कि प्रत्येक जैव-प्रणाली अपने वातावरण के साथ निजी सापेक्षता का अनुसरण करती है। स्वभावतः पूरा सातत्य अंतरसंवाहिक है। यही कारण है कि किसी विशिष्ट परिवेश में कोई विशिष्ट प्रकार का भाषिक स्वरूप ही निर्धारित हो पाता है।"

—डॉ० सूर्यदेव शास्त्री, मनोभाषिकी, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी (1973), पृ० 19.

विशेष के कवियों में लक्षित हुई थीं, किन्तु वामन तक आते-आते वह क्षेत्रीय सीमा नहीं रह गयी थी; वे किसी भी क्षेत्र के कवियों के लिए ग्राह्य थीं। इसीलिए वामन रीति को काव्यात्मस्थानीय मान सके थे। वैदर्भादि की पारस्परिक उत्कृष्टता किंबा ग्राह्यता के संदर्भ में भी प्रकारान्तर से विवेच्य प्रश्न का उत्तर दिया गया है। वैदर्भी सभी गुणों से युक्त होती है (1/2/11), इसीलिए वही कवियों के लिए आदर्श एवं ग्राह्य भी है (1/2/14)। यहीं वामन टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि "कुछ लोगों का कहना है कि वैदर्भी रीति में सिद्धि के लिए गौडीया तथा पाञ्चाली का अभ्यास करना आवश्यक है (1/2/16)। किन्तु, यह सही नहीं है, क्योंकि जो तत्त्व का अभ्यासी नहीं उसे तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती, जो सन की सुतरी बाँटने का अभ्यासी है उसे तसर (रेशम) के सूत बुनने में दक्षता प्राप्त नहीं होती (1/2/17,18) जाहिर है कि वैदर्भी विशिष्ट प्रतिभासंपन्नता की ही उपलब्धि हो सकती है। प्रकारान्तर से वामन ने पुनः कविप्रतिभा तथा स्वभाव पर बल दिया है। हाँ, वामन इस धारणा को पूर्ण स्फुटता प्रदान नहीं कर सके, बाद में कुंतक ने इसी अस्फुट धारणा को विस्तार तथा शास्त्रीयता दी। इसप्रकार वामन की रीति-अवधारणा का सम्बन्ध काव्य के भाषिकतत्त्व, संवेद्यविषय (अर्थगौरव, रस) तथा काव्यव्यक्तित्व तीनों से सिद्ध होता है।

(ग) वामन ने समग्रगुणयुक्तता को वैदर्भी रीति कहा है (1//2/11)। सिर्फ ओज तथा काँति गुणसंपन्नता गौडीया रीति का लक्षण है (1/2/12) और माधुर्य सौकुमार्ययुक्तता पांचाली रीति है (1/2/13)। इसप्रकार ये नामकरण महज औपचारिक है। वस्तुतः, काव्यगुणसंपन्नता के दो ही वर्ग वामन ने निर्धारित किये हैं : सर्वगुणसंपन्नता और खंडगुणसंपन्नता, जिसके पुनः दो प्रकार बतलाये गये हैं— ओज-कांतियुक्तता और माधुर्य-सौकुमार्ययुक्तता। इसीप्रकार के अन्य गुणयोग-वर्ग बनाये जा सकते हैं और तदनुसार नामकरण भी होंगे। बाद में भोज ने ऐसा किया भी है। रीति-वर्गीकरण के पीछे गुणयोग का ही विचार है, यह निश्चित है। इसी गुणयोग के आधार पर वामन ने वैदर्भी को सर्वोत्कृष्ट एवं ग्राह्य बतलाया और कहा कि अन्य रीतियाँ स्तोकगुणत्व अर्थात् गुणयोगलेशता के कारण ग्राह्य नहीं हैं (1/2/15), लेकिन वामन ने अन्य रीतियों की बुनियादी काव्यता से इनकार नहीं किया है, क्योंकि वे यह भी कहते हैं कि इन तीन रीतियों के अन्तर्गत काव्य वैसे ही प्रतिष्ठित है, जैसे रेखाओं के बीच चित्र प्रतिष्ठित होता है : एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति (1/2/13 की वृत्ति)।

3·5·12. काव्यगत शब्दचिंतन की दृष्टि से काव्यालंकारसूत्र के प्रायोगिक अधिकरण का आंशिक महत्त्व है। प्रायोगिक का वास्तविक महत्त्व कविशिक्षा की दृष्टि से है। इसके अन्तर्गत दो विषय विवेचित हुए हैं : काव्यसमय और शब्दशुद्धि।

काव्यसमय का अर्थ है काव्यरचना के परम्परित आचार, जिनका निर्वाह किया जाना चाहिए। इसके अन्तर्गत कुल सत्रह काव्यसमय की चर्चा है (i) एक ही पद का एक ही स्थान पर अथवा एक ही काव्य में दो बार प्रयोग प्राय: नहीं करना चाहिए, किन्तु, सन्त-सन्त ही होते हैं, दुष्ट-दुष्ट ठहरे जैसे (लाटानुप्रासीय) प्रयोग किये जा सकते हैं (ii) श्लोक के पादों में (पूर्वार्द्ध के अन्त और उत्तरार्द्ध के प्रारंभ को छोड़कर) आये हुए शब्दों में यदि संधि का विधान बनता हो तो संधि अवश्य की जानी चाहिए, अन्यथा विसन्धि दोष होता है (iii) सामान्यत: पाद के अन्त में स्थित लघुवर्ण गणना-सौकर्य के लिए गुरु मान लिया जाता है, पर सर्वत्र सभी छंदों में ऐसा नहीं होता (iv) गद्य में अपूर्णवृत्त का प्रयोग वर्जित है (v) श्लोक के पाद के आरम्भ में 'खलु', 'इव' आदि का प्रयोग उचित नहीं है (vi) श्लोकार्ध में असमाप्तप्राय वाक्य का प्रयोग नहीं होना चाहिए (vii) बहुव्रीहि का भ्रम उत्पन्न करने वाले कर्मधारय शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए (viii) उसी प्रकार कर्मधारय का भ्रम उत्पन्न करने वाले बहुव्रीहि शब्द का प्रयोग न हो (ix) जब कही जा रही बात के निषेध किये जाने की संभावना हो तभी दो प्रतिषेधक पदों का प्रयोग किया जाना चाहिए, ताकि निषेध की संभावना समाप्त हो सके (x) विशेष्य (संज्ञा) की प्रतिपत्ति सुविदित होने की अवस्था में सिर्फ विशेषता का ही प्रयोग पर्याप्त है। पृथ्वी के लिए समुद्र तथा आकाश से घिरी रत्नगर्भा अथवा शिव के लिए त्रिपुरारि आदि प्रयोग ऐसे ही हैं, और अपेक्षाकृत काव्योचित भी (xi) वाक्य में समास के गौण अंग का संकेत सर्वनाम से किया जाना चाहिए (xii) कहीं-कहीं प्रधान अर्थ के साथ गौण अर्थ का सम्बन्ध-बोधनकार्य सर्वनाम से संभव न हो तो षष्ठी का प्रयोग किया जाना चाहिए। (xiii) अतिप्रचलित देशज शब्दों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए (xiv) किसी शब्द का लिंग और अध्याहार अतिप्रचलित प्रयोग के अनुसार ही मानना चाहिए (xv) अतिप्रचलित लक्षणा शब्द का ही प्रयोग किया जाना चाहिए (xvi) अनेक लक्षणा शब्दों का प्रयोग एक ही वाक्य में नहीं होना चाहिए और (xvii) स्तन, नेत्र आदि का प्रयोग द्विवचन (बहुवचन) में ही होता है।

उपर्युक्त काव्यसमयों में से पहला, दसवाँ, पंद्रहवा तथा सोलहवाँ निदेश काव्यगत शब्दचिंतन से संबद्ध हैं; सातवाँ, आठवाँ, नौवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ,

तेरहवां, चौदहवां तथा सत्रहवां निदेश सामान्य भाषाप्रयोग से संबद्ध हैं और दूसरा तीसरा, चौथा, पांचवां तथा छठा निदेश छंदोविधान से संबद्ध हैं। विशेषण-विपर्यय तथा लक्षणा से संबद्ध काव्यसमय महत्त्वपूर्ण हैं; छायावादी काव्य में तो विशेष्य के लिए विशेषण तथा लक्षण शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है।

शब्दशुद्धि-प्रकरण का सीधा सम्बन्ध वैयाकरणिक व्युत्पत्ति तथा संस्कार से है, काव्यगत शब्द-चिंतन से नहीं।

आचार्य रुद्रट

3·6·1. रुद्रट मूलतः कविशिक्षाशास्त्री एवं संग्राहक आचार्य हैं, इसलिए शब्द की काव्यगत भूमिका पर किसी गम्भीर चिन्तन का प्रयत्न काव्यालंकार में नहीं मिलता। उनका सारा प्रयत्न विभिन्न आचार्य-परम्पराओं, काव्य-गोष्ठियों आदि में उत्थापित एवं स्थापित काव्यसम्बन्धी चिन्तनाओं का सुव्यस्थित संग्रह प्रस्तुत करने में लगा है। यह तथ्य इस बात से भी प्रमाणित होता है कि रुद्रट को किसी भी काव्यचिन्तन-प्रस्थान से जोड़कर नहीं देखा जा सकता।[1] इसलिए वे काव्य को पारिभाषित करने का प्रयत्न भी नहीं करते। उनका 'ननु शब्दार्थौ काव्यं' वस्तुतः काव्यचिन्तन सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं को 'शब्द' (वर्ण, पद, वाक्य) तथा 'अर्थ' की दृष्टि से वर्गीकृत करके सुव्यवस्थित प्रस्तुति की भूमिका मात्र है। वैसे, ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्रट 'रस' को ही काव्य का व्यवच्छेदक तत्त्व मानते हैं। उनके मत में काव्य द्वारा रसिकजनों को धर्मार्थकाममोक्ष का सहज ज्ञान होता है, क्योंकि वे (रसिकजन) शास्त्रों से घबड़ाते हैं। अतः काव्य को प्रयत्नपूर्वक रसयुक्त बनाया जाना चाहिए, अन्यथा शास्त्र की भाँति काव्य भी भय का कारण बन जाएगा (काव्यालंकार, 12/1,2)। रसयुक्तता को काव्य की काव्यता की अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकृति, पहले-पहल रुद्रट ने ही दी है। इनके पूर्व के काव्यशास्त्रियों ने इस को काव्य की काव्यता के लिए आवश्यक अथवा उपयोगी तो माना था, पर अनिवार्यता की बात भामह आदि के चिन्तन में नहीं है।

रस को काव्यता की अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकार कर लेने के बाद जरूरत सिर्फ इस बात की थी कि काव्य को रसयुक्त बनाने के लिए कवि क्या करे और क्या नहीं, इसपर विचार किया जाता, और रुद्रट ने यही किया भी।

---

1. डॉ० सत्यदेव चौधरी, 'काव्यालंकार' का संपादकीय, वासुदेव प्रकाशन (1965) पृ० 31.

3·6·2. रसवादी दृष्टि से अलंकार, गुण, वृत्ति, रीति आदि शब्दमूलक तथा नायक-नायिकाभेद प्रभृति वर्णनप्रकार अथवा वर्णक अभिधेयमूलक साधन माने जाएँगे। रुद्रट ने काव्य चिन्तनगत अन्य मुद्दों का विवेचन इसी दृष्टि से किया भी है। अलंकार का विशेष विवेचन किया गया है। गुण का विवेचन नहीं है, वृत्तिचर्चा गौण रूप में आई है। दोषों की विस्तृत चर्चा की गयी है।

3·6·3. (क) शब्दचिन्तन की दृष्टि से रुद्रट का शब्दार्थविवेचन वस्तुतः व्याकरणिक धारणाओं की प्रस्तुति मात्र है। शब्द अर्थवान् वर्णों का समुदाय है, जिसके पाँच प्रकार रुद्रट ने कहे : नाम (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण), आख्यात (भाव प्रधानता), निपात (अव्यय), उपसर्ग तथा कर्मप्रवचनीय (2/2, 3)। 'अर्थ' को रुद्रट अभिधावान् कहते हैं, जिसका वाचक कोई-न-कोई शब्द होता है। इस वाचक शब्द के चार प्रकार बतलाए गये हैं : द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति (7/1)। वाक्य का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि परस्पर व्यपेक्ष वृत्ति वाले, एकपरक, आकांक्षारहित शब्द-समुदाय वाक्य है (2/7)। इसप्रकार शब्द, अर्थ और वाक्य का सामान्य व्याकरणिक रूप विवेचित हुआ है। हाँ, वाक्यगुण के विवेचन में काव्यगत शब्दप्रयोग के कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं।

(ख) रुद्रट ने अन्यूनाधिकवाचकत्व, सुक्रम, पुष्टार्थ शब्दत्व, चारुपदत्व, क्षोदक्षमत्व तथा अक्षूणता को वाक्यगुण कहा है।[1] इनकी व्याख्या अपेक्षित है :

(i) **अन्यूनाधिकपदत्व** : काव्यालंकार के टीकाकार नभिसाधु के अनुसार विवक्षित अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए न्यूनतम आवश्यक शब्दों का प्रयोग अन्यूनता है और इसके विपरीत शब्दान्तर से एक ही अर्थ की प्रतिपात्ति कराना अधिकता (काव्यालंकार, पृ० 26-27)। सम्यक् वाक्य में दोनों स्थितियों का निरस्त होना अन्यूनाधिकपदत्व है। एक भी शब्द कम अथवा फालतू न हो यह गुणवत्ता सामान्य भाषा-व्यवहार में नहीं होती, लेकिन शास्त्र और काव्य दोनों के लिए यह अभीष्ट है।

(ii) **सुक्रम** : वाक्य में विशेषण, क्रिया, कारक आदि का सुनिश्चित क्रम होता है। वाक्य में उसका रखना आवश्यक है। वाक्य की यह गुणवत्ता सामान्य भाषाव्यवहार में अनिवार्य नहीं होती, शास्त्र में इसकी अनिवार्यता है; काव्य में पुनः व्याकरणिक क्रम को आत्यंतिक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ, डॉ०

---

1. अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम्।
क्षोदक्षममक्षूणं सुमतिर्वाक्य प्रयुञ्जीत ॥—काव्यालंकार, 2/8.

राघवन के साक्ष्यानुसार यदि सुक्रम और पुष्टार्थत्व को स्टेवेन्सन द्वारा प्रतिपादित संग्रथन (web) का पर्याय माना जाय, तब सुक्रम को काव्यगत वाक्य का भी अनिवार्य गुण माना जा सकता है,[1] क्योंकि अन्ततः कवि अपने आत्मभाव का भाषिक तानाबाना ही बुनता है।

(iii) **पुष्टार्थशब्दत्व** : नमिसाधु ने एक ही शब्द से प्रतिपादित होने वाले अर्थ के लिए अनेक शब्दों के प्रयोग को अपुष्टार्थता कहा है, और इसी के निषेध को पुष्टार्थशब्दत्व (काव्यालंकार, पृ० 29)। लेकिन रुद्रट का मंतव्य यदि इतना ही होता तो उनका प्रतिपादन अधिकपदत्व दोष से युक्त हो जाता, क्योंकि नमिसाधु द्वारा संकेतित अर्थ में तो इसका अन्तर्भाव अन्यूनाधिकपदत्व में हो जाता है। पुष्टार्थ से रुद्रट का अभीष्ट वस्तुतः 'अर्थपाक' है, क्योंकि 'पुष्ट' का अर्थ पूर्णपाक भी है। पूर्ण अर्थपाक प्रस्तुत करने वाले शब्दों का प्रयोग पुष्टार्थशब्दत्व गुण होगा। अर्थात् सम्यक् वाक्य के लिए अन्यूनाधिकपदत्व का होना ही पर्याप्त नहीं, उन शब्दों को पूर्ण अर्थपाकप्रस्तुति में समर्थ भी होना है। यह गुण भी शास्त्र और काव्य दोनों के लिए उपयोगी है, हाँ, सामान्य भाषा-व्यवहार की यह अनिवार्य शर्त नहीं हो सकती।

(iv) **चारुपदत्व** : रुद्रट ने 'चारु' शब्द का कई बार और कई संदर्भों में प्रयोग किया है। वाक्यगुण के प्रसंग में चारुपदत्व से नमिसाधु ने दुःश्रवशब्दत्व का अर्थ लिया है (काव्यालंकार, पृ० 31), लेकिन 'यत्संस्कारो वाचां वाचश्च सुचारु काव्यफला' (1/13) के संदर्भ में 'सुचारुकाव्यफल' का अर्थ वे 'सुन्दर काव्यकरणमेव वाक् संस्कारस्य फलम्' (काव्यालंकार, पृ० 9) बतलाते हैं। काव्यचारुता के हेतु-तत्त्व के रूप में रुद्रट ने शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास की विवेचना की है। इन हेतु-तत्त्वों के दो निष्पाद्य कार्यों की चर्चा वे करते हैं : काव्य के लिए असारतत्त्वों (दोष) तथा सारतत्त्वों (अलंकार आदि) का विवेक और काव्यचारुता का विधायन (1/14)। स्पष्ट है कि 'चारुता' से रुद्रट का तात्पर्य 'सुन्दर' ही है। अतः चारुपदत्व का अर्थ हुआ सुन्दर पदरचना, जिसे रुद्रट 'रचनाचारुत्व' अथवा गुम्फसौंदर्भ कहते हैं और यह भी मानते हैं कि रचनाचारुत्व वस्तुतः शब्दगुण है जिससे रचना में सौंदर्य आता है-- रचना चारुत्वे खलु शब्दगुणः संनिवेशचारुत्वम् (2/10)। सम्यक् वाक्य

---

1. डॉ० व्यंकटेश राघवन, भोजा'स शृंगारप्रकाश, तृतीय संस्करण, 1978, पृ० 287.

का यह गुण सिर्फ काव्यगत ही होता है, शास्त्र अथवा सामान्य भाषाव्यवहार में इसकी अपेक्षा नहीं रहती।

(v) **क्षोदक्षमत्व** नमिसाधु ने क्षोदक्षमत्व का तात्पर्य 'अर्थगांभीर्य' बतलाया है (काव्यालंकार, पृ० 31)। इसका संबंध संप्रेषण से भी है। अतः क्षोदक्षमत्व गुण को अर्थगौरव भी माना जा सकता है। इसका संबंध मुख्यतः काव्य से है।

(vi) **अक्षूणता** : नमिसाधु के अनुसार समस्त दोषों का त्याग तथा समस्त गुणों का संग्रह अक्षूणता गुण है (काव्यालंकार पृ० 31)। स्पष्टतः यह गुणवत्ता काव्य की ही हो सकती है, शास्त्र एवं सामान्य भाषाव्यवहार के लिए यह अपेक्षित नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रुद्रट-प्रतिपादित छह वाक्यगुणों के तीन वर्ग हैं; सामान्य वाक्यगुण, विशिष्ट वाक्यगुण, सामान्य-विशिष्ट वाक्यगुण। सुक्रम सामान्य वाक्यगुण है, चारुपदत्व तथा अक्षूणता विशिष्ट गुण हैं, और अन्यूनाधिकपदत्व, पुष्टार्थशब्दत्व तथा क्षोदक्षमत्व उभय वाक्यगुण हैं। शास्त्र-वाक्य के लिए सुक्रम अनिवार्य है। अतः वह सामान्य वाक्यगुण है। विशिष्ट वाक्यगुण का संबंध सिर्फ काव्यगत प्रयोग से है। उभय वाक्यगुण शास्त्र और काव्य दोनों के लिए अपेक्षित हैं। उनमें भी चूँकि रुद्रट 'चारु' शब्द का प्रयोग अनेकशः करते हैं; इसलिए यह चारुता ही काव्यगत शब्दप्रयोग का रुद्रटसम्मत गुण ठहरता है। इसी दृष्टि से समस्त वाक्यगुणों का समाहार करते हुए रुद्रट ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि किस अवस्था में वाक्यगुण काव्यगुण बन जाते हैं। सामान्यतः उपर्युक्त वाक्यगुण सुसंस्कृत भाषाप्रयोग में होने चाहिए, किन्तु काव्य की अपेक्षा कुछ और भी है। वह कुछ और है 'सौंदर्य'। रुद्रट ने स्पष्ट कहा है कि यह सौंदर्य शब्दरचना का विषय है, कवि को वैसे ही शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो रचना के अभिधानों अर्थात् नामों (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, में सौंदर्य उत्पन्न कर दे (2/9)। तात्पर्य यह कि 'सौंदर्य' रचनाचारुत्व का फलरूप है। रचनाचारुत्व को नमिसाधु 'गुम्फ-सौंदर्य' मानते हैं। अतः स्थिति यह बनती है कि सामान्य भाषाप्रयोग में उपर्युक्त वाक्यगुणों के कमोबेश आश्रय से काम चल जाएगा, किन्तु जहाँ तक काव्य का संबंध है, उसमें वाक्यगुणों के अतिरिक्त रचनाचारुत्व अथवा गुम्फसौंदर्य भी अपेक्षित है। इस रचनाचारुत्व का विवेचन पुनः रीति, वृत्ति तथा अलंकार के संदर्भ में आया है।

3·6·4. (क) रीतियों के नाम रुद्रट ने भी यद्यपि भौगोलिक ही रखे हैं; परन्तु आग्रह गुम्फन पर है। गुम्फन का स्वरूप यहाँ सामासिकता के आश्रित है। नाम शब्दों के प्रयोग की मुख्यतः दो रीतियाँ मानी गयी हैं—समासयुक्त वृत्ति अथवा

प्रयोग और असामासिक प्रयोग। समासयुक्त प्रयोग के पुनः तीन प्रकारभेद हो सकते हैं : लघु सामासिक, मध्य सामासिक और आयत सामसिक। इन्हें ही रुद्रट ने क्रमशः पांचाली, लाटीया और गौडीया रीति कहा है (2/4)। असामासिक रीति वैदर्भी है. (2/6)। लघु सामासिक से तात्पर्य दो-तीन पदों की समासयोजना, मध्य से तात्पर्य पाँच-सात पदों की समासयोजना और आयत से तात्पर्य सात पदों से अधिक में समासयोजना है (2/5)। नाम शब्दों के साथ-साथ आख्यात, उपसर्ग आदि के संयोग की भी चर्चा है, जिससे अर्थवैशिष्ट्य उत्पन्न होता है, ऐसी रुद्रट की मान्यता है (2/6)।

(ख) रीतियों के भौगोलिक नाम वस्तुतः औपचारिक हैं, परंपरानुमोदन मात्र। यह तथ्य इस बात से भी पुष्ट होता है कि रुद्रट ने रीतिप्रयोग का संबंध रस से जोड़ा है—प्रेयान्, करुण, भयानक और अद्भुत रस में वैदर्भी और पाञ्चाली रीति का प्रयोग तथा रौद्र रस में लाटी और गौडी का।[1] नमिसाधु के मत में शेष रसों में वैसी कोई व्यवस्था नहीं होती। यह एक नयी चिंतनप्रक्रिया की शुरुआत थी, जिसके तहत शब्दप्रयोग के क्षेत्रीय वैशिष्ट्य को अन्ततः कविस्वभाव से जोड़ा जाना था। लेकिन रसविशेष के साथ रीतिविशेष का उपर्युक्त योग आत्यंतिक नहीं हो सकता, रुद्रट इसे अनुभव करते हैं; इसलिए रीति और रस की आन्तःक्रिया के लिए उन्होंने यथौचित्य की शर्त रखी है (15/20)।[2] स्पष्ट है कि

---

1 वैदर्भीपाञ्चाली प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्॥ —काव्यालंकार, 15/20.

2. रीति को रसाश्रित मानने के आत्यंतिक आग्रह पर आपत्ति करते हुए प्रो॰ शिवप्रसाद भट्टाचार्य ने कहा है कि यह कहना पूर्णतः असंगत है कि क्षेत्र-विशेष में प्रचलित काव्यशैली के रूप में मान्य गौडीया रीति की व्यवस्था सिर्फ रस-विशेष के लिए थी। देखें "द गौडी रीति इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस" शीर्षक निबंध, स्टडीज इन इन्डियन पोएटिक्स, इन्डियन स्टडीज (कलकत्ता), 1964 पृ॰ 80। वस्तुतः रीति को रसाश्रित मानने का आत्यंतिक आग्रह रसवाद की देन है, जिसे आनन्दवर्धन के प्रतिपादन का अन्धानुकरण कहा जा सकता है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि रीति और रस का कोई संबंध नहीं, लेकिन यह कहना कि अमुक रस के साथ अमुक प्रकार की रीति का ही प्रयोग हो, एक अनावश्यक रुढ़ि को प्रश्रय देना है। ऐसी स्थिति में काव्य में कवि-व्यक्तित्व गौण हो जाता है और संस्थानक काव्य लिखे जाने लगते हैं। रस-रीति के पारस्परिक संबंध का स्पष्ट निरूपण पहले-पहल रुद्रट के काव्यालंकार में ही मिलता है, और उन्होंने आत्यंतिक कोटीकरण की अपेक्षा 'यथौचित्य' पर बल दिया था, बाद में अलंकारिकों ने इस 'यथौचित्य' को नजरअंदाज कर दिया है।

रीति और रस की आन्त क्रिया यथौचित्य पर आधारित होगी, किसी अनिवार्य कोटीकरण के अधीन नहीं। नमिसाधु ने यह कहकर कि शेष रसों में वैसा कोई नियम नहीं, यथौचित्य धारणा को ही पुष्ट किया है।

3 6·5. वृत्ति का विवेचन अनुप्रास के अन्तर्गत किया गया है। वर्णों की अनेक प्रयोगविधियाँ हैं, इन्हें ही रुद्रट ने वृत्ति कहा है। ये वृत्तियाँ पाँच कही गयी हैं; मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा (2/19)। इन वृत्तियों की पूरी वर्णिक व्यवस्था रुद्रट ने दी है :

(i) **मधुरा** : वर्ग्य (क वर्ग आदि पाँच वर्गों के 25 वर्ण) अपने-अपने अन्तिम वर्णों (ङ, ञ, ण्, न, और म्) के साथ आगे की ओर संयुक्त रहते हैं। परस्पर संयुक्त लकार का प्रयोग भी अपेक्षित है और ह्रस्व स्वर के व्यवधान से युक्त रकार तथा णकार का प्रयोग भी होता है (2/20,21)।

(ii) **प्रौढ़ा** : इसमें वर्गों के अन्तिम वर्णों और ट वर्ग को छोड़कर शेष वर्ग्य (स्पर्श वर्ण) तथा य और ण, ये सभी रकार के साथ आगे की ओर संयुक्त रहते हैं। इनके अतिरिक्त त का संयोग क् और प् के साथ आगे की ओर (गुप्त, युक्त आदि) तथा 'क' का संयोग (सत्कार आदि) होता है (2/24)।

(iii) **परुषा** : इसमें सकार सब वर्णों के साथ आगे की ओर संयुक्त रहता है (लिप्सा, कुत्सा आदि)। सभी वर्ण रकार के साथ पहले अथवा बाद दोनों रूपों (कर्म, क्रम) में रहते हैं, 'र' के साथ 'ह' का प्रयोग एक ही ओर—ऊपर या नीचे तथा श, ष का प्रयोग सर्वप्रकार से होता है (2/26)। परुषावृत्ति का प्रयोग कठोरतासूचक वचनों में ही माना गया है तथा रचना की गति अथवा प्रवाह को वर्णप्रयोग का नियामक माना गया है (2/28)।

(iv) **ललिता** : इससे द्य. ध, भ, र और स का प्रयोग होता है। इन्हें लघु ही रहना चाहिए, गुरु नहीं। 'ल' का प्रयोग किसी वर्ण से असंयुक्त रूप जैसे बल, छल आदि में होना चाहिए (2/29)।

(v) **भद्रा** : उक्त चारों वृत्तियों के वर्णों से शेष बचे वर्णों का पृथक् अथवा असंयुक्त रूप में प्रयोग होना चाहिए, यदि संयुक्त रूप में प्रयुक्त होते हों तो श्रुतिसौख्य होना अनिवार्य है (2/29)।

वृत्ति कोई ऐकान्तिक क्रिया नहीं है। रुद्रट का स्पष्ट मत है कि वृत्तियों अर्थात् वर्णप्रयोग विधियों का उपयोग पात्रगत औचित्य तथा अर्थ की अनुकूलता की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए। मधुरादि के वर्णनियम आत्यंतिक नहीं हैं, बल्कि आवश्यकतानुसार वृत्तियों का मिश्रित, अल्प तथा दीर्घ प्रयोग किया जा सकता है। निरूपणशैली में एकरसता ना आ जाय इसके लिए यह भी जरूरी है कि वृत्तियों का प्रयोग यथावसर परिवर्तित तथा छोड़-छोड़कर किया जाय (2/32)।

3·6·6. (क) शब्दचिन्तन की दृष्टि से रुद्रटकृत अलंकारों का वर्गीकरण तथा वर्ग-वैशिष्ट्य प्रतिपादन का विशेष महत्त्व है। इससे भाषा के अलंकारिक प्रयोग की मूलभूत संप्रेरणा और प्रकृति का पता चलता है। अर्थालंकारों के चार वर्ग माने गये हैं : वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। अलंकारों के शेष भेद को इन्हीं चार वर्गों में अन्तर्भुक्त कहा गया है (7/9)।

(ख) जहाँ वस्तु के स्वरूप का कथन हो; किन्तु वह पुष्टार्थ हो, अविपरीत हो तथा उपमा, अतिशय और श्लेष से भिन्न हो, वहाँ वास्तव वर्ग होता है (7/10)। उपर्युक्त लक्षण में पुष्टार्थ और अविपरीत व्याख्यापेक्ष पद हैं। प्रश्न है कि क्या वस्तुस्वभाव का ज्यों का त्यों वर्णय वास्तव वर्ग में आएगा ? स्पष्ट उत्तर है–नहीं। ऐसी संभावना के निराकरण के लिए ही 'पुष्टार्थ' और 'अविपरीत' की शर्तें रखी गयी हैं। 'वस्तुस्वरूप कथन' का अर्थ सपाटबयानी नहीं, बल्कि पुष्टार्थ अर्थात् सुन्दर अर्थ तथा विकसित अर्थप्रतिपादन की क्षमता से युक्त कथन है। वास्तव वर्गों के जाति-अलंकार के विवेचनक्रम में विषय का और भी स्पष्टीकरण आया है। रुद्रट ने पदार्थ के संस्थान, अवस्थान तथा क्रिया संबंधी लोकप्रसिद्ध स्वरूप के वर्णन को जाति कहा है (7/30)। नमिसाधु इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वस्तुस्वभाव का वर्णन इस रूप में करना कि वह हमारे मानस में तद्वत् मानवीय अनुभव का सृजन करे, जाति अलंकार है—जातिस्त्वनुभवं जनयति, यत्र परस्थं स्वरूपं वर्ण्यमानमेवानुभवमिवैतीति स्थितम् (काव्यालंकार, पृ० 209)। काव्य में वस्तुस्वभाव कथन का इसरूप में सहृदय के लिए मानसप्रत्यक्ष तथा अनुभवसृष्ट होना उसकी अनिवार्य शर्त है। पुष्टार्थ तथा अविपरीतता का संबंध भी इसी मानसप्रत्यक्ष और अनुभवसृजन की क्षमता से है। स्पष्ट ही, सपाटबयानी अर्थात् यथातथ्य कथन अलंकार-कोटि में नहीं आता।

(ग) औपम्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए रुद्रट ने कहा है कि वस्तु के स्वरूप का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिए उसके समान दूसरी वस्तु का वर्णन करना औपम्य

है (8/1)। यह सम्यक् प्रतिपादन क्या है, और इसकी आवश्यकता क्या है तथा भाषिक योजना में इसका योग क्या है आदि प्रश्न उभरते हैं। 'सम्यकत्व' के स्पष्टीकरण में नमिसाधु ने काव्यालंकार के अध्याय–7 के श्लोक–7 को उद्धृत किया है। अर्थालंकारनिरूपण के प्रारम्भ में रुद्रट ने अर्थ के चार स्वरूप द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति की व्याख्या की है। इनका समाहार करते हुए रुद्रट ने बतलाया है कि ये सभी अर्थ अपने-अपने रूप को तथा देश-काल-नियम को धारण करते हैं, अतः इनका प्रयोग सकारण अथवा सार्थक ही होना चाहिए, (7/7)। शब्दों का अर्थगत स्वरूप तथा देशकाल नियम के अनुकूल सकारण एवं सार्थक प्रयोग, नमिसाधु के अनुसार सम्यक् प्रयोग कहा जाएगा। अतः औपम्य में वस्तुस्वरूप के सम्यक् प्रतिपादन का तात्पर्य है अर्थ अथवा विषय के द्रव्य, गुणादि स्वरूप का सकारण एवं सार्थक नियोजन। यह तो सामान्य भाषाव्यवहार का भी विषय है, काव्य में वस्तुस्वरूप के सम्यक् प्रतिपादन का अर्थ है विशिष्ट सम्यकत्व, जिसके अन्तर्गत वस्तु जैसी है, वैसा ही वर्णन नहीं, बल्कि जैसी वह हमारे अनुभव का विषय होती है, वैसा वर्णन करना आता है। यह विशिष्टसम्यकत्व सामान्य भाषाव्यवहार से नहीं, आलंकारिक भाषाप्रयोग से ही सिद्ध हो पाता है—औपम्य अर्थात् दूसरी समान वस्तु (अप्रस्तुत) के संदर्भ में वर्ण्यवस्तु (प्रस्तुत) का प्रतिपादन, उक्त आलंकारिक भाषाप्रयोग का ही एक प्रकार है। रुद्रट द्वारा संकेतित 'सम्यक् प्रतिपादयितु' वस्तुतः समस्त आलंकारिक भाषाप्रयोग की मूल संप्रेरणा है, जिसके पीछे विवक्षितार्थ की अधिकाधिक स्पष्ट तथा प्रभविष्णु अभिव्यक्ति संबंधी कवि की चिन्ता तथा प्रयत्न निहित हैं।

(घ) अर्थ और धर्म की नियमप्रसिद्धि में बाधा तथा विपर्यय का निरूपण अतिशय वर्ग का लक्षण माना गया है (9/1)। विपर्यय का तात्पर्य नमिसाधु ने लोकातिक्रांतता माना है। ध्यातव्य है कि यह लोकातिक्रांतता, वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति के संदर्भ में भामह की दृष्टि में आलंकारिक भाषाप्रयोग का बीज है। रुद्रट ऐसा नहीं मानते, क्योंकि उन्होंने एक ओर तो वक्रोक्ति को शब्दालंकार में सीमित कर दिया है, दूसरी ओर लोकातिक्रान्तता को अलंकारों के 'अतिशयवर्ग' का लक्षण कहा है।

अतिशय वर्ग के अलंकारों की संप्रेरणा तथा प्रकृति का पता पूर्व अलंकार के लक्षण से चलता है। पूर्वालंकार का लक्षण देते हुए रुद्रट से कहा है कि जहाँ अतिप्रबलता के कारण उत्पन्न (पदार्थ) का वर्णन पहले तथा उसके उत्पादक (पदार्थ) का बाद में किया जाता है वहाँ पूर्व अलंकार होता है (9/3)। वस्तुतः

भावोद्वेग की अतिप्रबलता ही अतिशयोक्ति का जनक है। यह अतिप्रबलता किसी लोकप्रसिद्ध क्रम अथवा नियम का अनुशासन नहीं मानती, अनुशासन सिर्फ विवक्षितार्थ का होता है। लोकप्रसिद्ध क्रम-नियम के अनुशासन का अतिक्रमण ही लोकातिक्रान्तता है और विवक्षितार्थ का अनुशासन ही प्रयोगौचित्य—अतिशयोक्ति इन्हीं सीमाओं में पल्लवित होती है। अतः यह अतिप्रबलता (भावोद्वेग) ही लोकातिक्रान्त भाषाप्रयोग का बीज है।

(ङ) रुद्रट सम्मत श्लेष अलंकार का स्वरूप विशिष्ट है, इस अर्थ में कि उन्होंने शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष के रूप में इसका विस्तृत निरूपण किया है। एक ओर तो वे श्लेष को शब्दार्थसंदर्भ में विभाजित करते हैं, दूसरी ओर श्लेष को एक विशिष्ट अर्थालंकार वर्ग भी माना गया है। शब्दश्लेष के तत्त्व बतलाये गये हैं; श्लिष्ट किंतु अक्लिष्ट शब्द तथा विविध पदों (सुबन्त, तिङन्त) की संधि से युक्त अनेक वाक्यों की अनेक अर्थ देने में समर्थ युगपत् रचना (4/1)। वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा (अनेक भाषा), प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन, श्लेष के ये आठ प्रकार बतलाये गये हैं (4/2)।

अर्थश्लेष के लिए कहा गया है कि यहाँ अनेकार्थक पदों से रचित एक वाक्य अनेक अर्थों का द्योतन करता है (10/1)। वस्तुतः शब्दार्थ श्लेष में अन्तर का आधार अन्वय-व्यतिरेक है; जिसके होने पर जो रहे उसे अन्वय कहते हैं, जिसके न होने पर जो न रहे उसे 'व्यतिरेक' कहते हैं। अनेकार्थक शब्दविशेष के रहने पर ही श्लेष टिका हो तो यह शब्दश्लेष की स्थिति होगी, और शब्दविशेष के न रहने पर भी अनेकार्थ-निश्चय में बाधा का न होना अर्थश्लेष होगा।

शब्दश्लेष के प्रसंग में रुद्रट ने श्लिष्ट-योजन को मूल संप्रेरणा और प्रकृति का प्रकारान्तर उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि अनेक भाषाश्लेष को छोड़कर श्लेष अलंकार प्रायः अन्य अलंकारों के साथ भी स्पृष्ट अथवा समन्वित रहता है, उपमा और समुच्चय के साथ इसका संकर तो और भी वैचित्र्योत्पादक अथवा रमणीय होता है (4/31)। स्पष्ट ही श्लेषयोजना के पीछे मूल संप्रेरणा वैचित्र्यप्रतिपादन है और इसकी प्रकृति है अनेकार्थता से संदर्भजन्य सार्थक चमत्कार उत्पन्न करना। उपमा और समुच्चय के साथ श्लेष के योग में वह वैचित्र्य कुछ अधिक ही प्रतीत होता है। स्वतंत्र रूप में भी श्लेष वैचित्र्यसृष्टि करता है और अन्य अलंकारों के साथ भी उसका यही कार्य है। चाहे जिस रूप में भी हो श्लेष वैचित्र्यसृष्टि करेगा। प्रश्न है कि यह वैचित्र्यसृष्टि आत्यंतिक होगी क्या? रुद्रट इसकी स्वीकृति नहीं देते। यदि वैचित्र्य-

सृष्टि का आधार सिर्फ कविविवक्षा रहे तो आत्यंतिक बन जाने की संभावना ज्यादा है, इसलिए उसे सहृदय हृदयावर्जक होना है। अलंकारविवेचन का समाहार करते हुए रुद्रट ने कहा है कि शब्द और अर्थ के दोषों तथा गुणों का पर्यालोचन करके समाहित मन से कवि उनके सारतत्त्व को ग्रहण करे (11/36)। समाहित मन से तात्पर्य सिर्फ सावधान मन नहीं जैसाकि नमिसाधु ने माना है (काव्यालंकार, पृ० 359), बल्कि पूर्ण लक्ष्यैक्य एकाग्रत तथा अभिव्यक्ति-प्रक्रिया की समाधि अवस्था का परिचायक है। समाहित मन से निष्पन्न आलंकारिक भाषाप्रयोग कृत्रिम अथवा क्लिष्टसाध्य नहीं, बल्कि सहज अभिव्यक्ति रूप में संघटित होगा। इसलिए आगे चलकर नमिसाधु ने ठीक ही कहा है कि सहृदय हृदयावर्जक जितने भी अर्थप्रकार होंगे, उतने ही अलंकार भी—ततो यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकारास्तावन्तोऽलंकाराः (काव्यालंकार पृ० 359)।

(च) रुद्रट ने आलंकारिक भाषाप्रयोग के बीजत्त्व को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। आलकारिक भाष प्रयोग वस्तुतः कवि की विवशता बन जाती है, क्योंकि सामान्य भाषाव्यवहार उसकी विवक्षा को प्रायः व्यक्त नहीं कर पाता। रुद्रट इस तथ्य को गंभीरता से उपस्थित करते हैं। अलंकारविवेचन के समाहार-प्रसंग में उन्होंने जिस 'समाहित मन' की चर्चा की है, उसे ही शक्ति अथवा प्रतिभा की सृजनभूमि भी वे मानते हैं। शक्तिविवेचन के प्रसंग में एकप्रकार से काव्य की सर्जनप्रक्रिया का ही विवेचन हुआ है। वे कहते हैं:

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

—काव्यालंकार,1/15

तात्पर्य यह है कि सामाधिस्थ चित्त में प्रतिभा के कारण दो प्रक्रियाएँ एक साथ शुरू होती हैं; अनेक प्रकार के अभिधेयों (वाक्यार्थों, भाव) का विस्फुरण और तदनुकूल सम्यक् अर्थवान पदों का प्रस्फुटन। यह प्रक्रिया भावों के वाग्रूप होने की प्रक्रिया है; कवि के अनुभवों, आवेगों, अनुभूतियों के भाषिक रूपान्तरण की प्रक्रिया है। समाधिस्थ चित्त में प्रतिभा का यही लीलाविस्तार भाषिक अभिव्यक्ति का बीज है। समाधिस्थ चित्त को प्रतिभा कभी 'वस्तुस्वभाव' के पुष्टार्थ रूप में, कभी अन्य वस्तु से संदर्भित करके, कभी भावोद्वेग की अतिप्रबलता के कारण लोकातिक्रान्त रूप में, तो कभी वैचित्र्य का आश्रय लेकर भाषिक रूपान्तरण देती है। समाधिस्थ चित्त के ये अनेकविध भाषिक रूपान्तरण ही रुद्रटसम्मत आलंकारिक भाषाप्रयोग हैं, जिन्हें क्रमशः उन्होने वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष वर्ग्यालंकार कहा है।

3·67. (क) काव्यदोषों की विस्तृत चर्चा रुद्रट ने की है। निरूपणपद्धति वामन की है। पद, वाक्य और अर्थदोष के क्रम से क्रमशः शब्दालंकार और अर्थालंकार के बाद दोषचर्चा आई है। शब्दचिन्तन की दृष्टि से रुद्रट के दोषविवेचन का महत्त्व यह है कि उन्होंने दोषों विशेषतः पद-वाक्यदोषों की अतिव्याप्ति को नियमित किया है। वैसी स्थितियों की चर्चा भी उन्होंने की है, जहाँ परिगणित दोष, दोष नहीं रह जाते, गुण बन जाते हैं। जैसे, अधिकपदता सामान्यतः दोष है, किन्तु रुद्रट के अनुसार हर्ष, भय आदि के कारण विह्वलचित्त होकर स्तुति अथवा निन्दा के प्रसंग में एक ही अर्थ में एक पद की बार-बार आवृत्ति करना दोष नहीं अलंकार है (6/29)। इसप्रकार 'दोषों' के दोषत्व आत्यंतिक अथवा निर्विकल्प नहीं, बल्कि कविविवक्षा तथा औचित्य के आश्रित हैं।

(ख) वाक्यदोष में पुष्टार्थ को ही प्रमाण माना गया है। इस प्रसंग में प्रकारान्तर से रुद्रट ने काव्य की दृष्टि से वाक्य के दो प्रकार माने हैं; उत्तम वाक्य अर्थात् सालंकार तथा निर्दोषवाक्य और मध्यम वाक्य अर्थात् अलंकारहीन तथा निर्दोष वाक्य।[1] अनुमान लगाया जा सकता है कि रुद्रट-सम्मत वाक्य की तीसरी कोटी भी होगी—अधमवाक्य, जिसमें अलंकारहीनता के साथ-साथ सदोषता भी हो। आगे यह अनुमान भी किया जा सकता है कि काव्यगत वाक्य के इन तीन कोटिक्रम के अनुसार रुद्रट-सम्मत काव्य के भी तीन कोटिक्रम होंगे: उत्तम काव्य अर्थात् सालंकार, निर्दोष; मध्यम काव्य अर्थात् निरलंकार, निर्दोष और अधम काव्य अर्थात् निरलंकार, सदोष। इस सम्बन्ध में जैसा कि इस अनुच्छेद के प्रारम्भ में ही संकेतित है, रुद्रट ने 'पुष्टार्थत्व' को ही प्रमाण माना है। वे यह व्यवस्था देते हैं कि पुष्टार्थत्व से युक्त मध्यमकोटिक वाक्य अर्थात् अलंकारहीन, किन्तु निर्दोष वाक्य भी समादृत हैं, पुष्टार्थत्व (अर्थसौंदर्य) ही अपने-आप में अलंकार है—पुष्टार्थालंकार मध्यमपि सादरं रचयेत् (6/46)। सारांश यह है कि रुद्रट के मत में उत्तम काव्य के तीन तत्त्व होंगे सालंकरता, पुष्टार्थत्व और निर्दोषता। इनमें भी पुष्टार्थत्व का ही वर्चस्व मान्य हैं क्योंकि अलंकारहीनता की स्थिति में भी पुष्टार्थत्व रहने पर काव्यता अक्षुण्णा रहेगी। दोष वस्तुतः पुष्टार्थत्व को ही बाधित करते हैं।

---

1. इदानीं वाक्यदोषमाह—

वाक्यं भवति तु दुष्टं संकीर्णं गर्भितं गतार्थं च।
यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यम्॥ —काव्यालंकार, 6/40.

3·6·8. रीति, वृत्ति, अलंकार तथा निर्दोषिता काव्य के अनिवार्य तत्त्व पुष्टार्थत्व को ही सिद्ध करते हैं, जिसका फलरूप है रस। रुद्रट ने पहली बार सभी काव्य-तत्त्वों को रसाश्रित बतलाया है। ऐसा नहीं है कि रुद्रट के पूर्वाचार्य रस से अपरिचित रहे हों या अप्रत्यक्ष ही सहीं, उसकी चर्चा न की हो, पर इतना तय है कि काव्यचिंतन में रसवाद की शुरुआत यहीं से होती है। रुद्रट का स्पष्ट मत है कि रस को जाने बिना सर्वरमणीय काव्य की रचना की ही नहीं जा सकती।[1] रीति, वृत्ति, अलंकार सर्वत्र ही सरसता अनिवार्य है, वाणी के संस्कार से प्राप्त 'सुचारू काव्यफल' (1/13) वस्तुतः रुद्रटसम्मत सरसता ही है।

वाणी के संस्कार के दो रूप हैं : अलंकार जिससे काव्य ज्वलन्त अर्थात् देदीप्यमान् बनता है, और निर्दोषता जिससे काव्य निर्मल बनता है। देदीप्यमान् तथा निर्मल काव्य रुद्रट-सम्मत उत्तमकोटिक काव्य है, पुष्टार्थत्व जिसमें अन्तर्निहित होगा। अन्तर्निहित पुष्टार्थत्वयुक्त तथा विधि-निषेधमूलक संस्कारों (क्रमशः अलंकार तथा दोष) से संस्कृत वाणी सरस काव्य के रूप में अभिव्यक्त होती है,[2] यह रुद्रट के समस्त चिन्तन का सारतत्त्व है।

निष्कर्ष

3·7·1: भामह ने मूलतः इस प्रश्न का समाधान ढूँढने का प्रयत्न किया है कि काव्यनिर्मिति तथा उसकी ग्राह्यता में शब्द की भूमिका क्या है। भामह का यह प्रयत्न वस्तुतः काव्यगत शब्दचिंतन की, आनंदवर्धनपूर्व प्रावस्था का, केंद्रीय चिन्तनबिन्दु है। विभिन्न प्रस्थानबिन्दुओं से इस केंद्रीय प्रश्न पर आचार्यों ने विचार किया। उनके चिन्तनसूत्र इस प्रकार बनते हैं :

(क) शब्द की चेतनशील सृजनशक्ति > त्रिविध वक्रता = अलंकृति > कथायाः स्वभिनीतता : भामह

---

1. एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ॥
—काव्यालंकार, 15/21.

2. ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ॥
—काव्यालंकार, 1/4.

(ख) रसभावनैरन्तर्य > गुण > अलंकृति = सदलंकृति अथवा सम्यक् शब्द-प्रयोग : दण्डी।

(ग) गुणालंकारचारुत्व > शब्दार्थवैशिष्ट्य > शब्द की अवगमात्मक शक्ति > काव्यार्थवैशिष्ट्य : उद्भट।

(घ) गुणालंकारसंस्कृत शब्दार्थ > विशिष्ट पदरचना > रीति > सौंदर्य तथा अर्थदृशा : वामन।

(ङ) अन्तर्निहित पुष्टार्थत्वयुक्त शब्द > विशिष्ट सम्यक् प्रयोग > संस्कार-युक्त वाणी = चारुता > सरसता : रूद्रट।

·72. उपर्युक्त सूत्रों में काव्यगत शब्दचिन्तन के भावी रूप उपलब्ध हैं। भामह की त्रिविध वक्रता को कुंतक ने व्यापकता प्रदान की। उद्भट की अवगमात्मक शब्द-शक्ति को शब्दशक्ति-विवेचन तथा व्यंजनाव्यापार का पूर्वरूप कहा जा सकता है, वामन के सौंदर्यचिन्तन का विकास चारुता, रमणीयता, चमत्कार आदि के विवेचन-क्रम में द्रष्टव्य है। भामह की 'कथाया: स्वभिनीतता', दण्डी द्वारा नाट्य संध्यंगादि का अलंकारों में अन्तर्भाव तथा वामन के अर्थदर्शन संबंधी सिद्धान्त नाट्यशास्त्र से पृथक् काव्यशास्त्रीय शब्दचिंतन के औचित्य को संपुष्ट करते हैं। दण्डी की 'रसभाव नैरन्तर्य' संबंधी धारणा तथा रुद्रट की चारुता एवं सरसता संबंधी मान्यताओं के गर्भ में भावी रसवाद का बीज है। वैसे ही वामन द्वारा सादृश्यमूला लक्षणा में वक्रोक्ति को सीमित कर देने सम्बन्धी धारणा में ध्वनिसिद्धांत का पूर्वरूप देखा जा सकता है। इसीप्रकार 'इष्टार्थ', 'पुष्टार्थ' तथा विशिष्ट सम्यक् प्रयोग के संयोग में राजशेखर के काव्यपाक सिद्धांत का बीज निहित है।

3·7·3. काव्यगत शब्दचिंतन की इस द्वितीय प्रावस्था में आचार्यों ने प्रकारान्तर से कवि की सर्जनप्रक्रिया की चर्चा भी की है। वामन ने रीतिविवेचन के प्रसंग में यत्र-तत्र कवि व्यक्तित्व की भी चर्चा की है। रुद्रट ने कविप्रतिभा के विवेचनक्रम में कवि के आत्मभाव के भाषिक रुपान्तरण का स्पष्ट उल्लेख किया है।

3·7·4. गुण, रीति, और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध क्रमश: स्पष्ट होते गये हैं। गुण सम्बन्धी दण्डी और वामन की धारणाएँ क्रमश: सूक्ष्म विश्लेषण का आश्रय लेती गयी हैं। गुण और संघटना के प्रश्न को उद्भट ने उठाया है और-गुण को संघटनाधर्म अर्थात् संघटनाश्रित माना है। गुणों को संघटनाश्रित मानने के ही कारण वर्गीकरण तथा संख्या में भी वृद्धि हुई; क्योंकि गुण को रसाश्रित मान लेने के बाद ही, जैसा कि परवर्ती विकास में दृष्टिगोचर हुआ, उसे चित्तवृत्ति के आधार पर

त्रिरूपात्मक (ओज, प्रसाद, मधुर) माना जा सकता था, अन्यथा काव्यशिल्प के प्रस्थानबिन्दु से अनेकानेक नामकरण-विभाजन स्वाभाविक ही होगा।

3·7·5. रीतिचर्चा की शुरुआत क्षेत्रीय शब्दप्रयोग-प्रवृत्ति से हुई और वृत्तिचर्चा, भावों की वाग्रूप होने की प्रक्रिया से। कालान्तर में रीति शब्दप्रयोग की विशिष्ट प्रवृत्ति और वृत्ति सामासिक व्यवहार के पर्याय बनने लगी। क्षेत्रीय वैशिष्ट्य के सामान्यीकरण की यह प्रक्रिया यों भामह से ही शुरु हो गयी लगती है, किंतु वामन और रुद्रट के विवेचन में ही इस चिन्तनपीठिका का विकास होता है; जिसका आधार लेकर कुन्तक ने कविस्वभाव, उसकी शब्दप्रयोगविधि तथा भावानुकूल शब्दविधान के समीकरण दिये।

3·7·8. अलंकार के जिस सौंदर्यमूल्यपरक अर्थ की प्रतिष्ठा वामन ने की थी, वह बाद में सुरक्षित नहीं रह सकी। लेकिन यह क्षति करणव्युत्पत्तिमूलक अलकारों की है, भावव्युत्पत्तिमूलक धारणा की नहीं। रुद्रट ने अलंकृति की मूल संप्रेरणा तथा प्रकृति की व्याख्या की है। औपम्य अलंकार सम्बन्धी उनका सिद्धान्तसूत्र 'सम्यक् प्रतिपादयितुं' वस्तुतः भाषा के आलंकारिक प्रयोग की मूल संप्रेरणा को उद्घाटित करता है।

3·7·9. काव्यचिंतन में अन्तरानुशासनात्मक धारणाएँ विकसित होती रहीं। आचार्यों के काव्यचिन्तन को चित्रकला की प्रविधि तथा अभिव्यक्तिप्रक्रिया अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित करती रही है, संभवतः इसलिए कि काव्य की तरह चित्र भी बिम्बात्मक अनुभव है।

3·7·10. शब्दशुद्धि की दृष्टि से व्याकरण का आश्रय जमकर लिया गया है। शब्दशुद्धि का प्रमाण व्याकरण ही है, इसमें दो मत नहीं, लेकिन भामह के विवेचन से ऐसा लगता है कि व्याकरणिक शुद्धि को ही 'काव्यगत साधु-प्रयोग' का एकमात्र प्रमाण मानने को वे तैयार नहीं। दण्डी, वामन आदि भी व्याकरण के कठोर नियंत्रण को स्वीकार नहीं करते; वैसे वामन व्याकरण पर अपेक्षाकृत अधिक बल देते हैं; फिर भी, उनका आग्रह सुष्ठु एवं सम्यक् प्रयोग का ही है। स्पष्ट है कि व्याकरण अपने ठेठ रूप में धीरे-धीरे काव्यशास्त्र से बहिष्कृत होने की प्रक्रिया में आ गया था। भामह ने तत्त्वमूलक न्याय की अपेक्षा लोकन्याय तथा काव्यन्याय पर बल दिया था, तो रुद्रट सहृदय को शब्दप्रयोग के सम्यकत्व का प्रमाण मानते हैं।

आनन्दवर्धन से पंडितराज जगन्नाथ तक

4·1·1. रुद्रट तक के काव्यगत शब्दचिन्तन में शब्द की, कविपक्ष से व्याख्या की गयी है। वे आचार्य काव्य के रसतत्त्व से अपरिचित नहीं और न ही वे रसविरोधी हैं, हाँ इतना अवश्य है कि उनकी विचारयात्रा में अर्थात् कवि-व्यक्तित्व तथा आत्मभाव से काव्य तक, रस-चर्वणा का प्रश्न नहीं उठा। उनकी दृष्टि में रस भी रीति, वृत्ति, गुण तथा अलंकार की तरह काव्य का महत्त्वपूर्ण उपकारक तत्त्व है, जिसका प्रयत्नपूर्वक समायोग किया जाना चाहिए। रुद्रट ने तो रससिद्धांत की बाजाप्ता व्याख्या भी की है। इसप्रकार कविपक्ष से काव्यतक की विचार-यात्रा में रीति, वृत्ति गुण, अलंकार तथा रस काव्य के उपस्कारक मात्र हैं, जिनके आपेक्षिक महत्त्व के प्रति वे आचार्य उदासीन नहीं। त्रिविध वक्रता, सदलंकृति, गुणालंकार चारुत्व, रीति, पुष्टार्थत्व, रसयुक्तता आदि काव्यतत्त्वों का लक्ष्य उन आचार्यों ने 'सौन्दर्य' माना है। यह मान्यता वामन में स्फुट है तो अन्य आचार्यों में अस्फुट। वे काव्यरचना अथवा काव्यसृष्टि का अवयवमूलक (आर्गेनिक) विवेचन करते हैं। रचना अथवा सृष्टि की एक संरचना होती है और उस संरचना के कुछ संघटक। कविपक्ष से विवेचन करने पर इसी संरचना किंवा संघटक तत्त्वों तक चिन्तन सीमित हो जाता है। ऐसा नहीं है कि उन आचार्यों को 'सहृदय' की अर्थसंवेदा मालूम न हो। सहृदयसंवेद्य होने की शर्त की चर्चा उन आचार्यों ने कई स्थलों तथा प्रसंगों में की है, लेकिन चूँकि उनकी दृष्टि काव्य की संरचना पर टिकी है, इसलिए वे उसके ही आवयाविक विवेचन तक सीमित रह गये हैं।

वामन तक इस विचारयात्रा का एक दौर पूरा हो चुकता है। रुद्रट के विवेचन से इसके स्पष्ट प्रमाण मिलने लगते हैं कि काव्यविवेचन की एक दूसरी विचारयात्रा भी हो सकती है—सहृदयपक्ष से काव्यसंरचना तथा काव्य-संरचना से उसके प्रतिपाद्य अर्थतक की विचारयात्रा। यह विचारयात्रा पहली के बिलकुल विपरीत पड़ती है, फल की दृष्टि से नहीं प्रक्रिया की दृष्टि से। भामह आदि आचार्यों की विचारयात्रा कवि से काव्य की ओर है जिसके कारण रीति, गुण, अलंकार आदि का स्वरूप एक विशेष प्रकार का नजर आता है; किन्तु

सहृदय से काव्यतक की विचारयात्रा विलोभ बिन्दु से प्रस्थान है, फलतः रीति, गुण आदि का भिन्न स्वरूप उभरता है। आनन्दवर्धन, मम्मट प्रभृति आचार्यों की विचारणा में रीति, गुण, अलंकार आदि के जो भिन्न रूप नजर आते हैं, वे वस्तुतः इसी विलोम प्रस्थानबिन्दु के परिणाम हैं। काव्य का मूल्यतत्त्व 'सौंदर्य' एक ही रहा, किन्तु विलोम प्रस्थानबिन्दु से विचारयात्रा के कारण सौंदर्यविधायक तत्त्वों के स्वरूप-निर्धारण में अंतर आ गया है। भामह आदि ने 'शब्द' को चिन्तन का आधार बनाया था, आनंदवर्धन 'अर्थ' को आधार मानते हैं। फलतः, यहाँ से काव्यगत शब्द-चिंतन का दूसरा दौर शुरु होता है, जिसमें 'शब्द' के बजाय शब्दशक्ति पर विशेष बल है।

4·1·2. आनन्दवर्धन से पंडितराज तक की विचारयात्रा में मुख्यतः शब्दशक्ति के आधार पर काव्यचिन्तन संबंधी पूर्वविवेचित मुद्दों पर पुनर्विचार किया गया है, साथ ही, काव्यसंदर्भ में नाट्यशास्त्रीय रसविवेचन की पूर्ण प्रतिष्ठा भी हुई। आनंदवर्धन, भट्ट तौत, भट्ट नायक, कुंतक, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट, मम्मट, विश्वनाथ तथा पंडितराज इस वर्ग के आचार्य हैं।

चिंतकों का दूसरा वर्ग है—संग्राहक आचार्यों का। इनलोगों की दृष्टि मुख्यतः कविशिक्षामूलक है। अतः उनका प्रयत्न सभी उपलब्ध मत-मतान्तरों का सुसम्बद्ध विवेचन, विश्लेषण, वर्गीकरण करने के साथ ही, यदि संभव हो तो, किसी सिद्धान्तविशेष को व्यापक आधार प्रदान कर प्रतिष्ठित करने का है। राजशेखर, भोज, क्षेमेन्द्र आदि इस वर्ग में आते हैं।

चिंतकों का एक अन्य वर्ग भी है जो शब्दशक्ति का स्वतंत्र विवेचन करता हैं। इनके चिंतन का आधार भी वैसे काव्य ही हैं, किन्तु इनकी दृष्टि मुख्यतः शब्दशक्ति के विवेचन पर टिकी है, काव्यसौंदर्य को बेहतर समझने के लिए किसी अन्य सिद्धान्त के प्रतिपादन पर नहीं। मुकुलभट्ट, अप्पयदीक्षित, नागेशभट्ट आदि के शब्दशक्तिविवेचन इसी वर्ग में आते हैं।

4·1·3. उपर्युक्त वर्गीकरण की बुनियाद है—चिन्तनदृष्टि तथा बलाबलविचार। वस्तुतः, वे सभी आचार्य काव्यतत्त्वों का ही विवेचन कर रहे होते हैं, किन्तु चिन्तनदृष्टि तथा बलाबल के कारण वे किसी पक्षविशेष को व्यापक प्रतिष्ठा देने लगते हैं। इस कारण काव्यगत शब्दचिन्तन में भी अन्तर आया है। अतः चिन्तन-

दृष्टि तथा बलाबल के आधार पर उपर्युक्त वर्गीकरण के नाम इस प्रकार रखे जा सकते हैं :

(क) रस और ध्वनि सरणि

(ख) संग्राहक सरणि और

(ग) शब्दशक्ति सरणि ।

यों, रस-ध्वनि सरणि में विशेषतः ध्वनिसिद्धान्त शब्दशक्ति पर ही आधारित है, किन्तु वहाँ मुख्य बल ध्वनि-स्थापना पर है, शब्दशक्तिविवेचन पर नहीं। इसीप्रकार संग्राहक सरणि के आचार्यों, विशेषतः भोज ने शब्दशक्ति का विस्तृत विवेचन किया है, किन्तु प्रधानता है समस्त काव्यचिन्ताओं के वर्गीकरण-विश्लेषण करने की। अतः उपर्युक्त वर्गीकरण तथा नामकरण आत्यंतिक नहीं हैं। इनमें से शब्दशक्ति सरणि का पृथक् विवेचन अपेक्षित है, क्योंकि उनका सीधा सम्बन्ध काव्यगत शब्दचिंतन से नहीं, शब्दचिंतन मात्र से है। अतः यहाँ हम सिर्फ प्रथम दो सरणियों पर विचार करेंगे।

रस और ध्वनि सरणि

4·1·4. रस-ध्वनि सरणि की केन्द्रीय समस्या है—काव्यगत शब्दव्यापार का स्वरूप, जिसे ध्वनिवादी अर्थव्यापार कहना चाहेंगे, और उसका लक्ष्य। यहाँ काव्य के पूर्वविवेचित सौंदर्यविधायक तत्त्वों के हेतुओं की खोज की गयी तथा समस्त कवि-प्रयत्न के लक्ष्य निर्धारित किये गये। जैसे आनन्दवर्धन समस्त काव्यसौंदर्य का हेतु 'ध्वनि' मानते हैं और लक्ष्य सहृदयश्लाघ्य अर्थ, महिमभट्ट 'अनुमान' को हेतु मानते हैं और 'रस' को लक्ष्य। कुंतक 'वक्रोक्ति' को हेतु मानते हैं और रस-संवेदन को लक्ष्य। इसीप्रकार अन्य आचार्यों के निष्कर्ष भी हैं। इन सौंदर्यहेतुओं का मूल अभिकर्त्ता शब्द है और पूर्वविवेचित रीति, गुण आदि मुख्य घटक। इसप्रकार काव्यसौंदर्य के हेतुओं की गहराई से खोजबीन की जाती है।

आनन्दवर्धन

4·2·1. आनन्दवर्धन का शब्दचिन्तन मूलतः विभिन्नपक्षीय है। गुणालंकार आदि पर उन्होंने सहृदयश्लाघ्य अर्थ की दृष्टि से पुनर्विचार किया। इन सबके मूल में शब्द-शक्ति अर्थात् शब्द की अर्थव्यापार में प्रवृत्त होने की क्षमता स्थित है, अतः उसकी गहन परीक्षा उन्होंने की। ध्वनि और शब्दशक्ति के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि, 'शब्द व्यवहार तीन प्रकार के होते हैं—वाचकत्व, गुणवृत्ति (लक्षणा) और व्यंजकत्व। उनमें से भी व्यंजकत्व में जब व्यंग्य प्रधान होता है तब वह ध्वनि-

काव्य कहलाता है।[1] शब्द के इसी व्यंजकत्वव्यापार की, ध्वनिसंदर्भ में सिद्धि में आनन्दवर्धन की समस्त प्रतिभा लगी है। वे यह भी मानते हैं कि शब्द और अर्थ का व्यंजकत्वधर्म वाचकत्व का ही अनुसरण करता है। शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध का अनुसरण करते हुए ही अन्य सामग्री (प्रकरणादिवैशिष्ट्य)[2] के सम्बन्ध से शब्द का व्यंजकत्वव्यापार सिद्ध होता है। वाचकत्व शब्द का नियत धर्म या आत्मा है। व्यंजकत्वव्यापार औपाधिक (जो अपने समीपवर्त्ती, अपने से संबद्ध पदार्थ में अपने धर्म का आधान करता है, वह उपाधि कहलाता है, उसी का भाव औपाधिक कहा जाता है) है। प्रकरणादिरूप अन्य सामग्री उपाधि है और उससे प्राप्त व्यंग्यार्थ औपाधिक अर्थोपलब्धि है। अतः व्यंग्यार्थ की प्रतीति प्रकरणादि वैशिष्ट्य के कारण ही होती है, अन्यथा नहीं।[3] यहाँ प्रश्न हो सकता कि यदि शब्द का

---

1. तदेवं शब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकारः, वाचकत्वं गुणवृत्तिर्व्यञ्जकत्वं च। तत्र व्यञ्जकत्वे यदा व्यङ्ग्यप्राधान्यं तदा ध्वनि । हिन्दी-ध्वन्यालोक, आचार्य विश्वेश्वर कृत 'आलोकदीपिका', पृ० 265. विशेष :--यह शाब्दव्यवहार ही शब्दव्यापार है, देखें—शब्दव्यापारगोचरत्वं तु तस्यास्याभिरिष्यत एव, तत्तु व्यङ्ग्यत्वेनैव, न वाच्यत्वेन (आलोकदीपिका, पृ० 256) अर्थात् (उस वाच्य सामर्थ्याक्षिप्त) अर्थ का शब्दव्यापार का विषय होना तो हमें अभिमत ही है, परन्तु व्यंग्यरूप से न कि वाच्यरूप से। जाहिर है कि शब्दव्यवहार और शब्दव्यापार समानधर्मी हैं। अन्यत्र भी कहा गया है कि—वाचकत्वगुणवृत्ति व्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम् (आलोक दीपिका, पृ० 278)।
2. प्रकरण का अर्थ है संदर्भ अथवा प्रसंग जो प्रकारान्तर से मनःस्थितियों के द्योतक हैं। मम्मट ने प्रकरण के अनेक रूप बतलाए हैं। —वक्तृ, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और चेष्टा (काव्यप्रकाश 3/21,22 तथा आदिग्रहणाच्चेष्टादेः, पृ० 88: आचार्य विश्वेश्वर द्वारा संपादित)
3. अपि च व्यञ्जकत्व लक्षणो यः शब्दार्थयोधर्मः स प्रसिद्धसम्बन्धानुरोधीति न कस्यचिद् विमतिविषयतामर्हति। शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्य-वाचकभावाख्यस्तमनुसन्धान एव व्यञ्जकत्वलक्षणो व्यापारः सामग्र्यन्तर-सम्बन्धादौपाधिकः प्रवर्तते। ···वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा। व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। स त्वनियतः, औपाधिकत्वात्। प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेतिरथा त्वप्रतीतेः।

—ध्वन्यालोक (आलोक दीपिका), पृ० 270।

व्यंजकत्वव्यापार औपाधिक, अतः अनित्य है, तब उसे काव्यात्मा के स्थानिक कैसे माना जा सकता है ? आनन्दवर्धन इस प्रश्न का समाधान कई प्रकार से करते हैं। पहला कारण तो यह है कि व्यंजकत्वव्यापार का उपर्युक्त औपाधिकरूप शब्द के सिर्फ बाह्यरूप में ही है, व्यंग्यरूप में वह नित्य है[1]। दूसरा कारण यह है कि अत्यंत साररूप अर्थ व्यंग्यरूप से ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए, महाभारत आदि में ऐसा ही किया गया है; सारभूत अर्थ व्यंग्यरूप में प्रकाशित होकर अत्यंत शोभादायक होता है, विद्वन्मंडली भी इसे स्वीकारती है।[2] तीसरी बात यह है कि व्यंग्य-व्यंजक भाव की अनन्तता के बावजूद कवि का इष्टार्थ तो सिर्फ रससिद्धि होना चाहिए[3] और रससिद्धि व्यंजकत्वव्यापार में ही संभव है; क्योंकि शब्दों का चारुत्व मुख्यतः व्यंजकत्वव्यापार के ही आश्रित होता है तथा रससमर्पणक्षम होना ही शब्दों की (चारुत्वद्योतन की नियामक) नैसर्गिक विशेषता है।[4] शब्दों का रसाक्षिप्त प्रयोग ही कवि का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए; अन्यथा, विशेषतः प्रबन्धकाव्यों में सिर्फ इतिवृत्त प्रस्तुत करना निरर्थक है, क्योंकि यह कार्य तो इतिहास भी करता है (तो काव्य की क्या आवश्यकता ?)। इसलिए कवि को पूर्णतः रसपरतंत्र हो जाना चाहिए।[5] चौथी बात यह है कि शब्दों का इसी रूप में (व्यंजकत्वव्यापार से रसादि समर्पणक्षम) प्रयोग प्रतीयमान अर्थ का विधायक होता है, जो ललनाओं के अंग सौष्ठव से अतिरिक्त (उच्छलित) लावण्य की तरह काव्य का चारुत्वविशेष है।[6]

---

1. नैष (औपाधिकत्वात्) दोषः। यतः शब्दात्मनि तस्यानित्यत्वम्, न तु स्वे विषये व्यङ्ग्यलक्षणे।—अलोक दीपिका, पृ० 271।

2. अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्ग्यत्वेनैव दर्शितो, न तु वाच्यत्वेन सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयम-स्त्येव विदग्धविद्वत् परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेनैव। —ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 348-349.

3. व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान्॥ —ध्वन्यालोक, 4/5.

4. तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यञ्जकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्।—ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ०211.

5. कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। ··· न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः।
—ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 194.

6. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥
—ध्वन्यालोक, 1/4.

शब्दों का इसी रूप मे प्रयोग कवि की सामर्थ्य का भी द्योतक होता है। सिर्फ उक्तिवैचित्र्य अथवा शब्द का भंग्यंतर-प्रयोग ध्वनिकाव्य का विषय नहीं होता, व्यंजनाव्यापार से युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी है (ध्वन्यालोक-1/15)। जिसप्रकार शब्दशास्त्र (व्याकरणादि) तथा अर्थशास्त्र (कोशादि) के ज्ञान मात्र से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति संभव नहीं, काव्यमर्मज्ञ ही उसे अनुभव कर सकते हैं (ध्वन्यालोक, 1/7), उसीप्रकार कवि को भी वैसे प्रतीयमान अर्थ के व्यंजक शब्द की खोज करनी होती है। जिसे सचमुच में कवि बनना है, उसे अपने अभीप्सित अर्थ देने वाले व्यंजक शब्द (सम्यक् शब्द) की तलाश तथा पहचान करनी होगी। आनंदवर्धन के अनुसार वाच्य-वाचक रचनामात्र से कोई महाकविपद का अधिकारी नहीं होता, उसे तो शब्द की व्यंग्य-व्यंजक सामर्थ्य की पहचान होनी ही है। ऐसे व्यंजक शब्द को आनन्दवर्धन ने 'व्यंग्यार्थव्यक्तिसामर्थ्य योगी' कहा है और उनके मत में ऐसे शब्द ही सही अर्थ में काव्य हैं।[1]

4·2·2. आनंदवर्धन ने 'शक्ति' के दो रूप माने हैं—शब्दशक्ति और अर्थशक्ति (ध्वन्यालोक, 2/20 तथा वृत्ति)। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ध्वनि-विवेचन में व्याकरणदर्शन का आधार लेते हुए भी उन्होंने शब्द और अर्थ तथा उनकी शक्ति की पृथक् कल्पना कैसे की? व्याकरणदर्शन की मान्यता है कि शब्द नादरूप में नित्य है और अर्थ उसके विवर्त हैं। भर्तृहरि अद्वैतवाद तथा शैवदर्शन के अनुकूल शब्दब्रह्म की कल्पना करते हैं। किंतु आनंदवर्धन का काम शब्द को ब्रह्म मानने से नहीं चलता। शब्द का लोकव्यवहार 'अर्थरूप' अथवा विवर्तरूप में ही प्रकट होता है और काव्य भी विशिष्ट लोकव्यवहार है। और फिर, आनंदवर्धन नाद का विश्लेषण नहीं, ध्वनि की स्थापना कर रहे थे। ध्वनि की बुनियाद शब्द है अवश्य, किन्तु, उसकी सार्थकता शब्द के शक्तिप्रसार में है। इसीलिए उन्होंने 'शक्तिप्रसार' के दोनों पक्ष—शब्द (नादरूप वर्णादि) तथा अर्थ (अभिधेय सत्ता) को विवेचन का आधार बनाया है।

---

1. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ —ध्वन्यालोक, 1/8, तथा वृत्ति
स व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम्। तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ। व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण।
—ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 33.

4·2·3. काव्यसंदर्भ में अर्थ से आनंदवर्धन का तात्पर्य व्याकरण, कोशादि से गृहीत अर्थ नहीं है। काव्य में शब्द के प्रत्यक्ष अर्थ के अलावा कवि की विवक्षा अथवा इष्टार्थ भी होता है। कवि अपने इष्टार्थ के अनुरूप शब्दप्रयोग करता है, अतः अर्थविवेचन का दूसरा पक्ष 'प्रयोग' है। काव्यसंदर्भ में अर्थ का एक तीसरा पक्ष भी है–सहृदय द्वारा गृहीत अर्थ। इसप्रकार आनंदवर्धन ने शब्दार्थसंबंध अर्थात् शक्ति पर तीन दृष्टियों से विचार किया है—कविपक्ष, प्रयोगपक्ष और सहृदयपक्ष। काव्यसंदर्भ में शब्दार्थ के इस त्रिशेष विवेचन की आवश्यकता क्या है? जब लोकव्यवहार में व्याकरण, कोशादि से गृहीत अर्थ से ही काम चलता है, तो काव्यसंदर्भ में खासियत क्या है? आनंदवर्धन कहते हैं कि काव्यसंदर्भ में व्यंजकत्वव्यापार से लिया गया अर्थ भाषाशास्त्र अथवा व्याकरण-कोशसम्मत भी हो यह जरूरी नहीं, क्योंकि काव्य का सत्य यथार्थ सत्य भी हो यह आवश्यक नहीं, इसलिए काव्यार्थ के लिए काव्य से इतर प्रमाण अथवा साक्षी की जरूरत नहीं है।[1] फिर भी काव्यार्थ अनियन्त्रित अथवा अप्रामाणिक अर्थव्यापार तो नहीं हो सकता, इसका साक्षी तो कोई-न-कोई होगा ही। आनंदवर्धन के मत में काव्यार्थ के दो ही प्रमाण हैं—अर्थ की प्रसिद्धि[2] अर्थात् सहृदय की अनुभवरूप अर्थप्रतीति और कवि की विवक्षा[3] अर्थात् संप्रेष्य अर्थ। काव्यार्थ के ये तीन विचारणीय पक्ष अर्थात् कवि, प्रयोग एवं सहृदय पृथक्-पृथक् तीन सत्ता नहीं, बल्कि एक ही काव्यानुभव के विवेचनसौकर्य के उपाय हैं।

कविपक्ष से शब्दप्रयोग की आनंदवर्धनसम्मत विचारणा का किंचित् विवेचन हम प्रारंभ में कर आए हैं। शब्दों के माध्यम से कवि क्या नहीं कर सकता! रस का आश्रय लेकर जब कवि रचना (शब्दविधान) करता है तब अनन्त नवीन अर्थ उपलब्ध होते हैं, रचना महती संपदायुक्त होती है।[4] कवि की आनंदवर्धनसम्मत विवक्षा 'रस' है, जिसकी सिद्धि के लिए वह रससमर्पणक्षम एवं व्यंजकत्व व्यापारयुक्त शब्दों का प्रयोग करता है। इस दृष्टि से कवि स्रष्टा के समकक्ष

---

1. काव्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते। –ध्वन्यलोक (दीपिका), पृ० 285.
2. शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्। –ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 147.
3. विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। –ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 311.
4 अङ्गीभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवनवार्थलाभो भवति बन्धच्छाया च महती सम्पद्यत इति। –ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 349.

है। कवि की जैसी विवक्षा होती है, विश्व वैसा ही हो जाता है। शृंगारी कवि का काव्यसंसार, शृंगारमय होता है तो वीतरागी कवि की दुनिया नीरस। कवि के लिए चेतन-अचेतन का भेद तिरोहित हो जाता है, उसकी विवक्षा के अनुकूल चेतन अचेतन की तरह और अचेतन चेतन की तरह व्यवहार करते हैं। कविविवक्षा का यह महत् रूप उसकी शब्दरचना के माध्यम से ही काव्यसंसार के रूप में प्रकट होता है।[1]

शब्दार्थव्यापार पर प्रयोगपक्ष से विचार करते हुए, पुनः कविविवक्षा का प्रश्न उठा है। आनंदवर्धन ने अनुमितिवाद के निराकरण के प्रसंग में 'शब्द' के विषय का विश्लेषण किया है। उसके अनुसार 'शब्द' के दो विषय हैं— अनुमेय और प्रतिपाद्य। अनुमेय विषय से 'विवक्षा' अर्थात् अर्थ कहने की (प्रयोक्ता की) इच्छा की जानकारी होती है। यह विवक्षा भी दो प्रकार की होगी—शब्दस्वरूप प्रकाशन (वर्णादिरूप) और अर्थप्रकाशन। इनमें से शब्दस्वरूप प्रकाशन की इच्छा से सिर्फ प्राणित्वबोध होता है, अर्थात् सिर्फ यह पता चलता है कि कोई जीवित प्राणी है, जिसने कुछ आवाज की है। अतः यह शाब्दव्यवहार के योग्य नहीं। दूसरा प्रकार भी यद्यपि वाच्यप्रधान ही होता है, फिर भी चूँकि उसका उद्देश्य अर्थप्रकाशन है, अतः वह शाब्दव्यवहार (शाब्दबोध) का एक अंग होता है।

शब्दप्रयोग में प्रयोक्ता का जो वास्तविक प्रयोजन है, वह शब्द का प्रतिपाद्य विषय है। प्रतिपाद्य विषय के भी दो प्रकार हैं : वाच्य और व्यंग्य। वाच्य के अन्तर्गत वैसे शब्दप्रयोग आते हैं, जिनके माध्यम से प्रयोक्ता कुछ प्रत्यक्ष अर्थ, सीधे बतलाना चाहता है। 'व्यंग्य' वह शाब्दव्यवहार है, जिसके माध्यम से प्रयोक्ता किसी प्रयोजन विशेष (गोपन, सौंदर्यातिशय आदि) को शब्दतः न कहकर शब्दों से व्यंजित करना चाहता है। यह व्यंग्यार्थ भी वस्तुतः वाच्य की सामर्थ्य से ही गृहीत होता है, लेकिन वह प्रयोक्ता का अभिप्राय हो भी सकता है, और नहीं भी। अनुमिति

---

1. अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥
भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥
—ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 312.

की सीमा वक्ता के अभिप्राय तक ही है, लेकिन व्यंग्यार्थ अनभिप्रायरूप भी हो सकता है, जिसे सिर्फ सहृदय ही ग्रहण कर पाता है तथा जो या तो वाचकत्वव्यापार से प्राप्त होता है या व्यंजकत्वव्यापाररूप संबंधांतर से।[1]

वाचकत्वव्यापार तथा व्यंजकत्वव्यापाररूप संबंधांतर से व्यक्त अर्थ ही आनन्दवर्धनसम्मत प्रतीयमान अर्थ है। अर्थ की यह प्रतीयमानता (प्रतीति) सहृदयसापेक्ष है, क्योंकि सामान्य प्रतीति—प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द तथा स्मृति से यह प्रतीयमानता विलक्षण है, और इसलिए भी कि यह कथित नहीं, अभिव्यक्त होती है।

यों सहृदयश्लाघ्य अर्थ के दो रूप होते हैं: वाच्य और प्रतीयमान (ध्वन्यालोक, 1/2)। वाच्यार्थ सामान्य व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से नियोजित (कविपक्ष) भी किया जा सकता है और उपलब्ध भी; किन्तु प्रतीयमान अर्थ के नियोजन तथा उपलब्धि, दोनों के लिए प्रतिभाविशेष अनिवार्य है (ध्वन्यालोक, 1/6)। वाच्यार्थ और प्रतीयमान दोनों ध्वनि के विषय हैं। उनमें प्रतीयमान तो प्रकृतया ध्वनिविषय है, किन्तु सामान्य अभिधेयार्थमूलक वाच्य, ध्वनि का विषय नहीं होता। आनन्दवर्धन की व्यवस्था यह है कि गुणालंकारयुक्त वाच्यार्थ ही ध्वनि का विषय होता है (ध्वन्यालोक, 1/3)। प्रतीयमान अर्थ की व्याख्या में कहा गया है कि जब अर्थ, शब्द और शब्दार्थ सभी अपने 'स्व' को गुणीभूत करके कोई अतिरिक्त अर्थ को अभिव्यक्त करते हों, तब वह अतिरिक्त अर्थ ही प्रतीयमान अर्थ

---

1. द्विविधो विषयः शब्दानाम्। अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च। तत्रानुमेयो विवक्षा लक्षण। विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्देनार्थप्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा तत्राद्या न शाब्दव्यवहाराङ्गम्। सा हि प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिफला। द्वितीया तु शब्दविशेषावधारणावसितव्यवहितापि शब्दकरणव्यवहारनिबन्धनम्। ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषयः शब्दानाम्।

प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रतिपादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः। स च द्विविधो, वाच्योव्यङ्ग्यश्च। प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वशब्देनार्थं प्रकाशयितुं समीहते, कदाचित् स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित्। ...व्यङ्ग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ततया वाच्यवच्छब्दस्य सम्बन्धी भवत्येव।...प्रतीयमाने तस्मिन्नभिप्रायरूपेऽनभिप्रायरूपे च वाचकत्वेनैव व्यापारः सम्बन्धान्तरेण वा। ...... सम्बन्धान्तरेण व्यञ्जकत्वमेव—ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 279-282.

है और उससे युक्त काव्य ध्वनिकाव्य।[1] इसप्रकार काव्य में ध्वनितत्त्व की व्याख्या वस्तुत: सहृदयश्लाघ्य अर्थ की व्याख्या है।

4·2·4. ध्वनितत्त्व की स्थापना की प्रक्रियां वस्तुत: सहृदयपक्ष से काव्यचारुत्व अथवा सौंदर्यतत्त्व की अनुसंधानप्रक्रिया है। अत: ध्वनितत्त्व संबंधी धारणाओं का और गहराई से परीक्षण आवश्यक है।

पहला प्रश्न है कि 'उपसर्जनीकृत स्वार्थौ' का तात्पर्य क्या है? 'स्वअर्थ' से तात्पर्य है कोशादि से प्राप्त शब्द का निजी अभिधेयार्थ। काव्य में प्रयुक्त शब्द अपने प्रकृतअर्थ का उपसर्जन करते हैं। उपसर्जन से तात्पर्य स्वअर्थ का त्याग अथवा छोड़ देना नहीं, बल्कि एक नयी अर्थसृष्टि के लिए समर्पण करना अथवा सृष्टिपैटर्न के गर्भ से किसी नये उपपैटर्न की सर्जना है। वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के 'स्वअर्थ' एक नये अर्थ का सर्जन करते हैं। यहीं दूसरा प्रश्न होता है कि यह नया सृष्टअर्थ क्या शब्दों के 'स्वअर्थ' का नियत रूप है? दूसरे शब्दों में क्या नवसृष्ट अर्थ, प्रयुक्त शब्दों के प्रकृत अर्थ, उनकी अर्थच्छायाएँ तथा संकेत आदि से अनिवार्यत: जुड़े होते हैं? ध्वनिसिद्धान्त का पक्ष यह है कि नवसृष्ट अर्थ शब्द के स्वअर्थ से जुड़े रहें यह अनिवार्य नहीं, न ही यह आवश्यक है कि वह अभिधेयार्थ का रूपान्तरण मात्र हो। अत: नवसृष्ट अर्थ और शब्द के स्वअर्थ के संबध नियत नहीं हैं। इसका कारण यह है कि नवसृष्ट अर्थ प्रकरणादि तथा सहृदय की अर्थग्रहणक्षमता के आश्रित हैं। स्वभावत: प्रश्न उठेगा कि इस धारणा के प्रमाण क्या हैं? आनन्दवर्धन ने तज्जन्य प्रमाणों की विस्तृत व्याख्या की है। आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि के तीनों भेद—वस्तु, अलंकार और रस, काव्य में प्रयुक्त शब्दों के 'स्वअर्थ' अथवा वाच्यार्थ से भिन्न अर्थसृष्टियाँ हैं, यद्यपि यह सब होती हैं वाच्यसामर्थ्य के ही कारण। जैसे वस्तुध्वनि के संदर्भ में वाक्यार्थ और ध्वन्यार्थ में अन्तर तीन प्रकार के हो सकते हैं:

(i) विधिमूलक वाच्यार्थ का प्रतिषेधमूलक ध्वन्यर्थ,

(ii) प्रतिषेधमूलक वाच्यार्थ का विधिमूलक ध्वन्यर्थ, और

(iii) विधिमूलक वाच्यार्थ का अनुभयात्मक अर्थात् विधि, प्रतिषेध दोनों से भिन्न ध्वन्यर्थ।

---

1. यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थंउपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित:॥ —ध्वन्यालोक, 1/13
तथा वृत्ति, यत्रार्थो वाच्यविशेष:, वाचकविशेष: शब्दो वा, तमर्थं व्यङ्क्तः स काव्यविशेषो ध्वनिरिति। (दीपिका), पृ० 37.

इसीप्रकार अलंकार भी यद्यपि शब्दव्यापार का ही विषय है, किन्तु अलंकार-ध्वनि व्यंग्यप्रतीति के बाद गृहीत होती है, अतः वाच्यार्थ में अन्तर्भुक्त नहीं की जा सकती। रसध्वनि भी इसीप्रकार, आनन्दवर्धन के अनुसार यद्यपि वाच्य-सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होती है, फिर भी उसे साक्षात् शब्द-व्यापार (अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या) का विषय नहीं कहा जा सकता। शृंगार, वीर आदि उच्चारण अथवा लेखन से नहीं, विभावादि के सम्यक् नियोजन से रसस्थिति आती है। विभावादि के नियोजन शब्दाश्रित हैं सही, किन्तु पुनः नायक, नायिका, फूल, वसंत हर्ष, कंप आदि कथन से विभावादि सम्यक्रूपेण नियोजित नहीं होते, बल्कि वैसे प्रकरणादि के नियोजन से वे प्रतिपादित होते हैं, व्यक्त होते हैं। अतः स्वशब्दता से रसग्रहण नहीं होता, इसलिए रस वाच्य भी नहीं होता।[1]

तीसरा प्रश्न है कि उपसर्जनीकृत हो जाने के बाद शब्द के 'स्वअर्थ' का क्या बनता है? कई स्थितियाँ संभव हैं—स्वार्थ का लुप्त हो जाना, गौण हो जाना, व्यंग्यार्थ में तत्त्वान्तरित हो जाना, समानान्तर रहना, यौगपतिक रहना इत्यादि। ध्वनिकार वाच्यार्थ की उपेक्षा नहीं करते यह तथ्य है, समस्त ध्वनि-विस्तार की व्याख्या उन्होंने वाच्यसामर्थ्य के आधार पर ही की है। उनका स्पष्ट मत है कि जैसे दीपशिखा के अभाव में आलोक नहीं होता, वैसे ही वाच्यार्थ के बिना व्यंग्यार्थप्रतीति नहीं होती (ध्वन्यालोक, 1/9)। अतः वाच्यार्थ तो मूल ठहरा। इसलिए उपसर्जनीकृतरूप 'स्वअर्थ' से व्यंग्यार्थप्रतीति होने के बाद 'स्वअर्थ' की स्थिति का प्रश्न वस्तुतः व्यंग्यबोधप्रक्रिया से जुड़ा प्रश्न है। आनन्दवर्धन ने व्यंग्य-बोधप्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जैसे पदार्थबोध (प्रयुक्तशब्द का अर्थबोध) के बाद ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, उसीप्रकार वाच्यार्थ की प्रतीति के बाद ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।[2] आनन्दवर्धन के इस प्रतिपादन में व्यंग्यार्थबोध के अनन्तर 'स्वअर्थ' की स्थिति का स्पष्टीकरण भी निहित है। वाक्य में जो स्थिति पद की है, अर्थप्रक्रिया में वही स्थिति वाच्य की है। वाक्यार्थबोध के क्रम में पदार्थ लुप्त, गौण अथवा तत्त्वान्तरित नहीं होता और न ही उसकी समानान्तर सत्ता होती है। पदार्थों की सत्ता नहीं होती, ऐसा भी नहीं है, किन्तु वह सत्ता स्वतंत्र भी नहीं होती, यह तथ्य है। वस्तुतः वाक्य में अर्थप्रक्रिया की

---

1. ध्वन्यालोक, 1/4 की वृत्ति।
2. यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥ —ध्वन्यालोक, 1/10.

दृष्टि से पदार्थ और वाक्यार्थ की सत्ता यौगपातिक होती है। जिसप्रकार गणित में युगपत के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् नजर आती सत्ताएँ मूल्य के स्तर पर समतुल्य होती हैं, तथा मूल्यस्तर तक पहुँचने के लिए उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान भी होता है, उसीप्रकार वाक्य में पदार्थ का उपसर्जनीकृत होना वाक्यार्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया है। पदार्थों से व्यक्त वाक्यार्थ पदार्थों में नये अर्थ भर देते हैं। विवक्षितार्थ, जो वाक्यार्थ का मूल्य है, उसके स्तर पर पदार्थ तथा वाक्यार्थ संयोगी हैं। वस्तुतः विवक्षितार्थ पदार्थ तथा वाक्यार्थ का संघातरूप ही है। इसीतरह आनंदवर्धन के अनुसार वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में यौगपातिक संबंध ही मान्य है। वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ के संघात को ही वे ध्वनि कहते हैं। इसीलिए प्रारंभ में ही उन्होंने स्वीकार किया कि वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ दोनों सहृदयश्लाघ्य अर्थ हैं।

चौथा प्रश्न है कि स्वअर्थ के उपसर्जनीकृत होने के अनन्तर लब्ध 'व्यंग्यार्थ' का स्वरूप क्या होगा? इस प्रश्न के कई पक्ष हैं। व्यंग्यार्थ की अर्थसंपदा, व्यंग्यार्थ तथा अन्य शब्दव्यापार (अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या, अनुमान) से उसका संबंध-वैशिष्ट्य, आधार, अन्य पूर्वविवेचित काव्यतत्त्वों से संबंध इत्यादि। यह प्रश्न मूलतः ध्वनिस्थापना से संबद्ध है, अतः इसका विस्तृत विवेचन आनंदवर्धन ने किया है :

1. व्यंग्यार्थ को एक पारिभाषिक रूप दिया गया है—प्रतीयमान अर्थ। प्रतीयमान का अर्थ है, वह जो प्रतीतिलब्ध हो। यह प्रतीति क्या होती है? सामान्यतः प्रतीति का अर्थ है 'ज्ञान' जो प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा स्मृति के रूप में प्राप्त हुआ करता है। प्रतीयमान इस अर्थ में ज्ञान नहीं है, ध्वनिकार इसे संवेद्य मानते हैं। संवेद्य होना जहाँ एक ओर ज्ञान का विषय है, वहीं अनुभूति का विषय भी। संवेद्य स्थिति संवाद के अनन्तर आती है। यह 'संवाद', काव्यसंदर्भ में, कवि द्वारा संप्रेषित भावसंपदा तथा सहृदय की संवेदनशीलता के मध्य होता है। एक भिन्न प्रसंग में आनंदवर्धन ने संवाद का स्वरूपविवेचन किया है कि अन्य के साथ सादृश्य को संवाद कहते हैं (ध्वन्यालोक, 4/12)। अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में कई स्थलों पर सहृदयसंवेद्य के लिए 'सहृदयहृदय-संवाद' शब्द का प्रयोग किया है। सहृदय का एक लक्षण अभिनवगुप्त के अनुसार 'स्वहृदयसंवादभाजः' अर्थात् अपने हृदय से संवाद (वर्णनीय वस्तु से एकीकरण) की योग्यता से युक्त होना भी है।[1] हृदयसंवाद के ही बल पर सहृदय

1. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।—ध्वन्यालोक, लोचन-तारावती, सं० डॉ० रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल-बनारसीदास, पृ० 62.

तन्मय होकर रसास्वादन करता है।[1] स्पष्ट है कि सहृदय को संवादस्थिति में पहुँचा देने वाला अर्थ ही प्रतीयमान अर्थ है, जिसका गुण है संवेद्य होना। ज्ञान-संदर्भ वाली प्रतीतियाँ कहीं-न-कहीं सहायक मात्र हैं। अतः प्रतीयमान अर्थरूप प्रतीति संवेद्य होने के कारण विशेष प्रतीति है।

विशेष प्रतीति अर्थात् प्रतीयमानता (जिसके आधार हैं वाच्यविशेष तथा वाचकविशेष) से युक्त काव्य भी विशेष होगा, और ऐसा काव्यविशेष ही ध्वनि-काव्य है (ध्वन्या. 1/13, वृत्ति)।

2. शब्दव्यापार के अन्य पूर्वविवेचित रूपों (अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या आदि) से आनंदवर्धन का कोई विरोध नहीं। वे इन शब्दव्यापारों का निषेध नहीं करते। उनका पक्ष सिर्फ इतना है कि वे सभी शब्दव्यापार ध्वनि के उपस्कारक हैं, स्थानापन्न नहीं। उनका स्पष्ट मत है कि व्यंजनाव्यापार से, उन पूर्वविवेचित शब्दव्यापार के व्यतिरिक्त अर्थग्रहण होते हैं।

ध्वनिसंदर्भ में अभिधाशक्ति के बीजस्थानीय होने की बात आनंदवर्धन ने अनेक प्रसंगों में की है। उनकी यह मान्यता रही है कि काव्य का समस्त शब्दार्थ-बोध वाच्यसामर्थ्य से ही होता है, लेकिन समस्त शब्दार्थबोध वाच्य ही नहीं होता। शब्द के अभिधाव्यापार की सीमा है वाच्यार्थबोध, उसके बाद जो अन्य अनेक सहृदयसंवेद्य अर्थग्रहण होंगे, वे चूँकि प्रयुक्त शब्दों के वाच्यार्थ नहीं हैं, इसलिए अभिधाव्यापार की सीमा में नहीं आते। अभिधावादी मीमांसकों ने वाक्यार्थबोध के लिए दो मत स्थिर किये हैं 'अन्विताभिधान' और 'अभिहितअन्वय', किंतु आनंद-वर्धन ने इनकी चर्चा नहीं की है, अतः इस प्रसंग का विवेचन हम अभिनवगुप्त के प्रसंग में करेंगे।

उसीप्रकार लक्षणा भी ध्वनि की उपस्कारक है, साक्षात् ध्वनि नहीं। लक्षण व्यापार की सीमा है मुख्यार्थबाध के बाद लक्ष्यार्थ की, रूढ़ि अथवा प्रयोजन पर आधारित प्रतीति। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति ही इस बिन्दु से प्रारंभ होती है। यों, लक्षणाश्रित 'प्रयोजन' भी अपने आप में व्यंग्यार्थ ही है, लक्षणागत प्रयोजन की प्रतीति भी व्यंजनाव्यापार से ही होती है, क्योंकि लक्षणा का कार्य तो लक्ष्यार्थ

1. अपि तु सहृदयस्य हृदयसंवादबलाद्विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वा-द्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति।
—लोचन-तारावती पृ० 147.

की प्रतीति करा देना है, तो 'प्रयोजन' की प्रतीति किस व्यापार से होगी ?[1] अतः लाक्षणिक प्रयोग की लक्ष्यसिद्धि ही व्यंजनाव्यापार के आश्रित है। आनंदवर्धन ने स्पष्ट कहा है कि लक्षणिक प्रयोग के माध्यम से प्रयोजनगत चारुत्व की उपलब्धि भी 'व्यंजकत्व अनुप्रवेश' के कारण होती है, स्वतंत्ररूप से लक्षणाव्यापार के कारण नहीं—यत्र तु सा चारुरूपव्यङ्ग्यहेतुस्तत्रापि व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेनैव...(ध्वन्यालोक, पृ॰ 268)।

तात्पर्यार्थ की सीमा है अन्वयार्थ की उपलब्धि। व्यंजनाव्यापार यहीं नहीं रुकता। तात्पर्यार्थ भी मीमांसासम्मत शब्द का औपाधिक अर्थ है, जिसके आधार पर वहाँ वैदिक तथा लौकिक वाक्यों में भेद किया जाता है। मीमांसादर्शन में शब्दार्थ-संबंध नित्य है, लेकिन यह नित्य संबंध वैदिक अथवा अपौरुषेय वाक्य में ही मान्य है, लौकिक या पौरुषेय वाक्य में नहीं। पौरुषेय वाक्य अप्रमाण्य माना गया है, जिसमें वाक्यप्रयोक्ता पुरुष का 'तात्पर्य' ही प्रधान होता है। यह तात्पर्यबोध ही मीमांसा मत में पौरुषेय-अपौरुषेय वाक्य का भेदक तत्त्व है, क्योंकि वैदिक वाक्य स्वतः प्रमाण हैं और लौकिक वाक्य परतः प्रमाण अर्थात् प्रयोक्ता के अभिप्राय, तात्पर्य अथवा विवक्षा के आश्रित। अतः 'तात्पर्य' भी व्यंजनाव्यापार की सीमा में अन्तर्भुक्त होने लगता है। आनन्दवर्द्धन ने विवेचन करते हुए कहा कि[2]—

(i) व्यंजनाव्यापार की स्वीकृति के बिना पौरुषेय-अपौरुषेय वाक्यार्थ भेद नहीं बनता,।

(ii) पौरुषेय वाक्यों में मिथ्यार्थकता की सिद्धि किसी औपाधिक अर्थ की स्वीकृति के बिना संभव नहीं। वह औपाधिक अर्थ व्यंजकत्व के सिवा अन्य कुछ नहीं हो सकता; क्योंकि व्यंग्य अर्थ का प्रकाशन करना ही व्यंजकत्व है। पौरुषेय वाक्य मुख्यतः वक्ता के अभिप्राय को ही प्रकाशित करते हैं और वक्ता का अभिप्राय व्यंग्य ही होता है, वाच्य नहीं।

---

1. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।, पृ॰ 2/14.
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया।
प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्। न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः।
—काव्यप्रकाश, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, पृ॰ 70.
2. ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ॰ 273-75.

(iii) प्रश्न हो सकता है कि उपर्युक्त स्थिति में सभी लौकिक वाक्यों में ध्वनिव्यवहार हो जाएगा। किन्तु यह बात नहीं है। ध्वनिव्यवहार समस्त अभिप्राय अथवा तात्पर्य में नहीं होता, बल्कि रसादि, वस्तु, अलंकार रूप में विवक्षित अभिप्राय विशेष में ही, जो शब्द और अर्थ से प्रकाशित होता है, होगा।

ध्वनिव्यापार चूँकि व्याकरणदर्शन की मान्यताओं पर ही आधारित है, अतः उसके विरोध-अविरोध की चिन्ता आनंदवर्धन को नहीं, किंतु न्यायमत और वैशेषिकमत की समीक्षा करनी पड़ी है। आनंदवर्धन ने व्यंजकत्व को न्यायमतानुकूल सिद्ध किया है। उनका तर्क है कि[1] —

(i) नैयायिकों का विरोध वाचकत्व के स्वाभाविक अथवा संकेतकृत होने के विषय में है, वाचकत्व के बाद आनेवाले अनुभवसिद्ध अर्थ के बारे में उनकी कोई विप्रतिपत्ति नहीं। अतः वे व्यंजकत्व को मानते ही हैं, क्योंकि विद्वत्गोष्ठियों में अभिधाव्यापार से व्यतिरिक्त रमणीय अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाले अनेक प्रकार के वचन और व्यापार निबद्ध अथवा अनिबद्ध पाये जाते हैं और इस तथ्य की उपेक्षा करना उपहासास्पद ही होगा।

(ii) प्रश्न यह हो सकता है कि अभिधाव्यापार से व्यतिरिक्त रमणीय अर्थ को अनुमान ही क्यों न माना जाय? पहले तो आनंदवर्धन यह कहते हैं कि वैसा मानने का यदि कोई दुराग्रह हो तो कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि अनुमान भी प्रसिद्ध अभिधा तथा गुणवृत्ति शब्दव्यापार से भिन्न शब्दव्यापार का ही विषय होगा। पुनः अनुमानप्रक्रिया का निराकरण यह कहकर करते हैं कि "शब्द के दो विषय हैं— अनुमेय और प्रतिपाद्य। अनुमेय की सीमा वक्ता की विवक्षा या अभिप्राय है। प्रतिपाद्य ही शब्दप्रयोग का वास्तविक प्रयोजन है। प्रतिपाद्य के दो प्रकार हैं—वाच्य और व्यंग्य। उनमें व्यंग्यार्थ यद्यपि वाच्य सामर्थ्याक्षिप्त होकर ही अभिव्यक्त होता है, फिर भी वैसा ही अथवा वही प्रयोक्ता का अभिप्राय भी हो यह आवश्यक नहीं। अनुमिति की सीमा वक्ता की विवक्षा या अभिप्रायतक है, लेकिन सहृदयसंवेद्य व्यंग्यार्थ अनभिप्रायरूप भी हो सकता है तथा जो या तो वाचकत्वव्यापार से प्राप्त होता है या व्यंजकत्वव्यापाररूप संबंधान्तर से।"

इसीक्रम में वैशेषिकमत का निराकरण भी आनंदवर्धन ने किया है। वैशेषिकमत में भी समस्त शब्दव्यापार का अनुमानप्रक्रिया में अन्तर्भाव किया

1. ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 277-280.

जाता है और उसका हेतु समानविधित्व बतलाया जाता है अर्थात् अनुमानप्रक्रिया यथा व्याप्तिग्रह, लिंगदर्शन, व्याप्ति, स्मृति तथा अनुमिति के समानुकूल ही शब्द-बोध की प्रक्रिया, यथा—संकेतग्रह, पदज्ञान, पदार्थस्मृति तथा शाब्दबोध भी मानी जाती है। आनंदवर्धन ने इस अन्तर्भाव का निराकरण करते हुए कहा कि[1]—

(i) अनुमानप्रक्रिया की सीमा अभिप्रायबोध ही है, अनभिप्रायरूप व्यंग्य नहीं,

(ii) अनुमान औपाधिक नहीं होता, जबकि व्यंग्यार्थ औपाधिक है,

(iii) वैदिक अथवा लौकिक अनुष्ठानपरक वाक्यों में प्रमाण्य तथा अप्रमाण्य ज्ञान का उपयोग है, किंतु काव्य का मूल्य चमत्कारप्रतीति है, अर्थ को प्रमाणित करना नहीं। काव्य का सत्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं करता, उसे तर्क द्वारा सिद्ध अथवा असिद्ध भी नहीं किया जा सकता, वह जितना विवक्षा का विषय है, उतना ही सहृदयसापेक्ष भी। अतः सर्वत्र अनुमिति से व्यंग्यप्रतीति होती हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता।[2]

अतः शब्दव्यापार के पूर्वविवेचित रूप ध्वनिव्यवस्था में अनुपयोगी नहीं, बल्कि सहृदयसंवेद्य प्रतीयमान अर्थ तक पहुँचने में सहयोगी की भूमिका निबाहते हैं। इस व्यवस्था में आनन्दवर्धन ने व्यंजकव्यापार को भी ध्वनि का उपस्कारक मानलिया है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि शाब्दव्यवहार के तीन प्रधानरूपों—वाचकत्व, गुणवृत्ति और व्यंजकत्व में भी जब व्यंजकत्व में व्यंग्यप्रधान होता है, तभी ध्वनिव्यवहार होता है, अन्यथा नहीं : तदेवं शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाराः; वाचकत्वं गुणवृत्तिर्व्यञ्जकत्वं च। तत्र व्यञ्जकत्वे यदा व्यङ्ग्यप्राधान्यं तदा ध्वनिः (ध्वन्यालोक दीपिका, पृ० 265)।

3. अभिधा और लक्षणा दोनों जैसे व्यंजकव्यापार के आधार होते हैं, वैसे ही ध्वनिव्यवहार में अभिधा, लक्षणा और व्यंजकव्यापार तीनों सहायक हैं। इसकी सिद्धि के लिए आनन्दवर्धन ने ध्वनि के व्यापक वर्णक्रम की व्याख्या की—

---

1. ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 281-285.

2. काव्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते। तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्। —ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 285.

प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। —ध्वन्यालोक, 1/13 की वृत्ति पृ० 53.

अर्थात् वैयाकरणों ने वर्णों के श्रवण को ध्वनि कहा है। उसीप्रकार काव्यतत्त्वज्ञों ने भी वाच्य, वाचक, सम्मिश्र, शब्दात्मा तथा काव्य को ध्वनि कहा है। अभिनवगुप्त ने टिप्पणी करते हुए कहा है कि—

तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। संमिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः। (ध्वन्यालोक-लोचन-तारावती, पृ० 276)।

अर्थात् वाच्य भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी, ध्वनति इतिध्वनिः व्युत्पत्ति से दोनों की व्यंजकता सिद्ध होती है। 'सम्मिश्र' का अर्थ है जो विभाव अनुभाव के सम्मिलन से प्रतिपादित हो वह व्यंग्यार्थ, यह 'ध्वन्यत इति ध्वनिः' व्युत्पत्ति से सिद्ध है। शब्द करना शब्द कहलाता है अर्थात् शब्दव्यापार अभिधा नहीं, आत्मभूत व्यंजनाव्यापार ही होता है, यह 'ध्वननं ध्वनि' व्युत्पत्ति से सिद्ध होता है। उपर्युक्त ध्वनिचतुष्टय से युक्त 'काव्य' भी ध्वनि है।

इसप्रकार ध्वनिव्यवहार सिर्फ काव्य ही नहीं वर्ण, वाचक, वाच्य, व्यंग्यार्थ, और व्यंजनाव्यापार के साथ भी होता है। इस व्यापक वर्णक्रम में सामान्यतः ध्वनिव्यवहार होता है, किन्तु पारिभाषिक अर्थ में वर्ण, वाचक, वाच्य, व्यंग्यार्थ और व्यंजनाव्यापार में व्यंग्यप्राधान्य को 'ध्वनि' कहा गया है, यह हम देख चुके हैं। वाच्यातिशायित्व ही नहीं जैसा कि विश्वनाथ बतलाते हैं (वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिः, साहित्यदर्पण, 4/1), बल्कि व्यंजकत्व अतिशायित्व भी आनन्दवर्धन को अभिमत है। इन समस्त प्रपंचों को आनन्दवर्धन ने चारुत्वोत्कर्ष के आश्रित कर दिया है—चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा। (ध्वन्यालोक-दीपिका, पृ० 42)। तात्पर्य यह है कि चारुत्व का उत्कर्ष या रमणीयता ही नियामक है कि काव्य वाच्यप्रधान है या व्यंग्यप्रधान। जहाँ चारुत्वोत्कर्ष व्यंग्य में पर्यवसित होता हो, वह आनन्दवर्धन सम्मत ध्वनिकाव्य होगा। इस दृष्टि से वर्ण, वाच्यादि सर्वत्र चारुत्वोत्कर्ष की खोज की गयी है।

4. जैसे पूर्वविवेचित शब्दव्यापार सम्बन्धी विभिन्न मान्यतओं को ध्वनि-उपस्कारक के रूप में व्याख्या की गयी, उसीप्रकार पूर्वविवेचित काव्यतत्त्वों के भाषिकरूपों यथा—रीति, वृत्ति, गुण और अलंकार की भी ध्वनि-उपस्कारक रूप में व्याख्या हुई।

सहृदयश्लाघ्य अर्थ का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन ने उसे "ललितोचितसन्निवेश चारुण: शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थित:" (ध्वन्यालोक, 1/2 की वृत्ति) कहा है। अर्थात् जैसे शरीर में आत्मा होती है वैसे ही काव्य में साररूप स्थित (आत्मस्थ) वह सहृदयश्लाघ्य अर्थ 'ललित' एवं 'औचित्य' के सन्निवेश से चारु रचना (शरीर) में आत्मस्थ होता है। 'ललित' शब्द की व्याख्या अभिनव ने 'गुणालङ्कारानुग्रहमाह' के रूप में की है तथा 'उचित' की 'रसविषयमेवौचित्यं' के रूप में (ध्वन्यालोक-लोचन-तारावती, पृ० 73)। अर्थात् गुण और अलंकार का पारस्परिक अनुग्राहकरूप प्रयोग तथा रसादि को पुष्ट करनेवाली उचित रचना किंवा संघटना से सहृदयश्लाघ्य अर्थ चारुत्वोत्कर्ष पाता है। स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन सम्मत सहृदयश्लाघ्य अर्थ 'रस' के अलावा और कुछ नहीं। वे स्पष्ट कहते हैं कि विविध शब्द, अर्थ तथा संघटना से चारुत्वप्राप्त प्रतीयमान के अन्य भेद हो सकते हैं, किन्तु मूलत: रसमुख से ही उसे जाना जा सकताहै।[1] रस ही कवि की प्रधान विवक्षा है, जिसके अभाव में आनन्दवर्धन चित्रकाव्य का होना मानते हैं।[2] वे तो महाकवियों का मुख्य व्यापार ही यह मानते हैं कि वह रसादि को काव्य का केन्द्रीय विषय बनाये और तदनुकूल (रसादिऔचित्य की दृष्टि से) शब्दरचना करे (ध्वन्यालोक, 3/32 तथा वृत्ति); क्योंकि व्यञ्जकत्व के आश्रित ही शब्दों का चारुत्व होता है और इस चारुत्व का लक्ष्य सहृदयसंवेद्य अर्थ का सर्जन करना है। आनन्दवर्धन सम्मत सहृदय भी 'रसभावादिमय काव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्य'[3] से युक्त होता है, अत: समस्त कविव्यापार तथा शब्दव्यापार का पर्यवसान रसादिसमर्पण में है।

---

1. विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुण: काव्यस्य स एवार्थ: सारभूत:......
प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्रधान्यात्।
—ध्वन्यालोक (दीपिका), 1/5 की वृत्ति, पृ० 30.

2. रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो य: स चित्रविषयो मत:॥
—परिकर श्लोक, ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 311.

3. ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 211.

पूर्वविवेचित रीति आदि काव्यतत्त्व का उपयोग ध्वनिव्यवस्था में 'रसादि-समर्पणसामार्थ्य' की दृष्टि से है, अन्यथा नहीं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पूर्वविवेचित रीत्यादि काव्यतत्त्वों की आनन्दवर्धन उपेक्षा तो नहीं करते, किन्तु रसादिसमर्पणसामर्थ्य की दृष्टि से उनके पुनर्मूल्यांकन के आग्रही अवश्य हैं। पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया यह है कि रसादि बुनियादी तौर पर चित्तवृत्तिविशेष हैं— चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः (ध्वन्यालोक दीपिका, पृ० 311)। चित्तवृत्तिविशेष के कारण ही कोई कवि सरस होता है और उसके अभाव में नीरस। यह कविपक्ष है। चित्तवृत्तिविशेष से अभिप्रेरित कवि तदनुकूल शब्दरचना करता है —यह हुआ काव्यपक्ष। उधर सहृदय भी रसिक है, यह है सहृदयपक्ष। काव्य की काव्यता है– सहृदयसंवेद्य अर्थ। अतः कवि और उसकी शब्दरचना (काव्य) की वास्तविक कसौटी है शब्दरचना की रसादिसमर्पणसामर्थ्य। रीति, वृत्ति, गुण अलंकार आदि सभी उक्त शब्दरचना के ही विविधरूप हैं, अतः रसादिसमर्पणसामर्थ्य उनका भी नियामक है। यही आनन्दवर्धन का पक्ष है। अपनी पक्षसिद्धि के लिए उन्होंने गंभीर, व्यवस्थित एवं विस्तृत विश्लेषण किया है :

(i) रीति और गुण का प्रश्न 'संघटना' के संदर्भ में विवेच्य हुआ है, प्रस्थानबिन्दु है सहृदय। आनन्दवर्धन 'रीति' शब्द का प्रयोग न करके 'संघटना' शब्द का प्रयोग करते हैं, जो तीन प्रकार की बतलाई गयी है– असमासा, समासा और मध्यसमासा (ध्वन्या. 3/5)। ये तीनों क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली के स्थानापन्न हैं।

वामन ने रीति को 'विशेषोगुणात्मा' कहा था। आनन्दवर्धन का प्रश्न यहीं से उभरता है कि संघटना और गुण क्या आन्योन्याश्रित हैं? तीन विकल्प हैं—रीति और गुण में कोई भेद नहीं, संघटनाश्रित गुण और गुणाश्रित संघटना। पहले तो आनन्दवर्धन प्रथम दो विकल्पों को अमान्य ठहराते हैं। उनका तर्क है कि संघटना और गुण में अभेद मानने अथवा संघटनाश्रित गुण मानने से संघटना की तरह गुण भी अनियतविषय माने जाएँगे, जबकि गुणों का विषय निश्चित है, जैसे करुण, विप्रलंभ में माधुर्य और प्रसाद का प्रकर्ष; रौद्र, अद्भुत में ओज की प्रधानता आदि। संघटना के साथ यह नियत विषयत्व नहीं है शृंगार में दीर्घसमासा रचना तथा रौद्रादि में भी समासरहित रचना पायी जाती है। तो प्रश्न यह है कि गुण किसके आश्रित होंगे? आनन्दवर्धन का स्पष्ट उत्तर है कि गुण रसाश्रित हैं (ध्वन्या. 2/6)। गुण को पारिभाषित करते

हुए उन्होंने कहा कि व्यंग्यविशेष के अभिव्यंजक, वाच्यार्थप्रतिपादन में समर्थ शब्द के धर्म ही गुण हैं—गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव (ध्वन्या. 3/6, वृत्ति)। अतः गुणों का शब्दाश्रित कहना औपचारिक हैं तात्त्विक नहीं।

वे अन्ततः संघटना और गुण की अभेदरूपता अथवा भेदरूपता को पूर्णतः औपचारिक चर्चा मानते हैं। उनका पक्ष यह है कि संघटना समासादिरूप में स्वतः नहीं उभरती, बल्कि उसकी पृष्ठभूमि में वक्ता तथा वाच्य का औचित्य होता है। वक्ता तथा वाच्य के अनेकरूप हो सकते हैं और ये ही यह तय करते हैं कि संघटना का स्वरूप क्या होगा। इसप्रकार संघटना और गुण के पारस्परिक संबंधसूत्र का रूप होगा :—

रसभावादि (वक्ता तथा वाच्य) > गुण > संघटना।

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि उक्त संबंधसूत्र को क्या स्वयंसिद्ध मान लिया जाय? वस्तुतः स्थिति यह है कि उक्त संबंधसूत्र रससंदर्भीय प्रस्थानबिन्दु से सिद्ध होता है, किन्तु यदि 'रचना' को प्रस्थानबिन्दु माना जाय तो स्थिति पूर्णतः विपरीत आएगी—संघटना > गुण > रसभावादि अथवा वामन के शब्दों में दीप्ति। इस द्वितीय संबंधसूत्र से भी आनन्दवर्धन का कोई बुनियादी विरोध नहीं। संघटना संबंधी निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि संघटना को गुणों से भिन्न मानें या अभिन्न वक्ता तथा वाच्य के औचित्य से संघटना का विषयनियम बन जाता है, इसलिए वह भी रस की अभिव्यंजक होती है। रस की अभिव्यक्ति में संघटना का निश्चित योग है और उसके नियामक वक्ता तथा वाच्य के औचित्य ही गुणों के भी नियतविषय हैं। इसलिए 'संघटनाश्रित गुण' मानने में भी कोई विरोध नहीं।[1] इसप्रकार संघटना तथा रीति संबंधी तीनों विकल्प अपनी जगह पर सही हैं। शर्त सिर्फ इतना ही है कि रसव्यंजना के घटकरूप में वे हों। वृत्तियों अर्थात्

---

1. तस्माद् गुणाव्यतिरिक्तत्वे गुणव्यतिरिक्तत्वे वा सङ्घटनाया यथोक्तादौचित्याद् विषयनियमोऽस्तीति तस्या अपि रसव्यञ्जकत्वम्। तस्याश्च रसाभिव्यक्तिनिमित्तभूताया योऽयमनन्तरोक्तो नियमहेतुः स एव गुणानां नियतो विषय इति गुणाश्रयेण व्यवस्थानमप्यविरुद्धम्। —ध्वन्यालोक-दीपिका, पृ० 181.

परुषा, उपनागरिका तथा कोमला वर्णरचना के लिए भी रसानुसरण की शर्त आनन्दवर्धन ने रखी है। —वृत्यौचित्यन्तु यथारसमनुसर्तव्यम् (ध्वन्या-3/7 वृत्ति)। इसी दृष्टि से उन्होंने भरतसम्मत कैशिकी आदि व च्याश्रित वृत्तियों तथा उपनागरिकादि वाचकाश्रित वृत्तियों का विवेचना किया है।[1]

रीति (वृत्ति + संघटना) तथा गुण का निराकरण आनन्दवर्धन ने नहीं किया, बल्कि उन्हें वक्ता, वाच्य तथा विषय के औचित्य का संदर्भ देकर रसादिसमर्पणसामर्थ्य को उनका मूल्य बतलाया है। यह मूल्य और संदर्भ ही रीति तथा गुण के नियामक हैं। संघटना-विवेचन में आनन्दवर्धन की देन उसके नियामक तत्त्व की स्थापना है। गुण के मूल्यविवेचन में वे वामन से आगे नहीं बढ़ सके हैं और अन्ततः संघटना संबंधी तीनों विकल्प उन्हें स्वीकार करने पड़े। बात सिर्फ इतनी रही कि गुण और संघटना में नियमित विषयित्व का संबंध अमान्य रहा।

(ii) अलंकारों की आलंकारिता अथवा अलंकारप्रयोग की कसौटी पर भी आनन्दवर्धन ने रसादिसमर्पणसामर्थ्य की दृष्टि से विचार किया है। उनके मत में अलंकारप्रयोग की दो कसौटियाँ हैं—रसाक्षिप्तता तथा अयत्नज।[2] रसाक्षिप्तता से तात्पर्य विभावादि को सहृदय के लिए जीवितानुभव विषय बनाना है। अयत्नज से तात्पर्य है अलंकार-प्रयोग में किसी अतिरिक्त प्रयत्न का अभाव। कवि की रसबंधनाध्य-वसायवासना अर्थात् अभिव्यक्तिप्रक्रिया के सहज प्रवाह में जो अलंकार-प्रयोग हो जाता है, वह अयत्यनज है, क्योंकि उसके लिए कवि को (अलंकृति के लिए) शब्दविशेष की खोज नहीं करनी पड़ती। अपनी पक्षसिद्धि के लिए आनन्दवर्धन ने रूपकादि अर्थालंकार तथा यमकादि-योजना की तुलना की है। यह सही है कि सभी अलंकार वाच्यविशेष हैं, जो रसादि के प्रतिपादक विशिष्टरूप हैं; फिर भी, इस वाच्यविशेषरूप

1. रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः॥ —ध्वन्यालोक, 3/33.

2. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥ —ध्वन्यालोक, 2/16.

अलंकार के दो रूप हैं : अंतरंग और बहिरंग। अंतरंग रूप अलंकारप्रयोग, चूँकि अभिव्यक्तिप्रक्रिया के सहज अंग हैं, वे रस के अंग हैं, बहिरंग नहीं। यमकादि के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यमक-रचना प्रयत्नसाध्य होती है। उसमें रस का योग हो भी सकता है और नहीं भी। रससहित यमक में भी प्रधानता यमक की ही होती है, रस की नहीं। रसहीन यमक में प्रयत्नअतिरेक तो स्पष्ट ही होता है। इसलिए ये बहिरंग ही होते हैं, अंतरंग नहीं। यों रूपकादि अलंकार भी सयत्न-योजित हो सकते हैं, वैसी स्थिति में वैसे वाच्यविशेष को भी रस का बहिरंग ही कहा जायगा। स्पष्ट है कि अंतरंग वाच्यविशेष अथवा अलंकार ही रस के अंग होंगे और वही अलंकारप्रयोग का औचित्य भी है। इसीलिए आनन्दवर्धन अलंकार को चारुत्वहेतु मानते हैं। ऐसा मानने में बाह्य आभूषणों का साम्य वे उपस्थित करते हैं—अलङ्कारोहि बाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते (ध्वन्या, 2/17 वृत्ति), किन्तु जब वे अलंकार सहज अभिव्यक्तिप्रक्रिया के अंतरंगरूप में आते हैं तब बाह्य आभूषणों से उनकी तुलना असिद्ध हो जाती है। आनन्दवर्धन इस वदतोघात का स्पष्ट निराकरण नहीं कर पाये हैं।

रूपकादि वर्ग के अलंकारप्रयोग की समीक्षा करने के लिए आनंदवर्धन ने छह आधार दिये हैं : रसपरत्व विवक्षा, किसी भी दशा में अलंकार की प्रधानता का न होना, उचित ग्रहण, उचित त्याग, आद्यन्त आत्यन्तिक निर्वाह के प्रयत्न का अभाव, और यदि वैसा निर्वाह हुआ हो तब उसकी अंगरूपता को बनाये रखा जाना।[1] इन आधारों का बीज है रसपरत्व विवक्षा जिसे अलंकारप्रयोग का नियामक तत्त्व माना जाना चाहिए, शेष अन्य आधार, कमोबेस प्रयत्नज हैं। अलंकारों का चारुत्वहेतुत्व मूलतः कवि की (अलंकारप्रयोग में) रसपरत्व विवक्षा पर निर्भर है। शेष प्रयत्नज आधारों का क्या होगा? इस प्रश्न का समाधान एक भिन्न प्रसंग में आया है।

---

1. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥ 18 ॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥ 19 ॥—ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत।

अलंकार रसांगरूप में चारुत्वहेतु हैं तो अलंकार का चारुत्व व्यंग्य-सम्पर्श में है (ध्वन्या, 3/37)। व्यंग्यसंस्पर्श से सभी वाच्यालंकार अत्यंत शोभादायक बन जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ? इसलिए कि अतिशयोक्ति सभी वाच्यालंकारों में आत्मरूप विद्यमान होती है, अतिशयोक्ति सर्वालङ्कारूपा है। अतिशयोक्ति का अन्य अलंकारों के साथ संकर दो प्रकार से होता है--वाच्यरूप तथा व्यग्यरूप। इसे अतिशयोक्ति की अलंकारान्तर अनुप्रवेशसामर्थ्य कहा जा सकता है। अतिशयोक्ति की वाच्यरूप अलंकारान्तरानुप्रवेश से सभी अर्थालंकारों का का अस्तित्व सिद्ध होता है, यह स्थिति आनंदवर्धन के अनुसार वाच्यालंकार मार्ग है। अतिशयोक्ति के व्यंग्यरूप अलंकारान्तरानुप्रवेश के दो रूप कहे गये हैं—प्रधान और गौण। प्राधान्येनव्यंग्यरूप अतिशयोक्ति में ध्वनिकाव्य और गौणरूप में गुणीभूत काव्य का व्यवहार होता है। बीजरूप अतिशयोक्ति के माध्यम से आनदवर्धन ने अलंकारप्रयोग की ध्वनिसम्मत व्याख्या की है। उपर्युक्त विवेचन में निर्दिष्ट वाच्यालंकारसमीक्षा के छह आधारों में रसपरत्व विवक्षा ध्यनिकाव्य में व्यवहार्य है, शेष गुणीभूतरूप अलंकारप्रयोग तथा वाच्यालंकार प्रयोगरूप के समीक्षा-आधार हैं।

उपर्युक्त विवेचनों का आनंदवर्धन सम्मत निष्कर्ष यह है कि शब्द (वाचक), अर्थ (वाच्य) तथा उनके चारुत्वहेतु (अलंकार) की रसादिपरता ध्वनिकाव्य के विषय हैं। आनंदवर्धन ने समस्त शब्दचिंतन को रससंदर्भ प्रदान किया है, यह उनकी महनीय देन है।

भट्टतौत

4·3·1. भट्टतौतकृत काव्यकौतुक फिलहाल अनुपलब्ध है। वे अभिनवगुप्त के गुरु थे और अभिनव ने उनकी मान्यताओं का 'भारती' तथा 'लोचन' में आदर-पूर्वक उल्लेख किया है। अभिनव के अतिरिक्त क्षेमेंद्र, हेमचंद्र, आदि आचार्यों ने भी भट्टतौत की धारणाओं की किंचित् चर्चा की है।

4·3·2. उपलब्ध उल्लेखों में, शब्दचिंतन की दृष्टि से भट्टतौत की 'वर्णना' संबंधी धारणाएँ विचारणीय हैं। हेमचन्द्र के साक्ष्यानुसार भट्टतौत की यह मान्यता है कि 'वर्णना' ही काव्य का अस्तित्वविधायी तत्त्व है, 'वर्णना' के अभाव में काव्य की

कल्पना ही नहीं की जा सकती।[1] वर्णना से भट्टतौत का तात्पर्य निश्चय ही वर्णन करना नहीं है। यह 'वर्णना' अभिव्यक्ति किंवा अभिव्यंजना का पर्याय प्रतीत होती है। ऋषि 'दर्शन' करता है और कवि 'दर्शन' तथा 'वर्णना' दोनों ही। क्षेमेन्द्र के साक्ष्यानुसार भट्टतौत कविप्रतिभा को 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी' मानते हैं।[2] इसप्रकार कविप्रतिभा से संप्रेरित समृद्ध 'दर्शन' जब 'वर्णनापरिणत' होता है, तभी काव्य कहा जाता है। यह 'वर्णना' ही कविव्यापार है, जो रुय्यक के साक्ष्यानुसार भट्टतौतसम्मत कविकर्म है और यही कविकर्म काव्य है।[3] अभिनवगुप्त के साक्ष्यानुसार भट्टतौत की यह स्पष्ट मान्यता है कि अभिनयादि के अभाव में भी प्रत्यक्षकल्पसंवेदन अर्थात् सहृदय के साक्षात् जीवितानुभव का विषय बना काव्यार्थ रसानुभूति कराने में समर्थ होता है। काव्यार्थ सहृदय के साक्षात् जीवितानुभव का विषय तभी बनता है जब उसमें वर्णन का विस्तार, उक्ति की प्रौढ़ता तथा उद्यान, कांता, चंद्रमा आदि विभावों का प्रत्यक्षवत् बिंबान्वय हो और यह सब प्रयोग अर्थात् वर्णना का ही विषय है।[4]

---

1. भट्टतौत—नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद्वर्णनात् च अथ रूढा लोके कविश्रुतिः॥
तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्यप्यादिकवेर्मुनिः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥
—काव्यानुशासन, काव्यमाला पृ० 379.

2. औचित्य विचार चर्चा, कारिका—35.

3. 'अनेन कवेः कर्म काव्यमिति काव्यकौतुकविहितां काव्यस्य शब्दव्युत्पत्तिं कविमूलकाव्यत्वप्रतिपादिकां दर्शयति। तत्रह्युक्तं 'तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्' इति। —व्यक्तिविवेक, सं० डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ० 101.

4. "काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः। यदाहुः काव्यकौतुके—प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः। इति।
वर्णनोत्कलिकाभोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत्स्फुटाः॥"
—अभिनवभारती, सं० आचार्य विश्वेश्वर पृ० 504.

4·3·3. 'वर्णना' का प्रत्यक्षकल्पसंवेदनक्षम होना काव्यास्वादन की अनिवार्य शर्त है। 'वर्णना' कविव्यापार का भी पर्याय है। शब्दचिंतन की दृष्टि से कवि-व्यापार वस्तुतः कवि के आत्मभाव के भाषिक रूपान्तरण की प्रक्रिया है। इसप्रकार 'शब्द' की प्रत्यक्षकल्पसंवेदनक्षम नियोजना काव्यास्वाद का बीज सिद्ध होता है।

भट्टनायक

4 4 1. भट्टनायक कृत 'हृदयदर्पण' अथवा 'सहृदयदर्पण' संप्रति अनुपलब्ध है। भरत के रससूत्र के व्याख्यातारूप में इनकी प्रसिद्धि रही है और इसी सिलसिले में परवर्ती आचार्यों ने भट्टनायक की मान्यताओं का प्रायः खंडन करने के लिए, बार-बार उल्लेख किया है। उन परवर्ती उल्लेखों के आधार पर प्राप्त, शब्दचिन्तन के संदर्भ में भट्टनायक का शब्दव्यापार सम्बन्धी विचार वस्तुतः युगांतकारी है। भट्टनायक शब्दव्यापार के माध्यम से काव्य की रचनाप्रक्रिया की अपारंपरिक तथा अभूतपूर्व व्याख्या करते हैं।

4 4·2. अभिनवगुप्त के साक्ष्यानुसार भट्टनायक काव्य को अभिधाव्यापार मानते हैं। उनकी मान्यता है कि शास्त्र शब्दप्रधान होता है, पुराण अर्थप्रधान, किन्तु काव्य शब्दार्थव्यापार प्रधान।[1] शास्त्र के शब्दप्रधान होने का तात्पर्य है प्रयुक्त शब्द का अपरिवर्तनीय होना। पुराणों के अर्थप्रधान होने से तात्पर्य यह है कि वहाँ शब्दों में परिवर्तन किये जा सकते हैं, बशर्ते अभीप्सित अर्थ या विषय के वे अनुकूल हों। किन्तु, शास्त्र में शब्दप्रयोगमात्र होता है, और पुराण में अर्थनियोजन, शब्द और अर्थ का शब्दान्तर अथवा अर्थान्तरव्यापार वहाँ नहीं होता। काव्य में शब्दार्थ का शब्दार्थान्तर-व्यापार होता है अर्थात् यहाँ शब्द और अर्थ सर्जनशील होते हैं, किसी प्रस्तुतीकरण (शास्त्र और पुराण) के तटस्थ उपस्कर नहीं। शब्दार्थव्यापार से भट्टनायक का तात्पर्य शब्दार्थ की यही सर्जनशीलता है। इस शब्दार्थव्यापार को भट्टनायक ने कविव्यापार से जोड़ा है।

---

1. भट्टनायक के (ना) पि (अ) त एव···अभिधाव्यापारप्रधानं काव्यमित्युक्तम्।

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वे तु युक्तेन वदन्तः स्थानमेतयोः॥
(अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः)।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥ —अभिनवभारती।

—डॉ॰ राघवन कृत 'सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ अलंकारशास्त्र', पृ॰ 18.

4·4·3. आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित 'काव्यलक्षण' की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने तत्सम्बन्धी दस मतों का संकलन अभिनवभारती मे किया है। इनमें से तीसरे मत में कविव्यापार के माध्यम से काव्यलक्षण की व्याख्या की गयी है। कविव्यापार सम्बन्धी इस मत का श्रेय, डॉ० राघवन के अनुसार भट्टनायक को है।[1]

कविव्यापार तथा काव्यलक्षण सम्बन्धी अभिनवगुप्त के उल्लेख इस इस प्रकार हैं :

> कवि की प्रतिभा के तीन व्यापार हैं। ये व्यापार तीन मनःपरिस्पंद (स्पंदन, परिष्कृति, स्फुरण, कुंतक के शब्दों में अंतःकरण की सर्जनवृति—वृते: अंतःकरणपरिस्पंदः हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ० 46) के आश्रित होते हैं। प्रतिभा के प्रथम परिस्पंद में ही कवि रस और गुण को ग्रहण कर लेता है। जब कवि ग्रहीत भाव और गुण को अभिव्यक्त करना चाहता है, तो वह अवस्था 'वर्णना' कही जाती है; यह द्वितीय परिस्पंद की अवस्था है और इस अवस्था में ग्रहीत भाव से सम्बद्ध अलंकारों की लड़ी उपस्थित हो जाती है। तृतीय परिस्पंद में कविप्रतिभा सम्यक् शब्दचयन तथा अर्थनियोजन करती है। काव्यशरीर का वास्तविक निर्माण इस तृतीय परिस्पंद अवस्था में ही होता है और यही काव्यशरीर 'लक्षण' है।[2]

---

1. "The third view takes it's stand on differences in activity (Vyapara-bheda). From the look of the Anustubhes and the association of Vyapara with Bhatta Nayaka we may conjecture that some of these views are expounded in Bhatta Nayaka's Hrdaya darpana"

—Some concepts of Alamkara Sastra, p 13.

2. कवेः यः प्रतिभाख्या प्रथमपरिस्पन्द (त): तद्व्यापारबलोपनतेषु (ता): गुणा। प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्यमाधुर्यादिः उपनिबन्धन सामर्थ्यं, न सामान्यकवे। अनेन शब्देन इदम् वस्तु वर्णयामीत्येवंभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीय-व्यापारसंपाद्यस्तवलंकारः। शब्दान् अमीभिः शब्दैः, अर्थान् अमीभिः अर्थैः। संघटयामीत्येवमात्मकस्तु यस्तृतीयः कवेः परिस्पंदः तदधीनात्मालाभादिः शब्दार्थात्मककाव्यशरीरसंश्रितानि वक्ष्यमाणश्लेषादिगुणदशकसमभिव्यञ्जन-व्यापाराणि शब्दार्थोपसंस्कारकल्पानि क्रियारूपाणि इति।

काव्येऽप्यस्ति तथा कश्चित् स्निग्धः स्पर्शोऽर्थशब्दयोः।
यः श्लेषादिगुणव्यक्तिदक्षस्स्याल्लक्षणं स्थितिः ॥—अभिनवभारती।

—डॉ० राघवन कृत 'सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ अलंकारशास्त्र', पृ० 9.

कविव्यापार का यह विवेचन प्रकारांतर से कवि के आत्मभाव के विशिष्ट भाषिक रूपान्तरण की प्रक्रिया अथवा रचनाप्रक्रिया का विवेचन है।

4·4·4. कविप्रतिभा के इस परिस्पंदत्रयरूप व्यापार का संपोषण भट्टनायक ने, आस्वादनप्रक्रिया से जुड़े त्र्यंशभूत शब्दव्यापार के माध्यम से किया है। आस्वादन-प्रक्रिया की दृष्टि से उन्होंने शब्दव्यापार की तीन प्रावस्थाएँ बतायी हैं : अभिधा, भावना और भोगीकरण। शब्दार्थ, अलंकृति, वृत्त, वस्तु आदि अभिधा के विषय हैं। भावना अर्थात् भावकत्वरूप दूसरे व्यापार अथवा प्रावस्था में उक्त वृत्तादि भाव्यमान अर्थात् साधारणीकृत हो जाते हैं। ये साधारणीकृत वृत्तादि ही शब्द के तीसरे व्यापार अर्थात् भोगीकरण (भोजकत्व) प्रावस्था में सहृदय-आस्वाद्य होते हैं।[1]

भट्टनायक के इस मत को अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक-लोचन में और भी स्पष्ट किया है। लोचन के उल्लेख के अनुसार भट्टनायक के मत में 'रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न और न अभिव्यक्त ही। रस काव्य में, शब्द के त्र्यंशभूत व्यापार के प्रसाद से, शब्दवैलक्षण्य से, आत्मरूप निहित होता है। उनमें अभिधाय-कत्व का विषय वाच्य (शब्दार्थ, अलंकृति, वृत्त, वस्तु आदि) है, भावकत्व रसादि विषयक और भोगकृत्व अर्थात् भोजकत्व सहृदयविषयक होता है। इस प्रकार काव्य में शब्द के त्र्यंशभूत व्यापार, होते हैं।[2]

ये त्र्यंशभूत शब्दव्यापार और कविव्यापारगत परिस्पंदत्रय क्रमश :आस्वाद-प्रक्रिया और रचनाप्रक्रिया की व्याख्या करते हैं। कवि, काव्य और सहृदय के प्रस्थान-बिन्दुओं का यह संश्लिष्ट विश्लेषण शब्दचिंतन को नया आयाम देता है। काव्य को शब्द-

---

1. अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकरणमेव च।
अभिधा धामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः॥
भावना भाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो हि यत्।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमन्नरैः॥
—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० 467.

2. "तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः। किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भाव-कत्वं रसादिविषयम्। भोगकृत्वं सहृदयविषयम् इति त्रयोंऽशभूताः व्यापाराः।"
—ध्वन्यालोक–लोचन–तारावती, पृ० 384.

व्यापार मानते हुए उन्होंने पहलीबार उसका सीधा संबंध रचनाप्रक्रिया से जोड़ा है। यह युगांतकारी स्थापना थी, यह बात दूसरी है कि अभिनवगुप्त ने उन्हें अशास्त्रीय कहकर खंडित किया है। व्याकरण आदि भावकत्व तथा भोजकत्व को स्वीकार नहीं करते[1], यह सही है। व्याकरण शब्दशास्त्र है और वेदांतादि दर्शनशास्त्र। उन शास्त्रों का विषय कवि की रचनाप्रक्रिया अथवा सहृदय की आस्वादनप्रक्रिया कभी रही ही नहीं। इसलिए उनके आधार पर भट्टनायक के भोगसिद्धांत के खंडन का कोई अर्थ नहीं। वस्तुतः जैसा कि प्राध्यापक शिवप्रसाद भट्टाचार्य ने कहा भी है, भट्टनायक का भोगकृति अथवा चर्वणासिद्धांत नंदतिक आस्वादन (एस्थेटिक टेऽस्ट) के बीजतत्त्व का उद्घाटन करता है। अभिनवगुप्त सम्मत रसास्वादन सिद्धांत में, भावनातत्त्व तथा विभावनप्रक्रिया के आधाररूप में मान्य 'साधारणीकृति' की भूमिका की भट्टनायक का चर्वणासिद्धांत ही प्रस्तुत करता है।[2]

कुंतक

4·5·1. कुंतक का समस्त प्रयत्न शब्द और अर्थ की 'साहित्यविच्छित्ति' जिसे वे वक्रता कहते हैं, की बहुविध व्याख्या करने मे लगा है। उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने शब्द, अर्थ और उनके 'साहित्य' के प्रश्न उठाये जरूर, पर उनका हल उन लोगों ने अलंकृति में अथवा रीति, वक्राभिधेय आदि में ढूँढा। आनंदवर्धन ने शब्दशक्तियों को पहचाना अवश्य, किन्तु प्रतीयमान अर्थ की सर्वोपरिता सिद्ध करने के प्रयत्न में 'व्यंजना' को अतिशय महत्त्व भी दिया। भट्टनायक ने शब्दव्यापार के विविधरूपों को कवि की रचनाप्रक्रिया से जोड़ा अवश्य, किंतु यह प्रयत्न भी रस की सार्वभौम स्थापना का एक माध्यम बनकर रह गया। भामह ने भी 'शब्दार्थौ साहितौ' की बात कही थी, किंतु उसका वे कोई समग्रशास्त्र नहीं प्रस्तुत कर सके। तात्पर्य यह है कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने शब्द, अर्थ और उनके साहित्य के मुद्दे को बार-बार उठाया, लेकिन उन्हें मूल्यांकन का आधार वे नहीं बना सके, जबकि स्थिति यह है कि काव्य के मूल्यांकन के लिए शब्द से भिन्न कोई सार्वभौम सिद्धांत हो ही नहीं सकता। कुंतक ने पहलीबार इस बुनियादी मसले को पूरी गंभीरता से

1. डॉ॰ कांतिचंद्र पांडेय ने वेदांत सांख्य, योग एवं वैशेषिक सभी मतों से 'भोग' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए, भट्टनायक के भोगसिद्धांत को अशास्त्रीय बताकर उसका खंडन किया है। विशेष विवरण के लिए देखें, स्वतन्त्रकलाशास्त्र, खंड–1, पृ॰ 106-109.
2. स्टडीज इन इंडियन पोएटिक्स, पृ॰ 32-33.

विवेचित किया तथा लावण्य, शब्द और अर्थ की साहित्यविच्छित्ति और कवि-व्यापार का सार्थक समीकरण स्थापित किया। शब्दार्थ का योगक्षेमत्व, परस्परस्पर्धित्व, सौभाग्य, लावण्य, बंध, विन्यास, व्यापार, वक्रता आदि अपने पारिभाषिक अर्थ में शब्दचिंतन को कुंतक की महनीय देन हैं। काव्यमार्ग और गुण के विवेचन-क्रम में भी उन्होंने शब्दचिंतन के नये आयाम उद्घाटित किये। इस दृष्टि से आचार्य कुंतक की यह आत्मश्लाघा सर्वथा उचित है कि समस्त काव्यशास्त्रीय परंपरा में वे पहले आचार्य हैं, जिसने कविकर्मकौशल से उत्कर्षप्राप्त शब्द और अर्थ की उपर्युक्त (सौभाग्य, लावण्य, योगक्षेम, परस्परस्पर्धित्व आदि) रमणीय साहित्य-विच्छित्ति का उद्घाटन किया।[1]

अस्तु। कविकर्मकौशल से उत्कर्षप्राप्त शब्द और अर्थ की कुंतक सम्मत रमणीय साहित्यविच्छित्ति का अध्ययन तीन दृष्टियों से प्रस्तावित है: बंध-अवधारणा, मार्गविवेचन और वक्रता।

बंध-अवधारणा

4·5·2. काव्यविन्यास कुंतक की शब्दावली में 'बन्धे व्यवस्थितौ' है। बन्ध का सामान्य अर्थ है 'वाक्यविन्यास'। काव्य का वाक्यविन्यास विशिष्ट व्यवस्था से युक्त होता है और वह विशिष्ट व्यवस्था है—गुण, अलंकार आदि से सुशोभित सम्यक् शब्दार्थविन्यास। कुंतक की दृष्टि में यह शब्दार्थविन्यास परस्परस्पर्धित्व से युक्त होता है। परस्परस्पर्धित्व की तीन दिशाओं तथा अंतरक्रिया की बात कुंतक ने की है: एक, शब्द की शब्दांतर के साथ; दो, अर्थ की अर्थांतर के साथ और शब्द की अर्थ के साथ, अर्थ की शब्द के साथ; तीन, शब्दार्थ की परस्पर उत्कर्षता-रमणीयता ग्रहण एवं प्रदान करने की स्पर्धा।[2]

---

1. अतएवैतदुच्यते, यदिदं साहित्यं नाम तदेतावति निःसीमनि समयाध्वनि साहित्यशब्दमात्रेणैव प्रसिद्धम्। न पुनरेतस्य कविकर्मकौशलकाष्ठाधिरूढ़िरमणीयस्याद्यापि कश्चिदपि विपश्चिदयमस्य परमार्थ इति मनाङ्मात्रमपि विचारपदवीमवतीर्णः।—वक्रोक्तिजीवितम्, संपादक-आचार्य, विश्वेश्वर, पृ० 59.

2. काव्यत्वं स्य दित्याह—बन्धे व्यवस्थितौ। बन्धो वाक्यविन्यासः, तत्र व्यवस्थितौ। विशेषेण लावण्यादिगुणालङ्कारशोभिनासन्निवेशेन कृतावस्थानौ। सहितावित्यत्रापि यथायुक्ति स्वसजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम्।

—व० जी०, पृ० 29.

शब्द और अर्थ से कुंतक का मंतव्य यहाँ सामान्यरूप वाचकत्व अथवा वाच्यत्व नहीं है। यों कवि भी सामान्य प्रचलित शब्दावली का ही इस्तेमाल करता है, किन्तु वैदग्ध्यमंगी के कारण वह शब्दावली ही विशिष्ट स्फुरण अथवा स्पंदन की वाहिका बन जाती है। यह वैदग्ध्मंगी कविप्रतिभा के आश्रित होती है, जिसके स्पर्श से काव्य में प्रयुक्त शब्द, अपने अर्थ-वर्णक्रम की दृष्टि से वे ही नहीं रह जाते जो वे सामान्य वाचकत्व की दृष्टि से होते हैं। इसलिए काव्यसंदर्भ में शब्द सिर्फ वाचक नहीं, बल्कि कविविवक्षा के एकमात्र वाचक होते हैं[1] : शब्दोविवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि। (व० जी० 1/9).

इसी प्रकार 'अर्थ' से कुंतक का मंतव्य भी सामान्य वाच्यत्व से भिन्न है। सहृदयाह्लादकारी तथा प्रकृतया सुन्दर अर्थ ही काव्यसंदर्भ में 'अर्थ' है—अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः। (व० जी० 1/9).

शब्दार्थगत परस्परस्पर्धित्व सम्बन्धी विवेचन का कुंतकसम्मत संदर्भ 'विवक्षितार्थैकवाचक शब्द' तथा 'सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दर अर्थ' का परस्परस्पर्धित्व है। कवि के विवक्षित अर्थ के वाचक अनेक पर्यायवाची शब्द हो सकते हैं, किन्तु उनमें में कविप्रतिभा जिस एकमात्र परमशब्द का चयन करती है, काव्यसंदर्भ में वही 'वाचक' शब्द कहे जाने का अधिकारी है। उसी प्रकार, किसी पदार्थ के अनेक धर्म संभव हैं; किन्तु जो धर्म सहृदय के लिए आह्लादकारी हो, वही धर्म काव्य-संदर्भ में 'अर्थ' कहा जाएगा। इस प्रकार शब्दार्थ परस्परस्पर्धित्व को भी कुंतक ने विशिष्ट रूप में स्वीकार किया है, ऐसा प्रतीत होता है। अर्थात् प्रसिद्धरूप वाचक-वाच्य से विशिष्ट वाचकवाच्य के रूप में शब्द और अर्थ काव्यसंदर्भ में विचारणीय होते हैं। अतः उनका परस्परस्पर्धित्व भी विशिष्ट ही होगा।

यह परस्परस्पर्धित्व शब्द और अर्थ के 'साहित्य' का बीज है। विशिष्ट शब्दार्थसाहित्य के बाद बाद प्रश्न उठता है साहित्यविच्छिति का। कुंतक ने उक्त विशिष्ट शब्दार्थसाहित्य को अलंकार्य माना है। साहित्यविच्छिति के माध्यम से

---

1. कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्। यस्मात् प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित्परिस्पन्देन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृतप्रस्तावसमुचितेन केनचिदुत्कर्षेण वा समाच्छादितस्वभावाः सन्तो विवक्षाविधेयत्वेनाभिधेयतापदवीमवतरन्तस्तथाविधविशेषप्रतिपादनसमर्थेनाभिधानेनाभिधीयमानाश्चेतनचमत्कारितामापद्यन्ते। —व० जी०, पृ० 41.

उन्हें अलंकृत किया जाता है, अतः शब्दार्थसाहित्य भी विशिष्ट होगा। इस दृष्टि से क व्य में परस्परस्पर्धित्व का दूसरा विच्छितिगत स्तर है गुण और अलंकार संपदा का परस्परस्पर्धित्व। कुंतक ने स्पष्ट कहा कि हमें तो (काव्यसदर्भ में) विशिष्ट साहित्य अभिप्रेत है, यह विशिष्ट साहित्य गुणों तथा अलंकारों के सौंदर्य की परस्परस्पर्धा से निष्पन्न होता है—विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्, वक्रताविचित्रगुणालङ्कारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः (व० जी० पृ० 25)। शब्दार्थ के साहित्य' में शब्द और अर्थ के परस्परस्पर्धित्व का प्रश्न था तो साहित्यविच्छिति में गुणालंकारसंपदा के परस्परस्पर्धित्व की बात कही गयी है। इसप्रकार, कुंतक ने शब्द और अर्थ के 'साहित्य' के तीन स्तर बतलाये हैं:

(क) सामान्य शब्दार्थसाहित्य जो भाषिकप्रयोग की बुनियादी शर्त है,

(ख) परस्परस्पर्धित्व से युक्त शब्दार्थसाहित्य, जो काव्यात्मक कोटि का भाषिकप्रयोग है, और

(ग) विच्छित्तिमूलक शब्दार्थसाहित्य, जिसके अन्तर्गत परस्परस्पर्धित्व से युक्त शब्दार्थसाहित्य के अतिरिक्त गुणालंकारसंपदा का भी परस्परस्पर्धित्व होता है।

भाषिक प्रयोग की उपयुक्त तीसरी कोटि ही कुंतक का विवेच्य विषय है। उन्होंने अपने मंतव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शब्द और अर्थ के प्रसिद्ध वाचकवाच्यस्वरूप का विशिष्ट रूपान्तरण है परस्परस्पर्धित्वयुक्त शब्दार्थप्रयोग, जिसमें प्रयुक्त शब्द कवि के विवक्षितार्थ के एकमात्र वाचक होते हैं और अर्थ सहृदयाह्लादक होता है; इनके अलावे काव्यप्रसंग में कुछ अन्य प्रकार के वैचित्र्य से युक्त भाषिक प्रयोग ही उपयोगी होते हैं। इस दृष्टि से शब्दार्थ अलंकार्य हैं और वक्रोक्ति अलंकृति। वक्रोक्ति से तात्पर्य है—(i) प्रसिद्ध कथन से भिन्न वर्णनशैली (ii) कविकर्मकौशल से प्रतिपन्न विच्छित्ति तथा (iii) असाधारण (लोकोत्तर) वर्णना।[1]

---

1. एवं शब्दार्थयोः प्रसिद्धस्वरूपातिरिक्तमन्यदेव रूपान्तरमभिधाय, न तावन्मात्रमेव काव्योपयोगी किन्तु वैचित्र्यान्तरविशिष्टमित्याह—

उभावेतादलङ्कार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥ 1/10.

···कोऽसो, वक्रोक्तिरेव। वक्रोक्तिः, प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी, वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्म कौशलं, तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा बक्रोक्तिरित्युच्यते। —व० जी०, पृ० 50-51.

बंध-अवधारणा की दृष्टि से सामान्य शब्दार्थसाहित्य 'सामान्यबंध' है, परस्पर-स्पर्धी शब्दार्थसाहित्य 'विशिष्ट बंध' और विच्छित्तिमूलक परस्परस्पर्धी शब्दार्थ-साहित्य 'काव्यबंध'। स्पष्ट है कि काव्यबंध परम भाषिकप्रयोग है जिसके अन्तर्गत शब्दार्थ के परस्परस्पर्धित्व के साथ-साथ गुणालंकारसंपदा का परस्परस्पर्धित्व भी अपेक्षित है। ये ही काव्यबंध के कुंतक सम्मत दो घटक हैं।

'गुणालंकारसंपदा परस्परस्पर्धाधिरोहः' के रूप में काव्यबंध की स्पष्ट पहचान के लिए गुण, अलंकार और उनकी संपदा की कुंतकसम्मत धारणाओं की जानकारी आवश्यक होगी।

4·5·3. (i) गुण को कुंतक ने पृथक् पारिभाषित नहीं किया है। मार्गविवेचन के क्रम में गुणसंबंधी विवेचन भी आया है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि कुंतक गुण के महत्त्व को नजरअंदाज करते हों। स्थिति यह है कि गुण कुंतक की दृष्टि में काव्यचेतनता का वाचक है। सौभाग्य गुण के प्रकृतिविवेचन से यह स्पष्ट है: सौभाग्यं प्रतिभासंरम्भफलभूतं चेतनचमत्कारित्वलक्षणम् (1/22, वृत्ति)। सौभाग्य गुण कविप्रतिभा तथा उसके समस्त प्रयत्न का फलरूप है, सहृदय को स्पंदित एवं चेतनशील कर देने का यह मूल हेतु है।

(ii) कुंतक की गुण-अवधारणा के संबंध में एक विवाद उठ आया है कि वे मार्गानुसारी गुण मानते हैं अथवा गुणानुसारी मार्ग। डॉ॰ नगेन्द्र की मान्यता है कि "उनके (कुंतक के) मत में गुणों की स्वतंत्र अथवा निरपेक्ष स्थिति नहीं है, उनका स्वरूप मार्ग के अनुसार बदल जाता है।"[1] डॉ॰ विजेन्द्रनारायण सिंह का विचार ठीक इसके विपरीत है कि "कुंतक गुणों के अनुरूप मार्गों के अनुसरण का सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं।"[2] अपने मत की पुष्टि में इन्होंने कुंतक की इस स्थापना का उल्लेख किया है कि गुण मार्ग की अपेक्षा काव्य का ज्यादा अन्तरतम है। गुणों के द्वारा ही मार्गों का अनुसरण युक्तिसंगत हो सकने के कारण गुणों के बाद मार्ग पद रखा है।'[3]

---

1. हिंदी वक्रोक्तिजीवित की भूमिका, पृ॰ 185.
2. वक्रोक्तिसिद्धांत और छायावाद, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971 ई॰, पृ॰ 185।
3. तत्र गुणानामन्तरम्यात् प्रथममुपन्यसनम्। गुणद्वारेणैव मार्गानुसरणोपपत्तः
—व॰ जी॰, पृ॰ 187.

वस्तुत: यह विवाद दृष्टिभ्रम का परिणाम है। गुणानुसार मार्ग का अर्थ यह होगा कि जहाँ-जहाँ अमुक प्रकार के गुण होंगे, वहाँ-वहाँ अमुक-अमुक 'मार्ग' माना जाएगा, जबकि कुंतक का अभिमत यह है ही नहीं, क्योंकि कुंतकसम्मत मार्ग का आधार है कविस्वभाव, और कविस्वभाव अविभाज्य होता है; उसके व्यापार में अन्तर हो सकता है, स्वभाव में नहीं। इसीलिए मार्ग को कुंतक ने कविप्रस्थानहेतवः कहा है। यदि डॉ० नगेन्द्र भी कविस्वभाव के अविभाज्य होने को स्वीकार कर लें तब न तो यह प्रश्न उठेगा कि 'गुणों की स्वतंत्र अथवा निरपेक्ष स्थिति है या नहीं" और न ही इस आक्षेप का अवकाश रहेगा कि 'कुंतक का (गुण संबंधी) मत भी उसी अनुपात में अशुद्ध है जिस अनुपात में वह गुण के आन्तरिक रूप की उपेक्षा करता है।"[1] कविस्वभाव को काव्यविवेचन का आधार माननेवाला आचार्य गुण अथवा किसी अन्य काव्यतत्त्व के आन्तरिक रूप की उपेक्षा कर ही नहीं सकता, और कुंतक ने भी वैसा नहीं किया है। यह हम आगे देखेंगे।

(iii) कुंतक ने गुण के दो वर्ग माने हैं: सामान्य और विशेष। सामान्य गुण के अन्तर्गत 'सौभाग्य' तथा 'औचित्य' और विशेष के अन्तर्गत माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य परिगणित हैं। दूसरी तरफ बंधलक्षण में सौभाग्य तथा लावण्य की चर्चा है।[2] यह हम देख चुके हैं कि कुंतक 'बंध' अथवा शिल्प की दृष्टि से ही काव्य को विवेच्य मानते हैं। स्पष्ट है कि सौभाग्य, लावण्य अथा औचित्य काव्यबंध के सहज गुण के रूप में कुंतक को मान्य हैं।

विशेष गुण वैसे गुण हैं जिनके रूप प्रयोग की दृष्टि से मार्गानुरूप बदलते रहते हैं। अर्थात् सुकुमार मार्ग में माधुर्यादि विशेष गुणों का वही रूप नहीं रहता जो विचित्र अथवा मध्यम मार्ग में होगा, ऐसी कुंतक की मान्यता है। डॉ० नगेन्द्र की यह धारणा कि कुंतक मार्गानुसारी गुण के पक्षधर हैं, इन्हीं विशेष गुणों के मार्गानुसार परिवर्तित रूप पर आधारित है। मार्गानुसार विशेष गुण का परिवर्तनचक्र इसप्रकार निर्दिष्ट किया जा सकता है:

---

1. हिंदी वक्रोक्तिजीवित का भूमिका, पृ० 186.
2. वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते। —व० जी० 1/22.

मार्ग	माधुर्य	प्रसाद	लावण्य	आभिजात्य
सुकुमार[1]	असमस्त (दीर्घ समास का अभाव), मनोहर अर्थात् शब्दतः श्रुति-रम्य तथा अर्थतः हृदयाह्लादक पद-विन्यास अर्थात् सुबंत तिड़न्त के सन्निवेश का वैचित्र्य।	अक्लिष्टता, सद्यः अर्थप्रदान में सक्षमता, प्रसिद्धार्थ-प्रतिपादकता, स्पष्टार्थक समास-युक्तता	वर्णविन्यास-वैचित्र्य, विच्छित्ति, शोभा, शब्द और अर्थ के सौकुमार्य से सुंदर रचना-सौष्ठव।	श्रुतिमृदुल, कोमल, मसृण स्पर्श से चित्त को द्रवित करने वाले पद, सहज, अकृत्रिम विन्यास।
विचित्र[2]	वैदग्ध्य प्रदर्शक, शैथिल्य से रहित बंधरचना।	असमस्त, किंचित्, ओजोन्मुख पद-न्यास। परस्पर अन्वित पदों की तरह परस्पर अन्वित तथा ग्रथित वाक्य।	अलुप्त, विसर्गान्त तथा संयुक्ता-क्षर के पूर्व लघुवर्ण का विन्यास।	अतिमाधुर्य तथा अतिकाठिन्य से रहित प्रौढ़ बंध।
मध्यम[3]	उभयमार्गी मध्यमवृत्ति	उभयमार्गी मध्यमवृत्ति	उभयमार्गी मध्यमवृत्ति	उभयमार्गी मध्यमवृत्ति

मार्ग के प्रस्थानबिन्दु से देखें तो निश्चय ही कुंतक की गुणधारणा मार्गानुसारी प्रतीत होगी, लेकिन इसी को यदि 'गुण' के प्रस्थानबिंदु से देखा जाय तो डॉ० विजेन्द्र की धारणा पुष्ट होगी कि कुंतक ने गुणों के अनुरूप मार्गों के अनुसरण की बात कही है। लेकिन जैसा कि हमने पहले ही स्पष्ट किया है, कुंतक गुण, मार्ग आदि की व्याख्या कविस्वभाव के प्रस्थानबिंदु से करते हैं। काव्यबंध कविस्वभाव तथा उसकी काव्यक्रिया अर्थात् रचनाप्रक्रिया का ही प्रतिफलित रूप है और इस 'बंध' के कुंतक सम्मत दो ही गुण हैं सौभाग्य और लावण्य। साधारणगुण के अंतर्गत सौभाग्य और औचित्य विवेचित हैं। साधारणगुण के विवेचनक्रम में लावण्य की

1. वक्रोक्तिकाव्यजीवित, 1/25-33.
2. उपरिवत्, 1/34-48.
3. उपरिवत् 1/49-52 तथा वृत्ति.।

चर्चा नहीं आयी है, किन्तु अन्यत्र विवेचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि कुंतकसम्मत 'लावण्य' की इयत्ता उतनी ही नहीं हैं, जितनी मार्गविवेचन के दौरान चर्चित है। अतः कुंतकसम्मत बंध-अवधारणा की दृष्टि से औचित्य, सौभाग्य और लावण्य तीनों विवेच्य होंगे :—

औचित्य : स्वभावानुरूप उचित वर्णन से युक्त वह गुणप्रकार, जिससे पदार्थ का महत्त्व स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हो औचित्यगुण है। 'प्रकार' से प्रस्तुत प्रसंग में कुन्तक का तात्पर्य अभिधावैचित्र्य ही है—प्रकारेणेति प्रस्तुतत्वादभिधावैचित्र्यमत्र (वक्र० जी०, पृ० 157)। कुन्तक यह भी मानते हैं कि स्वभाव का स्पष्ट रूप से परिपोषण ही वक्रता का परम रहस्य है, क्योंकि उचित रूप से कथन ही वक्रता का जीवनस्वरूप है, बंध के किसी भी अंश (पद, वाक्य, रचना) में औचित्य के अभाव रहने पर सहृदयाह्लादकारित्व की हानि होती है—स्वभावस्याञ्जसेन प्रकारेण परिपोषणमेव वक्रतायाः परं रहस्यम्। उचिताभिधानजीवितत्वाद् वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः (व०जी०, पृ० 163)।

औचित्यगुण की उपर्युक्त धारणा में ही स्वाभावोक्ति का कुन्तक के प्रत्याख्यान का स्वारस्य निहित है। वस्तुधर्म का स्वाभाविक कथन ही स्वाभावोक्ति है। कुन्तक इसे अलंकार मानने को तैयार नहीं, क्योंकि वस्तुधर्म का स्वाभाविक कथन वर्ण्य है, कविकर्मकौशल अथवा वैदग्ध्यभंगीजनित अलकार नहीं। लेकिन इसी वस्तुधर्म के स्वभाव के परिपोषण को कुन्तक औचित्यगुण के रूप में स्वीकार करते हैं, जो त्रितयमार्गी बंधों की वक्रता का प्राणरूप है। स्पष्ट है कि कुन्तक स्वाभावोक्ति की महत्ता से इनकार नहीं करते, स्वभाव के परिपोषण के बगैर वक्रता का अस्तित्व ही सम्भव नहीं, कुन्तक इससे सहमत हैं, इसीलिए वे इस बात पर भी बल देते हैं कि स्वाभावोक्ति वैदग्ध्यभंगी भणिति के एक प्रकार (अलंकार) के रूप में मान्य नहीं हो सकती। कारण स्पष्ट है—वस्तुधर्म का स्वभाव आधारभूत सामग्री है और उसका 'परिपोषण' वैदग्ध्यभंगी भणिति या वक्रता। आधारभूत सामग्री का महत्त्व अपनी जगह अक्षुण्ण है और उसकी सहज प्रस्तुति के सौन्दर्य को कुन्तक वाच्यवैचित्र्य के रूप में स्वीकार भी करते हैं—अलंकार कोटि की अलंकार्यप्रस्तुति के रूप में, किन्तु उसे रूपकादि अर्थालंकारों की कोटि में मानने को वे तैयार नहीं। हाँ, वे यह छूट अवश्य देते हैं कि यदि कोई चाहे तो इसे लाक्षणिक रूप से अलंकार कह सकता है।[1] यह स्थिति भी सातिशय औचित्य के कारण ही आएगी।

---

1. यदि वा प्रस्तुतौचित्यमाहात्म्यान्मुख्यतया भावस्वभावः सातिशयत्वेन वर्ण्यमानः स्वमहिम्ना भूषणान्तरासहिष्णुः स्वमेव शोभातिशयशालित्वादलङ्कार्योऽप्यलङ्कारणमित्यभिधीयते तदयमास्माकीन एव पक्षः। —व० जी०, पृ० 304.

वस्तुत: इस प्रश्न को 'वस्तु' और 'काव्यवस्तु' में निहित भेद के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। कुन्तक वस्तुधर्म के यथावत् कथन को अलंकारकोटि में मानने का विरोध करते हैं। उसी वस्तुधर्म की काव्यवस्तुरूप प्रस्तुति सातिशय औचित्य के कारण ही सम्भव होगी और तब ऐसी प्रस्तुति वस्तुत: वस्तुस्वभाव का यथावत् कथन नहीं विदग्धरचना होगी। स्वाभावोक्ति का प्रसिद्ध उदाहरण है महाकवि बिहारी का यह दोहा :

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यही बानक मो मन बसो, सदा बिहारी लाल॥

उपर्युक्त दोहा निश्चय ही वस्तुधर्म का यथावत् वक्तव्यमात्र नहीं, बल्कि वस्तु की सातिशय औचित्य से युक्त प्रस्तुति है। कुन्तक का ऐसी स्वाभवोक्ति से कोई विरोध नहीं।

सौभाग्य : 'सौभाग्य' का अर्थ है कवि की प्रतिभा के प्रभाव से (वाच्य-वाचक में) उत्पन्न चेतनता और चमत्कार।[1] यों शब्द स्वयं चेतनशील है, किन्तु वह चेतनता काष्ठ में अग्नि के सदृश अन्तर्निहित होती है। उसे सक्रिय करने के लिए प्रयोग-प्रयत्न जरूरी है। काव्यसंदर्भ में यह प्रयोग-प्रयत्न प्रातिभ होना चाहिए। प्रतिभा-संरम्भ के कारण शब्द की अन्तर्निहित चेतनता सक्रिय हो ज ती है।

चेतनता के सक्रिय होने का फलरूप है—सर्जनशीलता। इस सर्जनशीलता का पहला लक्षण है वाच्य-वाचक के भीतर कुछ अपूर्व वक्रता का स्फुरण[2] और अन्तत: काव्यसर्जन। यह 'सौभाग्य' गुण का कवि एवं काव्यपक्ष है।

चेतन-चमत्कारित्व लक्षणसम्पन्न सौभाग्यगुण का सहृदयपक्ष यह है कि इसके कारण सहृदय की चेतनता भी सक्रिय हो उठती है। सहृदय की चेतनता 'मन:सम्वाद' के रूप में सक्रिय होती है। मन:सम्वाद से तात्पर्य है हृदयसंवेदन और हृदयसंवेदन की व्याख्या करते हुए कुन्तक ने कहा—स्वानुभव गोचरतया प्रतिभास: (व० जी० 1/26 वृत्ति, पृ० 111)। सहृदय अपने ही अनुभवों का मानो साक्षात्कार करने लगता है। काव्य के अर्थग्रहण, बिम्बग्रहण, रसास्वाद, सह-अनुभूति

1. सौभाग्यं प्रतिभासंरम्भफलभूतं चेतनचमत्कारित्वलक्षणम्। —व० जी० 1/22 वृत्ति, पृ० 95,
2. प्रतिभाप्रथमोद्‌भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्त: स्फुरतीव विभाव्यते॥ —व० जी० 1/34,.

(डॉ० जगदीश गुप्त)[1], सम्वाद (विजय देवनारायण साही)[2], आभ्यंतरीकरण और सृजन (मुक्तिबोध)[3] आदि का रहस्य कुन्तक के 'मनःसंवादो हृदयसंवेदन स्वानुभवगोचरतया प्रतिभासः' सूत्र से खुल जाता है।

कविप्रतिभा के संस्पर्श से शब्द की सक्रिय चेतनता तथा सर्जनशीलता को ही कुन्तक ने सौभाग्य गुण कहा है।

लावण्य : लावण्य से कुन्तक का अभिमत है सौन्दर्यसन्निवेश—लावण्यं सन्निवेशसौन्दर्यम् (व० जी०, पृ० 95)। लावण्य रचनासौन्दर्य का पर्याय है, जो पदार्थों की अपेक्षा नहीं रखता, श्रवणमात्र से ही हृदयकारी होता है।[4] जाहिर है कि कुन्तक ने लावण्य से प्रायः वही अर्थ लिया है जो आचार्य वामन के 'विशिष्टापदरचना' सूत्र का अभिमत है।

'लावण्य' का पारिभाषिक प्रयोग आनन्दवर्धन ने भी किया है, प्रतीयमान अर्थ के स्वरूप-विश्लेषण के क्रम में—ललनाओं में प्रसिद्ध अवयवों के अतिरिक्त जैसे लावण्य होता है, वैसे ही काव्यांगों से अतिरिक्त काव्य में प्रतीयमान अर्थ होता है। कुन्तक ने यह प्रश्न उठाया है कि आनन्दवर्धन के अभिमत में लावण्य और प्रतीयमान अपने-अपने संदर्भ में यद्यपि समानार्थी हैं, फिर भी वैसा कैसे माना जा सकता है? इसी से जुड़ा दूसरा सवाल है कि आनन्दवर्धन का उपर्युक्त अभिमत यदि मान्य हो तो लावण्य को रचनासौंदर्य कैसे माना जाएगा? कुन्तक का पक्ष यह है कि 'लावण्य' और 'प्रतीयमान' दोनों एक चीज नहीं हैं; क्योंकि ललनाओं के प्रसिद्धावयवों से अतिरिक्त लावण्य तो सर्वजनआह्लादक है; जबकि काव्य का प्रतीयमान अर्थ सिर्फ सहृदय-संवेद्य है। तात्पर्य यह है कि ललनाओं का लावण्य सभी को आकर्षित-प्रभावित कर सकता है, करता है; जबकि काव्य का प्रतीयमान अर्थ सभी को नहीं, सिर्फ विशिष्ट लोगों (सहृदय) को ही आकर्षित-प्रभावित करता है। अतः काव्यगत प्रतीयमान का समानार्थी, ललनाओं के संदर्भ में, कुछ और ही है। यह 'कुछ और' कुन्तक के अनुसार कामिनियों का सौभाग्य है, जिसका उचित उपयोग

1. नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ, पृ० 94.
2. लघु मानव के बहाने हिन्दी-कविता पर एक बहस, नई कविता, 5-6, पृ० 112.
3 नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, 'काव्य की रचनाप्रक्रिया' शीर्षक निबन्ध।
4. तच्च बन्धसौन्दर्यमेवाव्युत्पन्नपदपदार्थानामपि श्रवणमात्रेणैव हृदयहारित्वस्पर्धया व्यपदिश्यते। —व० जी०, पृ० 124.

नायक ही कर पाता है। यहीं दूसरे प्रश्न का उत्तर भी मिलता है कि जैसे कामिनियों का 'लावण्य' उनके अवयवों तथा व्यक्तित्व के संघटन से उत्पन्न अतिरिक्त, सर्वजन-सुलभ एवं आह्लादकारक सौंदर्य है, उसीप्रकार काव्य का लावण्य भी उसका वर्णादि विन्यासजन्य सौंदर्य है जो श्रवणमात्र से सभी को आकर्षित-प्रभावित करता है। अतः लावण्य बंध अथवा रचना के सौंदर्य का पर्याय है, यह मानने में कोई कठिनाई नहीं। इसप्रकार सत्कवि का सकल लोकगोचर वाणीसौंदर्य ही लावण्य है।[1] दूसरे शब्दों में कुन्तक का 'लावण्य' श्रव्य (sound pattern) एवं दृश्य (image) दोनों है।

निश्चय ही 'लावण्य' की कुन्तकसम्मत पारिभाषिकता—वर्णविन्यास-विच्छित्तिविहित लावण्यगुणसम्पदः (व०जी०, पृ० 26) अर्थात् वर्णविन्यास की विच्छित्ति (सौंदर्य) से प्राप्य काव्य की गुणसंपदा, काव्य के वस्तुसौंदर्य का अधिक स्पष्ट, सही और असंदिग्ध आकलन है।

इसप्रकार काव्यबंध के कुन्तकसम्मत तीन अपरिहार्य गुण हैं—औचित्य अर्थात् सातिशय वस्तुधर्म अथवा अभिधावैचित्र्य (परिपुष्ट वस्तुस्वभाव), सौभाग्य अर्थात् सर्जनशीलता तथा लावण्य अर्थात् सौशब्द्य अथवा रचनासौन्दर्य। शेष माधुर्यादि वैकल्पिक गुण हैं जो मार्गानुसार संयोजित होंगे। अबतक काव्यगुण शब्द अथवा शब्दार्थसंदर्भ में विवेचित हुए थे, यह पहला मौका था कि जब गुणों के सहजात एवं वैकल्पिक प्रकारों के स्पष्ट विश्लेषण का प्रयत्न हुआ। सहजात गुण काव्यभाषा तथा काव्यवस्तु के ऐसे संघटक तत्त्व हैं कि जिनके बगैर काव्य की

---

1. ननु च कैश्चित् प्रतीयमानं वस्तु ललनालावण्यसाम्याल्लावण्यमित्युपपादितम् इति।... तत्कथं बन्धसौंदर्यमात्रं लावण्यमित्यभिधीयते ? नैष दोषः, यस्मादनेन दृष्टान्तेन वाच्यवाचकलक्षणप्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तत्वेनास्तित्वमात्रं साध्यते प्रतीयमानस्य, न पुनः सकललोकलोचनसंवेद्यस्य ललनालावण्यस्य, सहृदय-हृदयानामेव संवेद्यं सत् प्रतीयमानं समीकर्तुं पार्यते।

तच्च बन्धसौंदर्यमेवाव्युत्पन्नपदपदार्थानामपि श्रवणमात्रेणैव हृदयहारित्वस्पर्धया व्यपदिश्यते। प्रतियमानं पुनः काव्यपरमार्थज्ञानामेवानुभवगोचरतां प्रतिपद्यते। यथा कामिनीनां किमपि सौभाग्यं तदुपभोगोचितानां नायकानामेव संवेद्यतामर्हति। लावण्यं पुनः तासामेव सत्कविगिरामिव सौन्दर्यं सकललोकगोचरताम्।

—व० जी०, पृ० 122–124.

कल्पना ही नहीं की जा सकती। कुन्तक के पूर्वविवेचित माधुर्य आदि गुण मार्ग सापेक्ष एवं वैकल्पिक हैं, जो काव्यभाषा को भावानुकूल रूप भर देते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो कुन्तकसम्मत विशिष्टगुण काव्य के उपस्कारक तत्त्व हैं, अपरिहार्य अस्तित्ववाची गुण नहीं।

4.5.4. (i) कुन्तक ने अलंकार की मूलप्रकृति को व्याख्यायित किया है, 'सालङ्कारस्य काव्यता' सूत्र (व० जी० 1/6) के माध्यम से। कुन्तक का पक्ष यह है कि अलंकार और अलंकार्य का पृथक् विवेचन तात्त्विक नहीं, बल्कि उपचारमात्र है। विवेचनसौकर्य के कारण ही ये भेद किये जाते हैं; जबकि तात्विक स्थिति यह है कि अलंकार, अलंकार्य और काव्य में कोई अन्तर नहीं। अलंकृति का अर्थ अलंकार है और जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय वह भी अलंकार है। जिसे अलंकृत किया जाय उसे अलंकार्य कहा जाता है अर्थात् वाच्य एवं वाचक। काव्य में सामान्य वाच्य-वाचक भाव से काम नहीं चलता, यह हम देख आए हैं। कुन्तक के अनुसार काव्यगत वाचकत्व उसी शब्द में है जो कविविवक्षित विशेष अर्थ को व्यंजित कर सकने में समर्थ हो– कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम् (वा० जी० 1/9 वृत्ति)। उसीप्रकार काव्यगत 'वाच्यत्व' का अर्थ सहज, सुन्दर तथा सहृद्याह्लदक होना है—"सहृद्याह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः" (व० जी० 1/9 वृत्ति)। अतः कुन्तकसम्मत अलंकार्य के दो पक्ष हैं : कविविवक्षित विशेष अर्थ का व्यंजक 'वाचक' तथा उससे व्यजित सहृदयाह्लादक 'वाच्य'। ऐसे अलंकार्य की अलंकृति ही वैदग्ध्यभङ्गीभणिति वक्रोक्ति है।[1] वैदग्ध्यभङ्गीभणिति से कुन्तक का मंतव्य है कविकर्मकौशलविच्छित्ति। दूसरी तरफ काव्यगत विशिष्ट 'अलंकार्य' भी कविप्रतिभा की देन है, वार्ता काव्यगत अलंकार्य नहीं हो सकती, इसी अर्थ में कुन्तक ने स्वाभावोक्ति का प्रत्याख्यान भी किया है। अतः 'सालंङ्कारस्य काव्यता' का पहला सिद्धिसूत्र इस प्रकार बनता है।

कविप्रतिभा→ विशिष्ट अलंकार्य + कविकर्मकौशलविच्छित्ति→ काव्यता

(ii) 'सालङ्कारस्य काव्यता' की सिद्धि का एक दूसरा विकल्प भी है। कुन्तक इस बात को मानते हैं कि काव्याभिव्यक्ति अखंड है। उसके अन्तर्निहित तत्त्वों का पृथक् विवेचन उपचार मात्र है, ठीक वैसे ही जैसे वाक्यगत पद और वर्ण की अवयवरूप पृथक् सत्ता नहीं होने पर भी शास्त्र में उनका पृथक् विवेचन होता है (व० जी० 1/6 वृत्ति)। कुन्तक का पक्ष यह है कि कि वाच्य, वाचक, अलंकार, गुण

---

1. उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥ —व० जी०, 1/10.

आदि के संयोजन में, कवि भिन्न-भिन्न क्षणों में, भिन्न-भिन्न लाघव से प्रयत्नशील नहीं होता। प्रतिभासंरम्भ के साथ ही कविकर्मत्व अथवा काव्यसर्जना की प्रक्रिया चलती है। इस काव्यसर्जना प्रक्रिया में अलंकार–अलंकार्य का भेद नहीं होता, जो भी है वह अखण्ड, सम्पूर्ण एवं अवयवरहित है और यही काव्यता है। कविकर्मकौशल-विच्छित्ति का भाषिकरूप अलंकृत काव्यत्व है। अतः कुन्तक का स्पष्ट मत है कि काव्य में अलंकार का योग नहीं होता अर्थात् अलंकार कोई पृथक् वस्तु नहीं,[1] बल्कि वह कवि प्रतिभोद्भिन्न शब्द और अर्थ में अपूर्व सौन्दर्य, चारुत्व, विच्छित्ति किंवा वक्रता का ही प्रसार है।[2]

(iii) 'सालंकारस्य काव्यता' की सिद्धि का तीसरा विकल्प है, अन्य काव्य-तत्त्वों की अपेक्षा अलंकृति का कविकर्म के विशिष्ट फलरूप होना। कुन्तक काव्य के रसाक्षिप्त होने के आग्रही हैं। रस से उनका कोई विरोध नहीं; सुकुमारमार्गीय काव्य को 'रसादिपरमार्थज्ञमनःसम्वाद सुन्दरः' (व० जी० 1/26) होना अनिवार्य है तो विचित्रमार्गीय काव्य को भी 'स्वभावः सरसाकूतो भावानां' (व० जी० 1/41) से युक्त होना है। अचेतन पदार्थ भी काव्य में रसोपकारक रूप में ही स्वीकृत होंगे।[3]

इन सब के बावजूद कुन्तक का निश्चित मत है कि यद्यपि रस, स्वभाव तथा अलंकार सब के सौन्दर्य का प्राण कविकौशल है, किन्तु कविकौशलविच्छित्ति का सही क्षेत्र अलंकार ही है, क्योंकि कविकौशल के बिना अलंकृति आती ही नहीं।[4]

रसवत् अलंकार के विवेचन में भी इसीलिए कुन्तक ने भिन्न स्थापना दी है। भामह, दण्डी, उद्भट आदि का पक्ष यह है कि रस का (काव्य में) स्पृष्ट तथा

---

1. सालङ्कारस्यालङ्करणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वम्। तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोग इति। व० जी०, 1/6, वृत्ति।
2. विचित्रमार्ग का प्रसंग :—
प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ॥, व० जी० 1/34.
3. रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरम् ।
चेतनानाममुख्यानां जडानां चापि भूयसा ॥ व० जी० 3/8.
4. हि० व० जी०, 3/4 की वृत्ति, पृ० 318.

दृष्ट मात्र होना (भामह, काव्या० 3/6; उद्भट); स्वशब्द, स्थायीभाव, संचारिभाव, विभाव, अनुभाव में रस का मात्र स्पर्श अथवा दर्शन (उद्भट, का. सारसंग्रह 4/4) होना अथवा काव्य में रस का संश्रय होना (दण्डी, काव्यादर्श 2/280) रसवत् अलंकार है। कुन्तक ने अनेक युक्तियों से इनका खण्डन किया है। उनका निष्कर्ष यह है कि रसवत् अलंकार हो सकता है, किन्तु उस रूप में नहीं जैसा कि भामह, दण्डी, उद्भटादि ने बतलाया है; बल्कि इस रूप में कि रसतत्त्व के विधान तथा आग्रह से उपमादि अलंकार भी सहृदय के लिए 'रसवत्' आह्लादकारक हो जाते हैं।[1] स्पष्ट ही कुन्तक के मत में रस का अलंकारत्व नहीं, बल्कि अलंकार का रसत्व अभिप्रेत है। इसी रूप में रसवत्, अलंकार का प्राणरूप एवं काव्य का साररूप है। इस विकल्प में 'सालंकारस्य काव्यता' की सिद्धि रसत्वविधान की दृष्टि से हुई है।

4·5·5. गुण और अलंकार के उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में कुंतक की बंध-अवधारणा का विश्लेषण अपेक्षित है। बंध की व्याख्या करते हुए कुंतक ने कहा है कि यह वाच्य तथा वाचक के सौभाग्य तथा लावण्य के परिपोषक व्यापार से युक्त वाक्य-विन्यास बंध रचना है[2], जिसके चार तत्त्व हैं :

आधारतत्त्व : वाच्य—सहृदयहृदयालाद्कारी स्वस्पन्द सुंदर
वाचक—कविविपक्षित वाच्य की अभिव्यंजना में समर्थ शब्द

पोषक तत्त्व : सौभाग्य—सक्रिय, सजीव, चेतन एवं सर्जनशील शब्द
लावण्य—वर्णविन्यासविच्छित्ति, सौशब्द्य
औचित्य—सातिशय वस्तुधर्म अथवा अभिधावैचित्र्य (परिपुष्ट वस्तुस्वभाव), यह पोषण की आधारशिला है।

व्यापार तत्त्व : वाच्य-वाचक तथा गुणालंकार का परस्परस्पर्धित्व, सालंकारस्य काव्यता, तथा

विन्यास तत्त्व : वक्रता, वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यं (व०जी०, 1/21 वृत्ति)।
काव्यबंध के उपर्युक्त तत्त्व सर्जना की दृष्टि से कविव्यापार तथा अभिप्रेरणा की दृष्टि से कविप्रतिभा के आश्रित हैं।

---

1. रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः।
योऽलङ्कारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः॥ व० जी०, 3/15.

2. वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते॥, व० जी०, 1/22.

मार्गविवेचन

4·5·6. काव्यमार्ग को कुंतक ने कविप्रस्थानहेतु कहा है—मार्गा: कविप्रस्थानहेतव: (व० जी० 1/24)। प्रस्थान का अर्थ है प्रवर्तन, अतः कविप्रस्थान का अर्थ होगा काव्यरचना की प्रवृत्ति। कुंतक का पक्ष यह है कि कवि अपने स्वभाव अथवा आत्मभाव के अनुकूल ही काव्यरचना में प्रवृत्त होता है। काव्यरचना का बीज प्रतिभा है, कुंतक इसे स्वीकार करते हैं, किंतु इस प्रतिभा का स्फुरण भी कवि के आत्मभाव के अनुकूल ही होगा; इसीलिए वे कविस्वभाव के भेदानुसार ही काव्यमार्ग अथवा काव्यप्रस्थान मानने के आग्रही हैं। वे इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि कविस्वभाव को वर्गीकृत अथवा परिगणित नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्वभाव व्यक्तिशः ही सिद्ध होता है, फिर भी मोटेतौर पर तीन भेद उन्हें मान्य हैं—सुकुमार, विचित्र और उभय। इन कविप्रस्थान आश्रित काव्यरचना अथवा काव्यमार्गों में पारस्परिक श्रेष्ठता की धारणा को भी कुंतक स्वीकार नहीं करते। कुंतक का पक्ष यह है कि उपर्युक्त तीनों प्रकार की काव्यरचना रमणीय हैं, अन्तर सिर्फ रमणीयता के वैशिष्ट्य में हैं। ऐसा इसलिए है कि "अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत चित्त वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास होता है। और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभाव की अभिव्यक्ति द्वारा ही सफलता प्राप्त करते हैं। स्वभाव से ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास उत्पन्न होते हैं और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से स्वभाव परिपुष्ट होता है। यह स्थिति चेतन ही नहीं अचेतन पदार्थों के साथ भी है, जैसे चंद्रकांत मणि चंद्रकिरण के स्पर्शमात्र से स्वभावतः जलप्रवाहित करने लगती है।"[1] मार्गत्रय की विशिष्ट रमणीयता का संबंध काव्य के निजी व्यक्तित्व अथवा अंतर्बाह्य संघटना एवं संरचना से है, जिसका सर्जन कवि का स्वभाव अथवा आत्मभाव करता है। स्पष्ट है कि कुंतक ने 'स्वभाव' का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। कविस्वभाव के कारण किस रूप में काव्य की अंतर्बाह्य संघटना एवं संरचना का वैशिष्ट्य सर्जित होता है, यही कुंतक का विवेच्य-

---

1. '···सर्वस्य कस्यचिदनादिवासनाभ्यासाधिवासितचेतसः स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्त्यभ्यासौ प्रवर्तते। तौ च स्वभावाभिव्यञ्जनेनैव साफल्यं भजतः। स्वभावस्य तयोश्च परस्परमुपकार्योपकारकभावेनावस्थानात्, स्वभावस्तावारभते तौ च तत्परिपोषमातनुतः। तथा चाचेतनानामपि भावः स्वभावसवादिभावान्तरसन्निधानमाहात्म्यादभिव्यक्तिमासादयति, यथाचन्द्रकान्तमणयश्चन्द्रमसः करपरामशवशेन स्यन्दमानसहजरसप्रसाराःसम्पद्यन्ते। —व० जी० पृ० 103.

विषय है। आधुनिक शब्दावली में कुंतक का विवेच्य विषय है कवि के आत्मभाव का भाषिक रूपान्तरण एवं रूपवैशिष्ट्य।

4·5·6. मार्गत्रय के स्वरूपविवेचन में कुंतक ने आत्मभाव तथा उसके भाषिक रूपान्तरण के समंजन का प्रामाणिक विश्लेषण किया है--

सुकुमारमार्ग

पहला प्रश्न है कि सौकुमार्य क्या है? कुंतक ने रूपक बाँधते हुए कहा कि यह काव्यमार्ग खिले हुए कुसुमकानन की तरह है और उस मार्ग से गुजरने वाले कविगण मकरंदप्रिय भ्रमरों के सदृश हैं। पुष्पोद्यान से मसृणता, सुवास तथा अभिजात्य का बोध होता है और भ्रमर से कवि की तत्त्वसंग्राहक स्वभावता का। अतः सुकुमारमार्ग वस्तुतः आभिजात तत्त्व से युक्त काव्यमार्ग है--सौकुमार्यमाभिजात्यं (व० जी० 1/29 वृत्ति)।

अभिजात काव्यबंध के रमणीयतावैशिष्ट्य को स्पष्ट करते हुए कुंतक ने वस्तुतः आत्मभाव के भाषिक रूपान्तरण के स्वरूप का उद्घाटन किया है।[1]

(i) अनादि वासना से संस्कृत एवं प्रौढ़ प्रतिभा से, स्वतः प्रस्फुटित नवांकुर के सदृश, सहज एवं सुन्दर शब्दार्थप्रयोग,

(ii) सहज एवं अयत्नज अलंकृति,

(iii) सहज, सातिशय वर्णना,

(iv) सहृदय में मनःसम्वाद तथा स्वानुभावगोचरता उत्पन्न कर सकने में समर्थ विन्यास,

(v) अविभावित अर्थात् अनायास रचना, रमणीयक तथा सहृदयरंजक पदादि स्थिति,

(vi) सहज सर्जनशीलता तथा वैदग्ध्यपूर्णता,

(vii) कवि की प्रतिभा से सम्भव समस्त वैचित्र्य, सौन्दर्य तथा वक्रता से युक्त सहृदयहृदयाह्लादकारी वाक्यविन्यास।

वस्तुतः सुकुमारमार्गीय काव्यरचना, अभिजात प्रकृति के कवि के आत्मभाव की भाषिक अभिव्यक्ति है। कवि तथा उसकी रचना का यह अभिजात रूप

---

1. व० जी०, 1/25-29 तथा वृत्ति।

कृत्रिम अथवा प्रयत्नज नहीं, बल्कि स्वाभाविक मसृणता तथा कांति से युक्त होता है, कुन्तक बनावटी कोमलता के पक्षधर नहीं। आभिजात्य तत्त्व की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा भी है—यतः स्वभावमसृणच्छायं अहार्यश्लक्षणकान्ति यत्, तदाभिजात्यं कथयीन्तः। व० जी० 1/33, वृत्ति।

विचित्रमार्ग

सुकुमारमार्ग कवि को कुन्तक ने, विकसित पुष्पोद्यान से भ्रमरसदृश गुंजरने वाला कवि कहा था। जाहिर है कि वहाँ कुन्तक ने सरसता की बात की है। विचित्रमार्गी कवि को खड्गधारा पर चलने के मनोरथ से युक्त वीरों के सदृश कहा गया है।[1] खड्गधार पर चलना जैसे कठिन ही नहीं विशिष्ट वीरदर्प, कौशल तथा सावधानी की अपेक्षा रखता है, वैसे ही काव्य का विचित्रमार्ग भी अपेक्षाकृत कठिन है; क्योंकि यहाँ चमत्कार एवं वक्रता विशेष होती है।

'वैचित्र्य' से कुन्तक का तात्पर्य 'वक्रोक्तिवैचित्र्य' है। एक तो 'वक्रोक्ति' दूसरे उसका भी 'वैचित्र्य'। स्पष्ट है कि कुन्तक काव्यसर्जना के अतिशय चमत्कारीरूप को व्याख्यायित करना चाह रहे हैं। काव्यसर्जना के वक्रोक्तिवैचित्र्य की दो पहचान कुन्तक बतलाते हैं।

(i) प्रतिभा के प्रथम उन्मेष में ही शब्द और अर्थ के भीतर से स्फुरित होती हुई वक्रता[2] तथा

(ii) स्वरूपवत् अनुप्रविष्ट अतिशय अभिधा अर्थात् अर्थबोधकत्व शक्ति।[3] उपर्युक्त दोनों पहचान वस्तुतः रचना की भाषिक सामर्थ्य की पहचान है। अतिशय अर्थवान्, चमत्कृति तथा अन्तर्निहित सौन्दर्ययोगी शब्दप्रयोग, ये विचित्रमार्गी काव्य रचना की अनिवार्यताएँ हैं। यहाँ यह भ्रम हो सकता है कि कुन्तक काव्यरचना में सायास बनावट-सजावट के आग्रही हैं। दरअसल ऐसा है नहीं।

इस समस्त वक्रोक्तिवैचित्र्य के लिए कुन्तक ने दो शर्तें रखी हैं। एक तो यह कि वह सबकुछ प्रतिभावान् कवि की प्रतिभा के प्रथम विलास में ही होना है। व्युत्पत्ति-

---

1. व० जी०, 1/43.
2. प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
   शब्दाभिदेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ॥ व० जी०, 1/34.
3. विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
   परिस्फुरित यस्यान्तः सा काव्यतिशयाभिधा ॥, व० जी०, 1/42.

जन्य वक्रोक्तिवैचित्र्य को कुन्तक नहीं मानते—'प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता' का यही स्वारस्य है। दूसरी शर्त यह है कि कवि की भाषिक सर्जना अतिशय अभिधा (अर्थबोधकत्व) तथा सौन्दर्यशाली होगी अवश्य किन्तु वह अतिशय तथा सौन्दर्य बाहर की मीनाकारी नहीं बल्कि शब्द में अनुप्रविष्ट होंगे; जैसे विधाता की सृष्टि का सौन्दर्य तथा उन्मुक्त आतिशय कृत्रिम नहीं है: वैसे ही कवि की काव्यसर्जना का सौन्दर्य, अतिशय तथा अलौकिकरूप बनावटी नहीं स्वतःस्फूर्त होंगे—यस्यान्तः स्वरूपानुप्रवेशेन सा काप्यलौकिकातिशयोक्तिः परिस्फुरति भ्राजते (व० जी०, 1/42, वृत्ति)। स्पष्ट है कि कुन्तकसम्मत वक्रोक्तिवैचित्र्य कृत्रिमता, बनावट अथवा दूर की कौड़ी का पर्याय नहीं कविप्रतिभा तथा शब्द के सहज योगक्षेम से स्फुरित सौंदर्य का व्यंजक है।

कविप्रतिभा तथा शब्द के इसी सहज योगक्षेम के आधार पर कुन्तक ने वक्रोक्तिवैचित्र्य के अनेक रूपान्तरण की चर्चा की है।

(क) वक्रोक्तिवैचित्र्य मूलतः अप्रस्तुतयोजनागत चमत्कार के आश्रित है। कवि एक ही अलंकार के प्रयोग से सतुष्ट नहीं होता, बल्कि एक अलंकार को और भी अलंकृत तथा संपुष्ट करने के लिए अलंकारों की झड़ी लगा देता है। (व० जी०, 1/35)। लेकिन ये भारवत् नहीं होते, बल्कि इनसे मूल अलंकार और भी सुशोभित तथा अलंकार्य का अन्तर्निहित सौन्दर्य उद्घाटित होता है। अलंकारयोजना शोभा के लिए होती है, अलंकारछटा दिखलाने के लिए नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि अलंकार-अलंकार्य का सौन्दर्य परस्पर अनुप्रविष्ट सा प्रतीत होता है। (व० जी० 1/36, 37) इसप्रकार, अलौकिक सौन्दर्यातिशय से युक्त अलंकार-रचना शब्द में निहित अपूर्व वक्रता को प्रकट करती है। स्पष्ट है कि कुन्तक सहज अलंकृतिजन्य वक्रता के पक्षधर हैं, वैचित्र्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा भी है—विचित्रस्य वैचित्र्यं नाम यदलौकिकच्छायातिशययोगित्वेन भूषणोपनिबन्धः कामपि वाक्यवक्रतामुन्मीलयति। (व० जी०, 1/36, 37, वृत्ति)। कुन्तक का पक्ष यह है कि अलंकार की सार्थकता अलंकार्य को अलंकृत करने में नहीं, बल्कि उसमें अन्तर्निहित वक्रता को उन्मीलित करने में है।

(ख) विचित्रमार्ग का दूसरा रूपान्तरण है—उक्तिवैचित्र्य अर्थात् विचित्र वर्णना। पूर्ववर्णित वस्तु में भी कवि उक्तिवैचित्र्य अथवा भणिति-

वैदग्ध्य के माध्यम से जहाँ लोकोत्तर अतिशय का नियोजन कर गुजरता है, वह भी विचित्र मार्ग का एक रूप है। वस्तुतः विचित्र-मार्ग का यह रूपान्तरण शब्दप्रयोग की महिमा को सम्पुष्ट करता है। शब्द को विशिष्ट एवं विदग्ध संदर्भ दे दिये जाने से वर्णना में अद्‌भुत चमत्कार आ जाता है। (व० जी० 1/38)

(ग) तीसरा रूपान्तरण है प्रतीतिवैचित्र्य। सामान्यधर्मी पदार्थ भी कवि प्रतिभा के संस्पर्श से, संदर्भ पाकर अतिशय चमत्कारयुक्त भिन्नप्रतीति का माध्यम बन जाते हैं। यह वस्तुतः अन्योक्ति का क्षेत्र है। (व० जी०, 1/39)

(घ) चतुर्थ रूपान्तरण है—प्रतीयमान वैचित्र्य। सामान्यतः वाच्यवाचक की वृत्ति अथवा शक्ति से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। कुन्तक का पक्ष यह है कि शब्दवृत्ति से अतिरिक्त कोई अन्य प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति प्रतीयमान वैचित्र्य है। यह प्रतीयमानता, कुन्तक की दृष्टि में व्यंग्यार्थ नहीं, बल्कि उसमें भी अन्तर्निहित व्यंग्यभूत अर्थ है। (व० जी०, 1/40)

(ङ) पाँचवा रूपान्तरण है–भाववैचित्र्य। भाव से तात्पर्य है समस्त पदार्थ रत्यादिमात्र नहीं—भाव शब्देन सर्वपदार्थोऽभिधीयते न रत्यादिरेव (व० जी०, पृ० 143)। पदार्थों के रसमय, रसप्रधान स्वरूप की वैदग्ध्यपूर्ण, हृदयदारी प्रस्तुति भाववैचित्र्य का क्षेत्र है। कविप्रतिभा यहाँ भाव अथवा पदार्थ के बाह्य रूप में ही उलझ कर नहीं रह जाती, बल्कि उसकी अन्तर्निहित सरसता का उन्मीलन, करती है। वैदग्ध्यपूर्ण अभिव्यक्ति के कारण उसमें कमनीय वैचित्र्य आ जाता है।[1] दरअसल यह भाव अथवा पदार्थ को रसमय संदर्भ दिये जाने की प्रक्रिया है, जिसमें शब्दचयन की महिमा उद्‌घाटित होती है।

समासतः यह विचित्रमार्ग कविस्वभाव के वैदग्ध्य अथवा कलाचातुर्य का परिणाम है। यह वैदग्ध्य सुकुमारमार्गी कवि में भी होगा ही, किन्तु वहाँ प्रधान दृष्टि रसास्वाद पर टिकी है। विचित्रमार्ग में प्रधानता वैचित्र्य किंवा वक्रोक्ति-वैचित्र्य की है। प्रकारांतर से सुकुमारमार्ग को क्रमशः रसध्वनि तथा अलंकारध्वनि

---

1. स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः ॥ व० जी० 1/41.

का पर्यायरूप कहा जा सकता है। अंतर सिर्फ इतना है कि जहाँ आन्दवर्धन का विवेचन आस्वादपक्ष से हुआ है, वहाँ कुंतक ने भाषिक संरचना-सामर्थ्य अथवा आस्वाद्यपक्ष से विवेचन किया है। "वक्रोक्ति प्राय: ध्वनि की वस्तुपरक परिकल्पना ही है।"[1] डॉ० नगेन्द्र की इस स्थापना की सार्थकता इसी संदर्भ में है।

मध्यममार्ग

सामान्यत: काव्यसर्जना की वैदग्ध्यभंगी के दो रूप ही हुए—सुकुमार तथा विचित्र, जो कविस्वभाव के दो मुख्य पक्षों—वक्रसरसता तथा वक्रोक्तिवैचित्र्य के फलरूप हैं। इन दोनों का समेकित रूप है मध्यममार्ग, जिसमें वक्रोक्तिवैचित्र्य तथा सौकुमार्यजन्य आभिजात्य का सम्मिश्रण होता है—वैचित्र्यं सौकुमार्यमाञ्च यत्र सङ्कीर्णतां गते। (व० जी०,1/49)। इस दृष्टि से अधिकांश कवि और काव्य मध्यममार्ग में आएँगे।

कुलमिलाकर कुंतक का मार्गविवेचन वस्तुत: काव्यभाषा के आभिजात्य, वक्रोक्तिवैचित्र्यमूलकता तथा उनके समेकित रूप तथा प्रयोग का ही विवेचन है।

वक्रता

4·5·7. (क) कुंतकसम्मत साहित्यविच्छित्ति को समझने का तीसरा सूत्र है वक्रता। पूर्वविवेचनों में हम देख चुके हैं कि 'वक्रता' से कुन्तक का तात्पर्य समस्त कविकर्मकौशल, काव्यसौंदर्य तथा लोकोत्तर सर्जना है। वैदग्ध्य की व्याख्या ही कुन्तक ने विधि (ब्रह्मा) की सर्जनात्मक शक्ति के रूप में की है। वे यह भी मानते हैं कि सृष्टिविधान की तरह काव्य भी कविसर्जना है, जिसमें उसके आत्मभाव का भाषिक रूपान्तरण होता है। कुन्तक ने अपना विवेचनक्षेत्र काव्यसृष्टि-विधान अर्थात् भाषिक रूपान्तरण की अंतर्बाह्य संघटना एवं संरचनासौंदर्य के उद्घाटन तक सीमित रखा है। 'वक्रता इसप्रकार काव्यसर्जना का मूल स्वरूप भी है, प्रक्रिया भी और सौंदर्य भी। मजे की बात यह है कि यह वक्रता कविस्वभाव का कोई आयातित तत्त्व नहीं, बल्कि कविस्वभाव ही है—सालंकारस्य काव्यता के संदर्भ में इसका विवेचन हम कर आये हैं। मार्गविवेचन के अवसर पर भी कुन्तक ने समस्त काव्यविच्छित्ति को सहज प्रतिभोद्भिन्न माना है। अतः जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि कुन्तक को 'दूर की कौड़ी लाने' के समर्थक होने का भ्रम नहीं होना चाहिए।

---

1. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित की भूमिका, पृ० 194.

(ख) यह तथ्य है कवि का आत्मभाव काव्य नहीं, क्योंकि काव्य सृष्टि है; आत्मभाव सृष्टि का हेतु है, संप्रेरक है, स्वयं सृष्टि नहीं। अज्ञेय की एक प्रसिद्ध काव्य-पंक्ति है—पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ। काव्य के संदर्भ में यह 'सन्नाटा बुनना' सर्जनप्रक्रिया का रूप है, स्वयंसृष्टि नहीं। 'सृष्टि' आत्मभाव तथा सर्जनप्रक्रिया का अभिव्यक्त रूप है, फलतः अभिव्यक्तरूप का कण-कण सौंदर्यविधायक होगा। ब्रह्माण्ड के कण-कण में सौंदर्य सन्निविष्ट है, उसीप्रकार काव्यसृष्टि के कण-कण में विच्छित्ति होगी। अणुओं तथा उनके विभिन्न समायोगी रूपान्तरणों का रूपसौंदर्य ही विधाता के आत्मभाव की ओर हमें ले जाता है, वैसे ही ध्वनियों तथा उनके विभिन्न समायोगी रूपान्तरणों की वक्रता ही हमें कवि के आत्मभाव की ओर आकृष्ट करती है। कुन्तक ने इसी दृष्टि से काव्यात्मक भाषा में अन्तर्निहित सौंदर्यतत्त्व की सूक्ष्म विवेचना की है। कवि का काव्यरचनारूप व्यापार किस प्रकार लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करेगा, कहा नहीं जा सकता, इसके अनन्त विकल्प एवं रूप हो सकते हैं, होते हैं फिर भी, विच्छित्तिविन्दु के स्थलों को सामान्यतःअभिज्ञापित (identify) किया जा सकता है। विच्छित्तिबिन्दु के ऐसे ही सामान्यतः अभिज्ञापित स्थल कुन्तक-सम्मत कविव्यापार की षट्विध वक्रता है।

ग. कविव्यापार की वक्रता के छह मुख्य प्रकारों का विवेचन-विश्लेषण कुंतक ने किया है। वे इस प्रकार हैं :

(i) वर्णविन्य सवक्रता, (ii) पदविन्यासवक्रता (iii) प्रत्ययवक्रता (iv) वाक्यवक्रता (v) प्रकरणवक्रता तथा (vi) प्रबंधवक्रता इनमें से प्रथम चार के अंतर्गत काव्यभाषा की सामर्थ्य एवं सौंदर्य का उद्घाटन किया गया है।

वर्णविन्यासवक्रता

काव्यभाषा की लघुतम इकाई 'वर्ण' और उसके विशिष्ट न्यसन तथा विशिष्ट न्यसन से उत्पन्न वक्रता वर्णविन्यासवक्रता है। इसके अंतर्गत कुंतक ने पूर्वाचार्यों द्वारा विवेचित अनुप्रास, रीति तथा बृत्ति को समाविष्ट कर लिया है। अनुप्रास के सारे प्रभेद वर्ण आवृत्ति में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। उद्भटसम्मत परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या वृत्तियाँ,[1] रुद्रटसम्मत मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता तथा भद्रा

---

1. शषाभ्यां रेफसंयोगैष्ट वर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्यात् ह्लह्व्ह्याद्यैश्च संयुता ॥
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिका बुधाः ॥
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्ति प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ॥
—काव्यालंकार सारसंग्रह एवं लघुवृत्ति, संपादक, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० 257-559.

वृत्तियाँ[1] एवं समस्त यमकप्रपंच वर्णविन्यासवक्रता में अन्तर्भुक्त कर लिए गये हैं।

प्रश्न यह है कि वर्णविन्यास क्या निसर्गतः वक्रतासंपन्न होंगे और क्या हर हालत में काव्योपयोगी भी? कुंतक का स्पष्ट मत है कि वैसा नहीं होता। वर्ण-विन्यास के वैचित्र्य वस्तुतः कवि के भावावेग के वाहक होते हैं। उनके प्रति किसी प्रकार का आग्रह वक्रता को नष्ट ही करेंगे पुष्ट नहीं। इसीलिए वर्णविन्यास की विच्छित्तिसिद्धि की कई शर्तें कुंतक ने रखी हैं—

(i) प्रस्तुतौचित्यशोभिनः (व० जी०, 2/2 अर्थात् रस के अनुकूल औचित्य से युक्त,

(ii) आग्रहरहित, सहज वर्णरचना,

(iii) असुंदर अर्थात् प्रकृत रसविरोधी वर्णरचना का अभाव,

(iv) नवीन पुनरावर्तन अथवा नये वर्णयोग, विशेषतः यमक में,

(v) निर्बन्ध वर्णविन्यास का अभाव। 'निर्बन्ध' से कुंतक ने यद्यपि शब्द प्रयोग के प्रति अत्यंत आग्रह अथवा व्यसन का अर्थ लिया है, किंतु इसका निहितार्थ यह भी है कि वर्णविन्यास कवि के सहज भावावेग से बँधा हो।[2]

---

1. निजवर्गान्त्यैर्वर्ग्याः संयुक्ता उपरि सन्ति मधुरायाम्।
तद्युक्तश्च लकारो रणौ च ह्रस्वरान्तरितौ॥ 20
तत्र यथाशक्ति रणौ द्विस्त्रिर्वा युक्तितो लकारं च।
पञ्चभ्यो न कदाचिद् वर्ग्यानूर्ध्वं प्रयुञ्जीत॥ 21
अन्त्यटवर्गान्मुक्त्वा वर्ग्यंयणा उपरि रेफसंयुक्ताः।
कपयुक्तश्च तकारः प्रौढायां कस्तयुक्तश्च॥ 24
सर्वेरुपरि सकारः सर्वे रेणोभयत्र सयुक्ताः।
एकत्रापि हकारः परुषायां सर्वथा च शषौ॥ 26
ललितायां घधभरसा लघवो लश्चापरैरसंयुक्तः।
परिशिष्टाभद्रायां पृथगथवा श्रव्यसंयुक्ताः॥ 29
—काव्यालंकार, द्वितीय अध्याय, सं० डॉ० सत्यदेव चौधरी,
तुलनीय : व० जी०, 2/2.

2. नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला॥ व० जी०, 2/4

इसप्रकार वर्णविन्यासवक्रता वस्तुतः वर्णमैत्री से उत्पन्न सांगीतिकता तथा वर्णयोग (Sound pattern) के फलित नादसौंदर्य से युक्त काव्यभाषा की व्याख्या है। इनसे काव्यभाषा की शक्ति तथा प्रसादकता निश्चय ही बढ़ती है।

पदविन्यासवक्रता

वर्ण के बाद भाषा का दूसरा घटक पद है, जो अनेक वर्णों का सार्थक समुदायरूप होता है। पद का अर्थ है वाक्य में प्रयुक्त विभक्तियुक्त शब्द। संस्कृत में पद के मूलत: दो प्रकार हैं--सुबंत अर्थात् संज्ञापद और तिङन्त अर्थात् क्रियापद। सुबन्तपद का पूर्वार्द्ध प्रातिपादिक कहा जाता है और तिङन्त का धातु। प्रातिपदिक और धातु क्रमशः सुबंत और तिङन्त पदों के प्रकृत्यंश हैं। प्रकृति मूलशब्द है, जिसमें प्रत्यय के संयोग से मूलशब्द की वाक्यगत वाच्यता सिद्ध होती है। पद के दोनों अंग अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय सामान्य भाषाप्रयोग में भी है; किंतु, उनका विशिष्ट प्रातिभप्रयोग काव्यभाषा में शक्ति एवं विच्छित्ति ला देता है। प्रकृति और प्रत्यय के इसी विशिष्ट प्रातिभप्रयोग का विश्लेषण कुंतक ने क्रमशः पदपूर्वार्धवक्रता और पदपरार्धवक्रता के अन्तर्गत किया है।

पदपूर्वार्धवक्रता

पदपूर्वार्ध दरअसल मूलशब्द हैं, अतः पदपूर्वार्धवक्रत के अन्तर्गत शब्दप्रयोग-विच्छित्ति का विवेचन आया है। इसके आठ प्रभेदों का विवेचन कुंतक ने किया है

(i) रूढ़िवैचित्र्यवक्रता (ii) पर्यायवक्रता (iii) उपचारवक्रता (iv) विशेषण वक्रता (v) संवृत्तिवक्रता (vi) वृत्तिवक्रता (vii) लिंगवैचित्र्यवक्रता और (vii) क्रियावैचित्र्यवक्रता (व० जी०, 1/19 वृत्ति)।

(i) किसी अर्थविशेष के लिए रूढ़ि संज्ञाशब्द का, रूढ़ि से भिन्न, असंभव अर्थ अथवा उसके विद्यमान धर्म के अतिशय आरोप से युक्त प्रयोग रूढ़िवैचित्र्यवक्रता है। ऐसा लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा के लिए लिए किया जाता है (व० जी० 2/8,9)।

(ii) संज्ञा शब्द के पर्याय पर आधारित रमणीयता पर्यायवक्रता है। एक संज्ञा शब्द के अनेक पर्यायवाची होते हैं, जैसे विष्णुसहस्रनाम। किन्तु, प्रत्येक पर्यायवाची संज्ञा शब्द की व्यंजना तथा अर्थच्छाया भिन्न होती है, जैसे विष्णु की व्यंजना वही नहीं है जो चक्रपाणि की अथवा नारायण की। शिव, शंकर, शूलपाणि, रुद्र, कामारि आदि की व्यंजना तथा अर्थच्छाया समान नहीं है, यद्यपि ये सभी एक ही सत्ता की संज्ञाएँ हैं। अतः कविविवक्षा, अनेक पर्यायवाची संज्ञा शब्दों में से किसी

एक का चयन करके जब चमत्कार, अपूर्व रमणीयता तथा प्रभविष्णुता का सृजन कर देती है, तब उसे पर्यायवक्रता का सफल प्रयोग कहा जा सकता है। इसीलिए कुन्तक ने विच्छित्तिसम्पन्न पर्याय के लिए अनेक विशेषणों की चर्चा की है—वाच्य (अभिधेय अर्थ) का अन्तरतम, उसके अतिशय का पोषक, रमणीय छायान्तर (वाच्यार्थ से भिन्न अर्थच्छाया अथवा श्लेष) से अभिधेय को अलकृत कर सकने में (स्वतः अथवा विशेषणयुक्त होकर), समर्थ, अपनी ही कांति के उत्कर्ष अथवा अतिशयता से मनोहारी, कविविवक्षित असंभाव्य अर्थ की सिद्धि में समर्थ तथा अलंकार से संस्कृत अथवा अलंकार का शोभादायक। (व० जी० 2/10, 11, 12).

पर्यायवक्रता वस्तुतः शब्दचयन की बारीकी का अध्ययन है। जैसा कि पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक शब्द (पर्यायवाची) को व्यंजना तथा अर्थच्छाया एक नहीं होती। शब्दों का निजी स्पंदन, निजी आत्मा तथा चेतना होती है। अभिव्यक्ति-प्रक्रिया के दौरान कवि की सर्जनशील चेतना शब्दों के विपुल भण्डार से स्वस्पंदधर्मी शब्दों का चुनाव करती है—पर्यायवक्रता की यही भावभूमि है। सही संज्ञा की तलाश दरअसल कवि के आत्मभाव के सही शाब्दिक रूपायन की प्रक्रिया है।

(iii) पदपूर्वार्धवक्रता का तीसरा रूप है उपचारवक्रता। उपचार का अर्थ है गौणचरण अर्थात् व्यवहार। यह अप्रस्तुतविधान का क्षेत्र है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत सर्वथा भिन्न वस्तु हैं—प्रस्तुत वर्ण्य है और अप्रस्तुत वर्णक। दोनों में नाममात्र का साम्य होता है, किन्तु इसी नाममात्र के गुणादिसाम्य के आधार पर रूपकादि अलंकारप्रयोग सिद्ध हो पाते हैं। प्रस्तुत-अप्रस्तुत के गुणादिसाम्य-आरोप के क्रम में कालगत अथवा स्थानगत व्यवधान का प्रश्न नहीं होता, क्योंकि उनमें जिस दूरान्तर की बात कुन्तक ने उठायो है, वह स्वभावगत तथा प्रकृतिगत है (व० जी० 2/13 तथा वृत्ति, पृ० 226)। वस्तुस्वभावगत दूरान्तर के तीन प्रकार बताए गये हैं: अमूर्त-मूर्त, द्रवत्व-घनत्व तथा चेतन-अचेतन—मूर्तिमत्वममूर्तत्वापेक्षया, द्रवत्वं च घनत्वापेक्षया, चेतनत्वमचेतनत्वापेक्षयेति (व० जी०, 2/13 वृत्ति, पृ० 226)। इनमें लेशमात्र साम्य के आधार पर आरोप के प्रकारों की गणना नहीं की जा सकती। उपचरणगत क्रमचय-संयोजन (Permutation-Combination) से उपचारवक्रता के सहस्रों रूप हो सकते हैं—सोऽयमुपचारवक्रता प्रकारः सत्कविप्रवाहे सहस्रशः सम्भवतीति (व० जी०, वृत्ति, पृ० 229), शर्त सिर्फ इतनी है कि अतिशयबोधकता के लिए ही अत्यन्त व्यवहित अथवा विरुद्ध धर्म का आरोप हो।

इनके अतिरिक्त रूपकादि अलंकारों के अभेद आरोप, विशेषणविपर्यय, मानवीकरण, अन्योक्तिविधान आदि भी उपचारवक्रता के अन्तर्गत आ जाते हैं।

(iv) पदपूर्वार्धवक्रता का चौथा रूप है—विशेषणवक्रता। विशेषण विशेष्य का संकेतित गुणात्मक पक्ष है। प्रसंग, रस, वस्तु, स्वभाव तथा अलंकृति के अनुकूल विशेषण के प्रयोग का विशेष महत्त्व है।[1] इतना ही नहीं कुन्तक की यह स्पष्ट धारणा है कि प्रस्तुतौचित्य से युक्त विशेषणवक्रता उत्तमकाव्य का प्राण है, क्योंकि इसके माध्यम से सहज ही रसपरिपाक सम्भव है।[2] होता यह है कि उचित विशेषणप्रयोग के कारण क्रियारूप अथवा कारकरूप (काव्य) वस्तु का सौन्दर्य निखर उठता है। यह विशेषणवक्रता भाषा के समर्थ प्रयोग अथवा काव्यात्मक प्रयोग से ही आ पाती है। औचित्यपूर्ण विशेषण के प्रयोग से काव्य की अनेकविध अर्थच्छायाएँ, चित्र तथा भावोर्मियाँ उच्छलित होती हैं।

(v) संवृत्तिवक्रता पदपूर्वार्धवक्रता का पाँचवाँ रूप है। संवृत्ति गोपनक्रिया है। काव्य में यह गोपनक्रिया साभिप्राय एवं सातिशय होती है। किसी विचित्र विवक्षा का गोपन करना ही अभिप्राय होता है और सर्वनामादि से उसे आच्छादित कर संकेतित कर देना, जिससे वक्रत्व आ जाए सातिशयता है (व० जी० 2/16, तथा वृत्ति)। इसके अनेक भेद सम्भव हैं, कुन्तक ने छह मुख्य प्रकारों की व्याख्या की है।

सुन्दर वस्तु का वर्णन सम्भव होते हुए भी चमत्कार के लिए संवृत्ति, अनिर्वचनीय पदार्थ के शब्दातीत सौन्दर्यबोध के लिए संवृत्ति, सुकुमार चेष्टाओं की भावव्यंजना के लिए संवृत्ति, इन्द्रियातीत अनुभवगम्य वस्तु के चमत्कारी संकेत के लिए संवृत्ति, अन्य के अनुभवसम्वेद्य अनिर्वचनीय वस्तु के संकेत के लिए संवृत्ति, वस्तुस्वभाव अथवा अमंगल-अप्रिय कथन के लिए संवृत्ति आदि अनेक प्रकार संभव हैं; कुछ, कछु, कितना, इतना, कैसे, क्या आदि के संवृत्त प्रयोग से अर्थगर्भत्व कितना व्यंजक हो जाता है, यह सहज ही अनुमेय है। यों, भाषा ही अपने आप में, जहाँ व्यंजना का आधार है, वही संवृत्ति का रूप भी। भाषा से गोपन तथा व्यक्तीकरण दोनों का काम हम लेते हैं। काव्य अभिव्यक्ति तो है, किन्तु संवृत अभिव्यक्ति है, और इस क्रम में कवि भाषा की चरम सामर्थ्य का दोहन करता है। कुन्तक की संवृत्तिवक्रता उसी दोहन की ओर संकेत है।

---

1. स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तरश्रियः।
रसस्वभावालङ्कारास्तद्विधेयं विशेषणम् ॥ व० जी०, 2/15, आन्तरश्लोक-57.

2. एतदेव विशेषणवक्रत्वं नाम प्रस्तुतौचित्यानुसारि सकलसत्काव्यजीवितत्वेन लक्ष्यते। यस्मादनेनैव रसः परां परिपोषपदवीमवतार्यते।
—व० जी० वृत्ति, पृ० 236.

(vi) पद के मध्य से किसी प्रत्यय का प्रकरणौचित्ययुक्त प्रयोग पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता है (व० जी० 2/17)। जैसे 'विच्छुरित-वह्नि-राजीव-नयन-हत लक्ष्य-बाण' के 'विच्छुरितवह्निन' पद के मध्य 'क्त' प्रत्यय 'वह्निन' की त्वरा को उद्वेलनशील गति प्रदान करता है। इसी के एक अन्य भेद के रूप में कुन्तक ने आगमवक्रता की चर्चा की है। वर्णागम (और वैसे ही वर्णलोप) उच्चारण में, प्रयत्नलाघव अथवा मुखसुख का परिणाम होता है। भाव विशेष की अभिव्यक्ति के लिए काव्यभाषा में ऐसे वर्णागम-प्रयोग सहज ही हो जाते हैं। कुन्तक ने ऐसे सहज सुन्दर आगम को बंधच्छाया (रचना) में विशिष्ट शब्दवक्रता को परिपुष्ट करने वाला बतलाया है।[1] प्रकरण के अनुकूल 'तुरत' की जगह 'तुरन्त', 'लज्जावती' की जगह 'लाजवन्ती', 'रसवती' की जगह 'रसवन्ती' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं, जिनसे गतिशील बिम्बों का निर्माण हो पाता है।

(vii) अव्ययीभाव, समास, तद्धित, सुब्धातु आदि वैयाकरणिक वृत्तियों का विषय, भाव, प्रकरणादि के अनुकूल उचित प्रयोग को वृत्तिवक्रता कहा गया है (व० जी० 2/19)। अव्ययीभाव आदि वैयाकरणिक वृत्तियाँ, जहाँ समान जतीय अन्यशब्दों की अपेक्षा अधिक वैचित्र्य, वक्रता तथा सौकुमार्यसंपन्न रूप में प्रयुक्त हों वहाँ वृत्तिवक्रता होती है, शर्त यह है कि वैसा प्रयोग भी उचित तथा सहज-स्वाभाविक सौंदर्य से युक्त हो।[2]

समासवक्रता की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने उसके दो पक्ष माने हैं—चमत्कारपूर्ण एकाधिक समस्तपद का प्रयोग तथा निर्माण और समस्त बंधरचना। समस्त बंधरचना के संबंध में उनकी धारणा है कि इस रूप में कुन्तक प्रायः उन्हीं अनेक भेदों को समंजित कर रहे थे जिनकी चर्चा वामन ने अपने श्लेष, औदार्य्य आदि शब्दगुणों के अन्तर्गत किया है और वैसी बंधरचना का संबंध अर्थ से उतना नहीं होता है, जितना समासरचना से।[3] बात वैसे ठीक है, किंतु हम

---

1. आगमादिपरिस्पन्दसुन्दरः शब्दवक्रताम्।
पर: कामपि पुष्णाति बन्धच्छायाविधायिनीम्॥ —व० जी० 2/18.

2. वृत्तीनां वैचित्र्यं विचित्रभावः, सजातीयापेक्षया सौकुमार्योत्कर्षस्तेन वक्रता वक्रभावविच्छित्तिः। ···यत्र स्वपरिस्पन्दसौन्दर्यमेतासां समुचितभित्तिभागोपनिबन्धात् अभिव्यक्तिमासादयति। —व० जी० पृ० 248.

3. हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित, भूमिका, पृ० 71।

इतना निवेदन अवश्य करना चाहेंगे कि कुन्तक ने सर्वत्र औचित्य तथा वाचक-वाच्य में परस्परस्पर्द्धित्व पर बल दिया है, अतः कुन्तक की समासवक्रतायुक्त बंधरचना को वामन के शब्दगुण का सधर्मी माना जाना ठीक नहीं। अस्तु।

प्रति, अधि आदि अव्ययीभाव; मधुरिमा, कालिमा, लघिमा, हरीतिमा आदि तद्धितांत; गहराई, सुघराई, लुनाई आदि कृदंत; झुठलाना, लहराना, पियराना, बतियाना आदि नामधातु के उचित, सार्थक एवं समर्थ प्रयोग से काव्यबंध में चामत्कारिक सौंदर्य उत्पन्न होता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

(viii) क्रियावैचित्र्यवक्रता से पृथक् कुन्तक ने भाववैचित्र्यवक्रता का विवेचन किया है। इसका अन्तर्भाव क्रियावैचित्र्यवक्रता में भी किया जा सकता था, किंतु कुन्तक ने इसे पृथक् रखना ही उचित समझा, क्योंकि 'भाव' उनकी दृष्टि में धात्वर्थ-रूप अर्थात् क्रियाव्यापार है, स्वयं क्रिया नहीं—भावो धात्वर्थरूपः ···(व० जी० पृ० 251)। कुन्तक ने माना है कि क्रिया या भाव सदा साध्यरूप होता है। वर्णना में कोई भाव साध्यरूप अर्थात् अपरिपक्व रूप में चमत्कारी नहीं हो पाता, इसलिए कवि कभी-कभी भाव को सिद्धरूप में वर्णन करता है, जिसके कारण वैचित्र्य आता है। संक्षेप में कहें तो भाव का साध्यरूप वर्णन करते-करते उसके सिद्धरूप की परिपुष्टि भाववैचित्र्यवक्रता है। जैसे महादेवी की इन पंक्तियों में, "कैसे कहती हो सपना है, अलि ! उस मूक मिलन की बात।"

(ix) लिंगप्रयोग का चमत्कार लिंगवैचित्र्यवक्रता है। शब्दों के लिंग प्रायः मान्य और तय होते हैं, किंतु किसी अतिशय के पोषण के लिए जब सामान्यतः स्वीकृत लिंग से भिन्न लिंग में शब्दप्रयोग हो तो वह कुन्तक के अनुसार लिंगवैचित्र्य-वक्रता हैं। इसके प्रकारों की चर्चा कुन्तक ने की हैं–सामानाधिकरण्य प्रयोग, स्त्रीलिंग प्रयोग तथा विशिष्ट लिंगप्रयोग। भिन्नलिंगी उपमेयोपमान का एक ही लिंग में प्रयोग सामानाधिकरण्य है, (व० जी० 2/21)। विशिष्ट शोभा तथा सौकुमार्य के लिए पुंलिंग शब्दों का भी स्त्रीलिंग प्रयोग दूसरा प्रकार है (व० जी० 2/22) और अन्य लिंग संभव होते हुए भी विच्छित्तिविशेष के निष्पादन के लिए अर्थौचित्य के अनुकूल किसी लिंगविशेष का ही प्रयोग, यह तीसरा प्रकार है (व० जी० 2/23)। लिंगवै-चित्र्यवक्रता का आधार है शब्द का भावानुकूल लिंग-निर्धारण। यहाँ व्याकरण काम नहीं करता, बल्कि कवि का आत्मभाव अपनी विवक्षा के अनुकूल लिंग-निर्धारण कर लेता है; लेकिन ऐसे प्रयोग कवि के व्याकरण की नाजानकारी को छिपाने अथवा भाषिक अराजकता पैदा करने के साधन न बनें इसकारण कुन्तक ने उन्हें शोभातिशय, पेशलता तथा सौकुमार्य का वाहक तथा वाच्यौचित्यसंपन्न होने की शर्त रखी है।

(x) क्रियावैचित्र्यवक्रता के अंतर्गत कुन्तक ने सुबन्त तथा तिङन्त पदों के धातुरूप पूर्वभाग का विवेचन किया है। यह धातुरूप पदपूर्वार्धवक्रता के वैचित्र्य का क्षेत्र है जहाँ कवि क्रियापदों का सहृदयसंवेद्य प्रयोग करता है। इसके पाँच प्रकार बतलाए गये हैं। क्रिया का कर्त्ता के अत्यंत अंतरंगभूत होना, क्रिया द्वारा किसी कर्त्ता की विचित्रता का प्रतिपादन, क्रिया के अपने विशेषण की विचित्रता, उपचार-सौंदर्य और क्रिया के कर्मादि की संवृत्ति।

कर्त्ता के लिए एक ही अवस्था में अनेक क्रियाएँ संभव हैं, किंतु उनमें जो सबसे अंतरंग क्रिया हो उसीका अतिशय पोषक प्रयोग, यह, कर्तुरत्यन्तरङ्गत्वं' (व० (जी० 2/24) का स्वरूप है।

'कर्त्रन्तरविचित्रता' (व० जी० 2/24) की विच्छित्ति वस्तुतः कर्त्ता के धर्म के विपरीत क्रियाफल में निहित है। ऐसा प्रयोग अराजक भाषिक प्रयोग नहीं, बल्कि साभिप्राय अतिशय-सिद्धि के लिए किया जाता है। चुल्लू से बड़वानल का पान, मधुर पीर, चाँदनी का दाहक होना आदि प्रयोग ऐसे ही हैं।

स्वविशेषण वैचित्र्यं (व० जी० 2/24) क्रियाविशेषण का सौंदर्य है। ऐसे प्रयोग क्रिया तथा कारक दोनों के सौंदर्य में वृद्धि करते हैं। 'घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर' ऐसा ही प्रयोग है।

उपचारमनोज्ञता (व० जी० 2/24) सादृश्य के आधार पर क्रियावैचित्र्यवक्रता का क्षेत्र है। कारक का सहज धर्म क्रिया है, जैसे बहना जल का धर्म है, पिघलना ठोस पदार्थ का धर्म है। किंतु सादृश्य के आधार पर किसी अतिशय पोषण के लिए इन क्रियाओं में किसी अन्य असदृश कारक का नियोजन उपचार मनोज्ञता है। आँखों से पीड़ा का बहना, हृदय का पिघलना, मन का ढीला होना, ज्योतिर्मय जीवन का बरसना आदि ऐसे ही प्रयोग है।

प्रस्तुत के औचित्य के अनुसार सौंदर्य की अतिशय प्रतीति के लिए कर्म आदि कारकों की संवृति 'कर्मादिसंवृत्ति' (व० जी० 2/25) है। वस्तुतः यह संवृत्ति-वक्रता का ही एक रूप है।

पद उत्तरार्धवक्रता

पद उत्तरार्ध से तात्पर्य है सुबन्त और तिङन्त पदों का प्रत्ययरूप उत्तरार्ध। अतः पद उत्तरार्धवक्रता प्रत्ययाश्रित वक्रता है। इसके अनेक रूप हो सकते हैं :

(i) कुंतक के अनुसार औचित्य की प्रगाढता के कारण जहाँ काल (भूत, वर्तमान, भविष्य) सम्बन्धी प्रयोग विशेष रमणीय हो जाते हैं, वहाँ कालवचित्य-वक्रता होती है (व० जी० 2/26)। होता यह है कि कवि वर्तमान में ही भूत और भविष्य को खींच ले आता है। आचार्य भामह ने जिसे भाविकत्व नाम से प्रबन्ध-गुण कहा है, वही कालवैचित्र्यवक्रता के अन्तर्गत कुंतक का विवेच्य है (देखें—काव्यालंकार 3/53, 54)। यह शब्द की वह बिम्बधर्मिता अथवा भामह के शब्दों में 'स्वाभिनीतता' है कि जिसके कारण काव्य, घटित विषय के काल का अतिरेक करता है और काव्यवस्तु कालातीत रूप में हमारे लिए संवेद्य होती है।

(ii) कारकवैचित्र्यवक्रता के तीन रूप हैं; प्रधानकारक का गौणरूप में प्रयोग, गौण कारक का प्रधानरूप में प्रयोग और विपर्यस्त कारकप्रयोग अर्थात् कर्ता को कर्म या करण बना देना अथवा कर्म या करण का कर्त्तारूप में प्रयोग (व० जी० 2/27, 28), कर्ता प्राय: चेतन प्राणी होता है; किन्तु इस चेतनता का आरोप अचेतन, जो कर्म या करण होता है पर भी किया जाना एक सर्वमान्य काव्य-प्रयोग है (व० जी०, वृति 75)। इसके अन्तर्गत मानवीकरण की अनेक प्रयोग-विधियाँ आएँगी। यह सारा कुछ 'भङ्गीभणितिरम्यता' के लिए होगा, सिर्फ नयापन अथवा अपारंपरिकता सिद्ध करने के लिए नहीं।

(iii) वैसे ही, एकवचन के स्थान पर बहुवचन अथवा इसके विपरीत प्रयोग भी काव्यवैचित्यविवक्षा (व० जी० 2/29) से किये जाते हैं, यह संख्यावक्रता है।

(iv) पुरुषवक्रता के अन्तर्गत प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष तथा अन्यपुरुष का वक्रप्रयोग आता है। काव्यविच्छित्ति के लिए उत्तम-मध्यमपुरुष के स्थानापन्न अन्यपुरुष का प्रयोग किया जाता है। (व० जी० 2/30 तथा वृत्ति)। उदासीनभाव, सम्मान, व्यंग्य आदि भावव्यंजना के लिए 'मैं' की जगह 'हम', 'तुम' की जगह 'आप' आदि के प्रयोग से वैशिष्ट्य आता है।

(v) उपग्रहवक्रता के अन्तर्गत धातुओं के परस्मैपद और आत्मनेपद का प्रयोगवैचित्र्य आता है, आत्मनेपद का क्षेत्र कर्तृवाच्य है और परस्मैपद का कर्मवाच्य। औचित्य के आग्रह से दोनों संभव होने पर भी किसी एक का शोभा या सौंदर्य के लिए प्रयोग, उपग्रहवक्रता है। "मैं जभी तोलने का करती उपचार, स्वयं तुल जाती हूँ।" 'स्वयं तुल जाने' में कर्म का कर्तृरूप प्रयोग है, जिसके कारण प्रेम परवशता तथा निर्व्याज समर्पण का भाव व्यंजित होता है।

(vi) प्रत्ययमाला वक्रता के अन्तर्गत एक प्रत्यय के तारतम्य से जुड़े हुए दूसरे प्रत्यय की प्रयोग-विच्छित्ति का विवेचन है। हिन्दी में संदेसड़ा, घइलवा, मइया आदि देशज प्रयोग तथा सुन्दर से सुन्दरतर, सुन्दरतम आदि प्रयोग इसी कोटि के हैं।

पदवक्रता के अन्यरूप

व्याकरण में पद के चार रूप मान्य हैं नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इनमें से नाम (सुबन्त) और आख्यात (तिङन्त) की वैचित्र्यवक्रता के विवेचन के बाद उपसर्ग और निपातवक्रता का विवेचन आया हैं, क्रमशः इनका भी संक्षिप्त परिचय आवश्यक है :

(i) उपसर्ग के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे मूलतः शब्द ही थे जो कालान्तर में घिसकर मौजूदा रूप में शेष रह गये हैं। उपसर्गों का रसपोषक चमत्कारी प्रयोग उपसर्गवक्रता का विषय है। उपसर्ग में भावोत्तेजन की जो अद्भुत क्षमता होती है, उसे 'वीर' और 'प्रवीर' की व्यंजना में अन्तर से समझा जा सकता है। फलतः उपसर्गों के सावधान प्रयोग से काव्यभाषा में भावोद्वेलन तथा चित्रमयता की अद्भुत क्षमता आती है।

(ii) निपात अव्युत्पन्न तथा अवयवरहित पद होते हैं। ही, भी, तु, काश, मत, जी, न, तक, सी आदि ऐसे ही निपात पद हैं, जिनके सम्यक् प्रयोग से अर्थ-गांभीर्य एवं अर्थसंपदा आती है। क्षेमेन्द्र ने निपातों की व्याख्या करते हुए कहा है कि—निपादों का उचितस्थानी विन्यास काव्य की अर्थसंपदा को वैसे ही अचल बनाते हैं, जैसे उचित स्थानों पर नियुक्त सही सचिव राजलक्ष्मी को निश्चल बनाते हैं।[1] स्पष्ट है कि यद्यपि निपातों का कोई निजी अर्थ नहीं होता, फिर भी उनके प्रयोग की निजी सार्थकता अवश्य होती है, वे सिर्फ पादपूरण के साधन नहीं, बल्कि भावसंपदा के पोषक होते हैं।

उपसर्ग और निपात दोनों अत्यंत लघुकाय और व्यावहारिक भाषा में प्रायः महत्त्वहीन होते हैं, किन्तु काव्यभाषा की दृष्टि से इनकी महत् सार्थकता है, इसीलिए कुंतक ने इन्हें वाक्य के जीवनस्वरूप रसादि का द्योतक कहा है।[2]

---

1. उचितस्थान—विन्यस्तैर् निपातैरर्थसंगतिः।
उपादेयैर् भवत्येव सचिवैरिव निश्चला॥ औचित्यविचार चर्चा, 25.
2. रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।
वाक्यैकजीवितत्वेन सापरा पदवक्रता॥ व० जी० 2/33.

वाक्यवक्रता

वाक्यवक्रता का विवेचन कुंतक ने काव्यवस्तुवक्रता से जोड़कर किया है। वस्तुवक्रता के सम्बन्ध में मौलिक उद्भावनाएँ कुंतक ने की हैं। इसे भङ्गीभणिति-वैचित्र्य कहा गया है (व० जी०, 1/20 वृत्ति, पृ० 88)। यह दरअसल वर्णन-प्रकार का क्षेत्र है, एक ही वस्तु का वर्णन अनेक प्रकार से किया जा सकता है, कुंतक ने ठीक ही इसे प्रतिभाश्रित माना है। समस्त अलंकारवर्ग इसमें अन्तर्भुक्त है। कविप्रतिभा के आनन्त्य के कारण वाक्यवक्रता का नियत संख्यात्मक रूप बताया जाना संभव नहीं (व० जी० 1/20, तथा वृत्ति)।

वर्णना के मुख्य दो वर्गों की चर्चा कुन्तक ने की है—वर्णनीय वस्तु का उत्कर्षशाली, स्वभाव से सुन्दररूप का सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन (व० जी० 3/1) और दूसरा—कवि के सहज (प्रतिभाजन्य), आहार्य (शिक्षाभ्यास या व्युत्पत्ति-जन्य) कौशल से सुशोभित, अभिनव कविकल्पनाप्रसूत होने से लोकातिक्रान्तगोचर अथवा अतिशयमूलक रचना (व० जी० 3/2)। यह वर्गनिर्धारण वस्तु और अभि-व्यक्ति के विभिन्न समीकरणों को जन्म देता है। चेतन अथवा अचेतन वस्तु की सहज अभिव्यक्ति हो सकती है, और कलात्मक अभिव्यक्ति भी। वैसे ही वस्तु भी कभी-कभी कल्पनाप्रसूत हो सकती है जिसकी सहज और कलात्मक अभिव्यक्ति सम्भव है। इस प्रकार निम्नांकित समीकरण निकलते हैं :

सहज वस्तु→सहज अभिव्यक्ति

सहज वस्तु→कलात्मक अभिव्यक्ति

कल्पनाप्रसूत वस्तु→सहज अभिव्यक्ति

कल्पनाप्रसूत वस्तु→कलात्मक अभिव्यक्ति

उपर्युक्त चारों अवस्था में यदि वर्णना सातिशय है तो कुन्तक उसे उत्कृष्ट काव्य मानने को तैयार हैं।

इस सातिशय वर्णना की व्याख्या के लिए उन्होंने वाक्यवक्रता की विवेचना की है। उनके अनुसार विभिन्न मार्गों में स्थित शब्द, अर्थ, गुण तथा अलङ्कारों के सौन्दर्य से भिन्न अन्य प्रकार से कथन करना ही जिसका प्राण है, वैसी वाक्यवक्रता अलग होती है। जिसप्रकार सुन्दर चित्रफलक पर रंग-रेखाओं के अंकन तथा उसके सौन्दर्य से भिन्न, चित्र में कुछ अन्य विच्छित्ति भी झलकती है उसी प्रकार

वाक्यवक्रता में शब्द, गुणालंकार से भिन्न सौन्दर्य उद्भासित होता है।[1] 'अन्य', 'पृथक्' आदि पार्थक्य बोधक पदों से यहाँ कुन्तक का तात्पर्य नितान्त भिन्नधर्मिता नहीं है, बल्कि आनन्दवर्धन की ध्वनि-संकल्पना की तरह अतिरिक्तत्व ही अभीष्ट है। तात्पर्य सिर्फ इतना है कि काव्य की शब्द, अर्थ, गुणालंकार सम्पदा में से कोई एक या अलग-अलग वाक्यवक्रता का एकमेव कारण नहीं हैं, बल्कि वाक्यवक्रता समस्त मार्गसम्पदा का समूहालंबनात्मक प्रतिफलन है, जो कविकौशल का अनिवार्य परिणाम होता है। अतः कविकौशल तथा भंगिमाविच्छित्ति ही वाक्यवक्रता की प्राण हैं; यहाँ सवाल समग्रता का है, अंगविशेष की वक्रता का नहीं।

4·5·8. अबतक हमने कविकर्मकौशल से उत्कर्षप्राप्त शब्द और अर्थ की रमणीय साहित्य-विच्छित्ति का अध्ययन कुन्तक की बंध-अवधारणा, मार्गविवेचन और वक्रता के संदर्भ में किया है। कुन्तक ने बंध के चार तत्त्वों का विवेचन किया है: आधार, पोषकतत्त्व, व्यापार और विन्यास। वाच्य-वाचक आधार तत्त्व हैं; सौभाग्य, लावण्य तथा औचित्य गुण पोषक हैं, गुणालंकार का परस्परस्पर्धित्व तथा योगक्षेम व्यापारतत्त्व है और वक्रता अर्थात् लोकातिक्रांतगोचरता विन्यासतत्त्व है। कुन्तक का मार्गविवेचन जैसा कि पहले ही कहा गया है काव्यभाषा के आभिजात्य, वक्रोक्ति-वैचित्र्यमूलकता और उनके समेकित रूप तथा प्रयोग का विवेचन है। वक्रता-विवेचन के अन्तर्गत कुन्तक ने काव्यभाषा की विच्छित्ति एवं क्षमता का सूक्ष्म विश्लेषण किया है, वर्ण से लेकर वाक्य तक। इनका समाहार करते हुए कुन्तक ने वाणी और नायिका का सांगरूपक बाँधा है कि—"लावण्य आदि गुणों से उज्ज्वल, प्रत्येक पद-विन्यास (शब्द और पद) में हावभावपूर्ण (वाणी के पक्ष में अनेक अर्थच्छवियों से पूर्ण), सुन्दरता अथवा सहजतापूर्वक धारण किये हुए थोड़े अलंकारों से मनोहर लगनेवाली अत्यन्त (रसभरी होने से) आर्द्रहृदयवाली, उदार (अभिधा) वचन वाली (सत्कवियों की विरचित काव्यरूप) वाणी (सौन्दर्य आदि गुणों से उज्ज्वल, प्रत्येक पग रखते समय हाव-भाव से युक्त, सुरुचिपूर्ण अल्प अलंकृता और अत्यन्त प्रेमयुक्त

---

1. मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालङ्कारसम्पदः ।
अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहितिजीवितम् ॥
मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक् ।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम् ॥—व० जी० 3/3,4।

आर्द्र हृदया) नायिका के समान (सहृदय) लोगों के मन को सदैव वश में कर लेती है।"[1]

कुन्तक के उक्त कथन से आनन्दवर्धन की प्रतीयमान सम्बन्धी अवधारणा का स्मरण हो आता है। वस्तुतः आनन्दवर्धन और कुन्तक दोनों ही काव्य को कवि-विवक्षा के भाषिक रूपान्तरण मानकर परख रहे थे, अन्तर सिर्फ प्रस्थानबिन्दु का है—आनन्दवर्धन सहृदय की दृष्टि से परखते हैं तो कुन्तक काव्य को ही एक जीवंत इकाई मानकर, आनंदवर्धन ने काव्य को आस्वाद्य माना कुन्तक ने स्वयं आस्वाद।

अभिनवगुप्त

4·6·1. अभिनवगुप्त ने भरतकृत नाट्यशास्त्र तथा आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक पर विस्तृत एवं सर्जनशील टीकाएँ लिखीं। दर्शन और व्याकरण से पृथक् काव्यगत शब्दचिंतन की शुरुआत नाट्यशास्त्र के काव्यलक्षण-विवेचन से होती है, इसकी चर्चा हम पहले ही कर आए हैं। इसी प्रकार ध्वन्यालोक ही वह पहला ग्रंथ है जिसमें व्याकरणदर्शन और नाट्यशास्त्र के भाषिक चिंतनों को समेकित-समंजित कर काव्यशास्त्र का आधार बनाया गया। अतः उक्त ग्रंथों पर टीका करते समय यह स्वाभाविक था कि अभिनवगुप्त काव्यगत शब्दचिंतन को कोई नया मोड़ देते और उन्होंने वैसा किया भी।

4·6·2· अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने काव्यलक्षण का विस्तृत विवेचन किया है। काव्यलक्षण संबंधी दस मतों का विवेचन आया है।

(i) प्रथम मत के अनुसार लक्षण काव्यशरीर का सौंदर्यविधायक है, जिसे पुनः अलंकारों के माध्यम से और भी सुन्दर बनाया जा सकता है। वे लक्षण भी दो प्रकार के हैं सिद्धरूप अर्थात् प्राकृतिक, जैसे—विशाल नेत्र, श्याम रंग आदि और साध्यरूप अर्थात् आहार्य या प्रयत्नज, जैसे—कामिनियों की मंदगति, कटाक्ष

---

1. लावण्यादिगुणोज्ज्वला प्रतिपदन्यासैर्विलासाञ्चिता।
विच्छित्त्या रचितैर्विभूषणभरैरल्पैर्मनोहारिणी।
अत्यर्थं रसवत्तयार्द्र हृदया (भावैरुदाराभिधा
वाग् वश्यं कुरुते जनस्य हृदयं नित्यं) यथा नायिका॥

—व० जी० 3/46

आदि। प्रकारान्तर से लक्षण काव्य के वर्णनीय पदार्थ हैं।[1]

(ii) दूसरे मत के अनुसार नाटक के संध्यंग ही लक्षण हैं।[2]

(iii) तीसरे मत में 'काव्यशरीर' का सौंदर्य ही लक्षण है। इसके मतानुयायियों ने काव्यशरीर की निर्माणप्रक्रिया का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अभिनवगुप्त ने इस मत का सार इस रुप में रखा है :

> कविकल्पना के तीन व्यापार हैं और तदनुकूल तीन परिस्पंद भी। परिस्पंद का तात्पर्य संभवतः चित्तवृत्ति के सर्जनशील उद्वेलन से है। कल्पनाव्यापार के प्रथम परिस्पंद में कवि रस और गुण का ग्रहण करता है, और दूसरे में अलंकार का। कल्पनाव्यापार का तृतीय परिस्पंद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, जब ग्रहीत रस, गुण, अलंकार के अनुरूप कविप्रतिभा शब्दचयन करती है, जिसमें श्लेषादि गुण सहज ही आ जाते हैं। शब्दार्थात्मक काव्यशरीर का निर्माण इसी तृतीय व्यापार की देन है, जिसमें अभिव्यंजन-व्यापार से संस्कारित शब्दार्थ रूपग्रहण करते हैं। काव्यशरीर का इसी रूप में (स्निग्धस्पर्शिता, रसगुण-माधुर्य, ओज और प्रसाद तथा शब्दगुण) लाया जाना इस मत के अनुसार 'लक्षण' है।[3]

(iv) चौथे मत के अनुसार लक्षण काव्य का प्रबन्धधर्म है। प्रबन्धधर्म से यहाँ तात्पर्य विभिन्न काव्यप्रकारों और उनकी रूपगत विशेषता है। जैसे

---

1. तल्लक्षणं येन शरीरस्य सौन्दर्यं जायते। तच्च सिद्धरूपं साध्यरूपं वा, यथा श्यामेति मदमन्थरगामिनीति च। एतदेव लक्षणम्, तच्चालंक्रियते।...तत्र प्रथमपक्षे वर्णनीयप्रधानभूताधिकारपुरुषगतगुणविभाग एव काव्ये पर्यवसीयते। अभिनवभारती, जिल्द-2, पृ० 379-380, डॉ० राघवनकृत 'सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ अलंकारशास्त्र, पृ०7.

2. अन्य मन्यन्ते—इतिवृत्तखण्डलकान्येव संध्यङ्गकानि लक्षणानीति च व्यपदिश्यन्ते। उपरिवत्, पृ० 8.

3. "एते (के) षां तु दर्शनम्—कवेः यः प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्द (त) : तद् व्यापरबलोपनतेषु (ताः) गुणाः। प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्य-माधुर्यादिः उपनिबन्धन सामर्थ्यं, न सामान्यकवेः। अनेन शब्देन इदं वस्तु वर्णयामीत्येवंभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीयव्यापारसंपाद्यस्त्वलंकारः। शब्दः अमीभिः शब्दैरर्थानमीभिरर्थैःसंघटयामीत्येवमात्मकस्तु यस्तृतीयः कवेः परिस्पन्दः तदधीनात्मलाभादिः शब्दार्थात्मककाव्यशरीरसंश्रितानि वक्ष्यमाणश्लेषादिगुणदशकसमभिव्यञ्जनव्यापाराणि शब्दार्थोपसंस्कारकल्पानि क्रियारूपाणीति।
—उपरिवत्, पृ० 9.

'मेघदूत' को भरत सम्मत 'विभूषण' लक्षण का उदाहरण माना जा सकता है। इस मत के अनुसार आचार्य भरत ने काव्य के प्रकारगत वैशिष्ट्य के आधार पर ही लक्षण का निर्धारण किया है।[1]

(v) पाँचवें मत में कवि का अभिप्रायविशेष ही लक्षण है।[2] अभिनव गुप्त ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की है, अतः कह सकना कठिन है कि इसके मतानुयायियों का लक्ष्य क्या है।

(vi) छठे मत के अनुसार गुण और अलंकार का रसौचित्यजन्य प्रयोग ही लक्षण है।[3]

(vii) सातवें मत के अनुसार अलंकारादि से निरपेक्ष, निसर्ग सुन्दर काव्य शरीर का हेतुधर्म ही लक्षण है।[4]

(viii) आठवें मत के अनुसार भरत निरुपित अलंकारों—उपमा, दीपक और रूपक का, छत्तीस लक्षणों के साथ मिलने तथा उनकी अन्तःक्रियायों से उत्पन्न अनन्त रूप ही लक्षण हैं।[5]

(ix) नौवें मत के अनुसार शब्द और अर्थ का परस्पर उपस्कारक रूप लक्षण है।[6]

(x) दसवाँ मत मूलतः दूसरे मत के अनुकूल है, कोई विशेष अन्तर नहीं।[7]

---

1. तथा हि—किंचित् प्रबंधजातं गुणालंकारनिकरप्रधानम्, यथा मेघदूताख्यम्, तद्विभूषणम्। एवमन्यदपीति प्रबन्ध धर्मा लक्षणाति। —पूर्ववत्, पृ० 10.
2. केचित्तु ब्रुवते—कवेरभिप्रायविशेषो लक्षणम्, इति।, पूर्ववत्, पृ० 10.
3. इतरे पुनर्मन्यन्ते—यथास्थाननिवेशनं यत् गुणालकारंयदूनं तल्लक्षणम्। पूर्ववत्, पृ० 10.
4. परे त्वाभाषन्ते—अलंकाराविनिरपेक्षेणैव निसर्गसुन्दरो योऽभिनयविशेषः काव्येषु, अमरुकश्लोकेष्वपि, तत्सौन्दर्यहेतुर्यो धर्मः स लक्ष्यः स एव चार्थः काव्यविशेषरुपो लक्षणम्।, पूर्ववत् पृ० 11.
5. उपमादीपकरूपकाणामआनन्त्यप्रयोजकत्वाद् भेदमाहुः", तथा तत्संबंधी डॉ० राघवन की टिप्पणी, पृ० 11-12.
6. शब्देन अर्थेन चित्रत्वं लक्षणामित्यन्ये, तथा डॉ० राघवन की टिप्पणी—"Abhinavagupta later uses this view also and explains it as the beautification of Sabda by Sabda, of Sabda by Arth, of Arth by Sabda and of Artha by Artha." पूर्ववत्, पृ० 12.
7. पूर्ववत्, पृ० 13.

लक्षण संबंधी उपर्युक्त मत अपने-अपने स्वतंत्ररूप में अभिनवगुप्त को मान्य नहीं हैं। उन्होंने उक्त मतों के परिशीलन के बाद स्वमत निर्धारित किया है। अभिनवगुप्त ने 'लक्षण' को काव्यबन्ध, गुम्फ, फणिति, कविव्यापार, वक्रोक्ति आदि का पर्याय माना है, जो अलंकार-निरपेक्ष रूप में काव्य के सौंदर्यविधायक होते हैं।[1] लक्षण अभिनव के अनुसार रसोचित त्रिविध अभिधाव्यापार (गुणालंकार अनुग्रह तथा विभावादियोग) का ही रूप है।[2] प्रकृतवस्तु का काव्यवस्तु में रूपान्तरण लक्षण अथवा अभिधाव्यापार या कविव्यापार का ही परिणाम है।[3] यह लक्षण काव्यशरीर का सौंदर्यविधायक है। गुणालंकार निरपेक्ष होना लक्षण का अतिरिक्त गुण है। अभिनवगुप्त ने इसीलिए गुण, अलंकार और लक्षण के पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—गुण रसाभिव्यक्ति का हेतु है, वर्णन से पृथक् किन्तु उसे अलंकृत करने वाले तत्त्व अलंकार हैं और रस, गुण तथा अलंकार के रूप में जो त्रिविध कविव्यापार या अभिधाव्यापार है, वही लक्षण का विषय है।[4] प्रकारान्तर से त्रिविध अभिधाव्यापार के रूप में लक्षण काव्य के भाषिक रूपान्तरण की प्रक्रिया तथा रूप का पर्याय है। भाषिक रूपान्तरण की प्रक्रिया के लिए अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के त्र्यंशभूतपरिस्पंदन को स्वीकार कर लिया है और काव्य के रूपगत पक्ष के लिए लक्षण को काव्यशरीर के तौर पर मान्यता दी है। इस प्रकार लक्षण वास्तव में अभिनवगुप्त के मतानुसार शब्द का काव्यगतव्यापार सिद्ध होता है। शब्द का यह काव्यगतव्यापार निश्चय ही उसके सामान्य व्यवहारगतव्यापार से भिन्न हैं, बन्ध, गुम्फ, फणिति कविव्यापार तथा वक्रोक्तिरूप होने के कारण।

---

1. बन्धो, गुम्फ : फणितिः, वक्रोक्तिः कविव्यापार इति ही पर्यायात् लक्षणं त्वलंकारशून्यमपि न निरर्थकम्।, पूर्ववत, पृ० 18.
2. तत्र चित्तवृत्त्यात्मकं रसं लक्षयन् तद्रसोचितविभावादि सम्पादकः त्रिविधोऽभिधाव्यापारी लक्षणशब्देनोच्यते इत्येषां सामान्यलक्षणम्। पूर्ववत, पृ० 18.
3. एवं कविव्यापारबलाद् यदर्थजातं लौकिकात् स्वभावाद्विद्यमानं तदेव लक्षणम् इत्युक्तम्।, पूर्ववत, पृ० 19.
4. एवमर्थस्यापि यद्रसाभिव्यक्तिहेतुत्वं सोऽर्थगुणः। यस्तु वस्त्वन्तरं वदनस्येव चन्द्रः, सोऽलंकारः। यस्तु त्रिविधोऽप्यभिधाव्यापारः स लक्षणानां विषयः।, पूर्ववत, पृ० 20.

4·6·3. अभिनवभारती के पूर्व ही, ध्वन्यालोक लोचन में,[1] अभिनव ने नाट्यरस और काव्यरस में भेद बतलाते हुए, काव्य में शब्दव्यापार की महत्ता की स्थापना की थी।

ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, कारिका—15[2] पर टिप्पणी करते हुए अभिनव ने कहा कि ध्वनि में शब्दार्थ के अतिरिक्त स्फुटव्यापार होता है, जिसे उक्त्यन्तर कहते हैं। ध्वनि के लिए व्यवहार्य शब्द की कोई सीमा नहीं होती, यहाँ 'शब्द' से उसकी पंच अर्थच्छाया को समझा जाना चाहिए।[3] शब्द की पाँच अर्थच्छायाएँ इसप्रकार हैं :

(i) शब्द्यते अर्थात् जो प्रकथित किया जाय यानि अर्थ
(ii) शब्द्यतेऽनेन अर्थात् जिसके द्वारा प्रकथन किया जाय यानि शब्द (वर्णयोग)
(iii) शब्दनं शब्द : अर्थात् व्यापार
(iv) शब्दयते अर्थात् जो व्यक्त किया जाय या व्यंग्यार्थ और
(v) उपर्युक्त सभी का समवायरूप शब्दव्यापार।

स्पष्ट ही अभिनव ने ध्वनि-संदर्भ में शब्द को पाँच अर्थच्छायाएँ दी हैं—अर्थ, शब्द (वर्णयोग), व्यापार, व्यंग्यार्थ और उनका समवायरूप समस्त शब्दव्यापार। 'अर्थ' से अभिनव का तात्पर्य है 'अभिधा', शब्द' से स्वर-व्यंजनसंघटना, 'व्यापार' से शक्ति, व्यंग्यार्थ' से शक्ति का विशिष्टरूप और समवायरूप से शब्द की काव्योजिता, क्योंकि, काव्य में योजित शब्द सिर्फ अभिधा अथवा स्वरव्यंजनसंघटना, व्यापार या व्यंग्यार्थ ही नहीं होते; बल्कि उन सभी के समग्ररूप भी होते हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि काव्य में योजित शब्द की अर्थच्छाया वही नहीं होती जो सामान्य लोक-व्यवहार में होती है। इस संदर्भ में 'शब्द्यते' के प्रकथनमूलक अर्थ और 'शब्दयते' के अभिव्यक्तिमूलक अर्थ में निहित अन्तर ध्यातव्य है, कि काव्य 'प्रकथन' नहीं 'अभिव्यक्ति' है।

---

1. '…अभिनवभारती में ध्वन्यालोक लोचन का उल्लेख पाए जाने से स्पष्ट है कि ध्वन्यालोक लोचन की रचना अभिनवभारती से पहले हुई है। आचार्य विश्वेश्वर, हिंदी-अभिनवभारती, भूमिका, पृ० 35.
2. उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दोव्यञ्जकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥ —ध्वन्यालोक, 1/15.
3. उक्त्यन्तरेण ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापारविशेषेणेत्यर्थः।
शब्द इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्" —ध्वन्यालोक लोचन-तारावती, पृ० 298.

4·6·4. काव्य में शब्द की पंचअर्थच्छाया के फलरूप अर्थच्छवियाँ भी होती हैं, इसे स्पष्ट करने के लिए अभिनवगुप्त ने शाब्दबोध का प्रश्न उठाया। शाब्दबोध के दो रूप होते हैं—लौकिक और काव्यगत। लौकिक शाब्दबोध भाषा का सामान्य किन्तु अनिवार्य व्यापार होता है। काव्यगत शाब्दबोध वैकल्पिक, अतः विलक्षण होता है। काव्यगत शब्द व्यापार कवि के आत्मभाव के सर्जनशील क्रियारूप होने के कारण ही वैकल्पिक है, क्योंकि कवि ने उसमें अपने संकल्प से वैकल्पिक अर्थच्छवियाँ भर दी होती हैं। अतः काव्यगत शाब्दबोध की विलक्षणता वस्तुतः कविहृदय के आवेग का, जिसे पारिभाषिक रूप में अभिनव ने 'रस-समुच्चलन स्वभाव' कहा है, परिणत प्रतिफलन होता है।[1]

काव्यगत शाब्दबोध की विलक्षणता से सम्बद्ध तीन प्रश्न उठते हैं: (क) विलक्षणता की प्रक्रिया, (ख) विलक्षणता का स्वरूप और (ग) विलक्षणता का प्रभाव। अभिनव ने इन प्रश्नों का व्यवस्थित विश्लेषण किया है।

(क) पहले विलक्षणता की प्रक्रिया का प्रश्न लीजिए। काव्यगत शाब्दबोध विलक्षण हो कैसे जाता है, इसका संकेत ऊपर दिया जा चुका है। अभिनव ने इस प्रक्रिया की गहराई से खोजबीन की है। वाल्मीकि के प्रसिद्ध श्लोक "मा निषाद···" की सर्जनप्रक्रिया की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि—"वाल्मीकि के चित्त में वासनारूप स्थित शोक और क्रौंची के शोक में पहले हृदयसम्वादजन्य तन्मयीभाव स्थापित होता है। वाल्मीकि का यह शोक इसीलिए लौकिक (अनुभव) न होकर आस्वाद्य (अनुभूति) है। यह तीव्र भावोद्वेलन ही, भरे हुए घड़े के उच्छलन के समान उचित शब्द, वृत्त आदि से नियंन्त्रित होकर श्लोक रूप में परिणत हो जाता है।[2] स्पष्ट है कि काव्यगत शाब्दबोध कवि की अनुभूति की देन है। प्रत्यक्ष जीवना-

---

1. ···एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशब्दवैलक्षण्यकारकः। लोचन-तारावती, पृ० 159।

2. क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावात्वाद्विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थाभिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावातदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसम्वादतन्मयीभवन-क्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिक शोकव्यातिरिक्तां स्वचित्त-द्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवत् चित्तवृत्तिनिःष्यन्द स्वभाववाग्विलापादिवत् च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति—नयेनाकृतकतयैवावेशवशात् समुचितशब्दछन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः। —लोचन-तारावती, पृ० 155-157.

नुभव से काव्यानुभव को भिन्न सिर्फ इसलिए कहा जाता है कि दोनों के बीच के अन्त:सूत्ररूप में अनुभूति होती है, अन्यथा उनमें कोई अन्तर नहीं। अनुभूति दरअसल प्रत्यक्ष जीवनानुभव/लोकानुभव का, हृदयसम्वादजन्य तन्मयीभाव के कारण उपचित आस्वाद्यरूप है। काव्यगत शाब्दबोध की विलक्षणता, हृदयसंवाद-जन्य तन्मयीभाव के कारण आस्वाद्य बन गये जीवनानुभव/लोकानुभव का ही परिणाम है। इसी हृदयसम्वादजन्य तन्मयीभाव के कारण जब अभिव्यक्ति दुर्निवार बन जाती है, कविप्रतिभा शब्दचयन करती है, जिसके अनेक रूप होते हैं—छन्द, वृत्ति, अलंकार, रीति, भंगिमा, वक्रोक्ति आदि। इस शब्दचयन-प्रक्रिया के भी दो रूप हो सकते हैं—सहज और यत्नज। वाल्मीकि का प्रसिद्ध श्लोक सहज प्रक्रिया का उदाहरण है, इसीलिए वह कविप्रतिभा का आकस्मिक विस्फोट सा प्रतीत होता है, ऐसा कि स्वयं वाल्मीकि भी चौंक पड़े थे।

(ख) अब दूसरे प्रश्न को लीजिए कि उक्त विलक्षणता का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर अभिनव ने कई ढंग से दिये हैं। आनन्दवर्धन ने काव्यसौन्दर्य के हेतुरुप में 'ललितोचितसन्निवेश' की चर्चा की है। अभिनवगुप्त के अनुसार 'ललित' का अर्थ है गुण और अलंकार का पारस्परिक अनुग्रह तथा 'उचित' का रसविषयक औचित्य।[1] अनुग्रह शब्द व्याख्यापेक्ष है। 'अनुग्रह' का कोशगत अर्थ है—अभीष्टसम्पादनेच्छारूपे, प्रसादे (शब्दस्तोममहानिधि, पृ० 61) भक्तिदर्शन में 'अनुग्रह' पुष्टि अर्थात् ईश्वरकृपा का रूप है—पुष्टि तदनुग्रहः। शाक्तमत में 'अनुग्रह' का अर्थ है शक्तिपात अर्थात् श्रीभगवान् अथवा गुरु की कृपा का जीव या शिष्य में अनुप्रवेश।[2] अभिनवगुप्त शैव थे और तंत्रालोक के रचयिता भी, अत: उन्होंने 'अनुग्रह' शब्द का तांत्रिक पारिभाषिकता के अनुकूल ही प्रयोग किया होगा, यह सहज अनुमेय है। अनुग्रह स्वयं शक्ति है। पं० गोपीनाथ कविराज के अनुसार यह अनुग्रह-शक्ति श्री भगवान् के स्वातंत्र्य से प्रकट होती है। 'स्वातंत्र्य' की व्याख्या करते हुए कविराज जी ने अन्यत्र बतलाया है कि, "स्वातन्त्र्य शब्द का तात्पर्य है—अन्य निरपेक्षता। इसका नामान्तर है—आनन्द, 'सर्वात्मात्मवशं सुखम्'। जहाँ द्वितीय नहीं है और द्वितीय की अपेक्षा भी नहीं है, वहाँ स्वरूप स्वभावत: आनन्दमय है, यही सच्चिदानन्द है;

---

1. ललितशब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह। उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्य भवतीति···। —लोचन-तारावती, पृ० 73।
2. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज, पृ० 16-17।

यही 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' है। ···अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह चित् है एवं रसास्वाद की दृष्टि से वही आनन्द हैं।"[1] इस संदर्भ में अभिनव की गुणालंकारानुग्रह सम्बन्धी अवधारणा को देखें। गुण और अलंकार के पारस्परिक अनुग्रह का अर्थ है–पारस्परिक शक्तिपात। 'गुण' की शक्ति 'अलंकार' में प्रकट हो और अलंकार की गुण में, यह दोनों के 'स्वातंत्र्य' की समरस अवस्था का द्योतक है। अनुग्रहशक्ति के इस पारस्परिक शक्तिपात से अनन्त अर्थच्छवियों के अगणित आयाम उद्घाटित होते हैं—गुणालंकारानुग्रह का स्वारस्य यही है।

काव्य में यह ललितोचितसन्निवेश अथवा गुणालंकारानुग्रह तथा रसविषयक औचित्य शब्दव्यापार से ही संभव है; क्योंकि—

(i) ध्वनि में शब्द (और अर्थ) का व्यापार-ध्वनन ही होता है।[2]

(ii) यद्यपि माधुर्य आदि रस के ही गुण हैं, किन्तु (काव्यसंदर्भ में) वे रसाभिव्यंजक शब्द (और अर्थ) में ही उपचरित होते हैं।[3]

(iii) इसीलिए प्रसाद और चारुत्व से उपबृंहित शब्दों की ही काव्ययोज्यता होती है।[4]

(iv) अभिधाव्यापार तथा व्यंजनाव्यापार ही शब्द की इतिकर्तव्यता (धर्म) है[5] और

(v) काव्य में जब शब्द के ये दोनों व्यापार संश्लिष्ट रूप में क्रियाशील होते हैं तब उनका पौर्वापर्य क्रम का पता भी नहीं चलता और वे रसादिप्रतीति में परिणत हो जाते हैं; यह रसादिप्रतीति ही काव्य में शब्दप्रयोग का साध्य भी है।[6]

---

1. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० 2।
2. द्वयोरपि शब्दार्थयोर्ध्वनन व्यापारः, लोचन-तारावती, पृ० 153.
3. ···वस्तुतो माधुर्यं नाम श्रृङ्गारादे रसस्यैव गुणः। तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरितं मधुरश्रृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोः माधुर्यमिति हि लक्षणम्। लोचन-तारावती, पृ० 453.
4. अत एव रचनया प्रसादेन चारुत्वेन चोपबृंहिता एव शब्दो काव्ये योज्या। लोचन-तारावती, पृ० 868.
5. इतिकर्तव्यता च द्विधा–एकयाभिधाव्यापारं करोति द्वितीया व्यञ्जनाव्यापारम्। लोचन-तारावती, पृ० 1107.
6. क्रिये वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीती यदि वाभिधाव्यापारो व्यञ्जनापरपर्यायो ध्वननव्यापारश्चेति क्रिये तयोः प्रौर्वापर्य न प्रतीयते।···रसादिप्रतीतिः फलं यासाम्। तथा अनन्य त्तदेव साध्यं यासाम्। लोचन-तारावती, 1009-1010.

इसप्रकार काव्यगत शाब्दबोध की विलशणता का स्वरूप है गुणालंकारानुग्रह से युक्त रसोचित, प्रसाद तथा चारुत्व से उपबृंहित शब्द और उसकी इतिकर्तव्यता, अर्थात् अभिधा तथा व्यंजनाव्यापार।

(ग) अब तीसरा प्रश्न शेष है कि काव्यगत शाब्दबोध की इस विलशणता का प्रभाव क्या होता है ? इस प्रश्न को और भी तकनीकी बनायें तो वह इसप्रकार होगा कि प्रकृतजगत (जीवनानुभव, लोकानुभव, प्रकृति आदि) के काव्यजगत (वस्तु, काव्यवस्तु, सर्जन) में रूपान्तरण में शब्द की भूमिका क्या है ? इस प्रश्न का समाधान अभिनव ने नाट्यरस और काव्यरस में भेद बतलाकर किया है। नाट्यरस के उपादानों में आचार्यों ने विभावानुभावव्यभिचारि संयोग, अभिनय, रंगमंच-विधान, संगीत, गीत, नृत्य आदि की चर्चा की है। प्रश्न यह था कि काव्य के उपादान तो नाटक के उपादान से भिन्न हैं तब काव्य में रसास्वादन कैसे होगा ? अभिनव ने उत्तर दिया है कि काव्य में स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति का आश्रय लेकर प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणों से परिपूर्ण अलौकिक शब्द (काव्यगत विलक्षण शाब्दबोध) ही विभावादिरूप में योजित होते हैं अर्थात् काव्य में शब्द ही विभावादि-समर्पणक्षम होते हैं और इन्हीं के योग से काव्यरस की चर्वणा होती है।[1] शब्दों द्वारा प्रतिपादित विभावादि ही चर्वणा (रसप्रतीति) के विषय होते हैं और काव्यात्मक शब्दों का सारतत्त्व ही चर्वणा है।[2] इसका अर्थ यह है कि सामान्य व्यवहार में शब्द की इतिकर्तव्यता अर्थसमर्पण है और काव्यव्यवहार में विभावादिसमर्पण के माध्यम से रसचर्वणा। काव्यात्मक शब्द की इस क्षमता का अन्यत्र स्पष्ट विश्लेषण अभिनव ने भामह के 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृति' पर टिप्पणी में किया है। अभिनव के अनुसार काव्य में शब्द और अर्थ की वक्रता का तात्पर्य है उनका लोकोत्तर अर्थात् अतिशयरूप में योजित होना। इस लोकोत्तरता (विलक्षणता, अतिशय) के कारण ही प्राचीन काव्यवस्तु को नया सौंदर्य देने; लोक, जीवन,

---

1. काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्ति-वक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिक प्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता। लोचन-तारावती, पृ० 393.

2. (i) इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणा विषयतोन्मुखमिति, लोचन-तारावती, पृ० 325.

(ii) काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा दृश्यते। लोचन-तारावती, पृ० 324.

प्रकृति आदि को भावोद्बोधक्षम बनाने तथा काव्य को रसमय करने में शब्दों की सामर्थ्य निहित है ।[1]

4·6·5. काव्यगत विलक्षण शाब्दबोध का अभिनवसम्मत विवेचन निसन्देह शब्दचिंतन का नया आयाम है । 'गुणालंकारानुग्रह' तथा 'विभावादिसमर्पणक्षम' की पारिभाषिकता, काव्यगत शब्दचिंतन की दृष्टि से अभिनव की महनीय देन हैं । 'गुणालंकारानुग्रह, कुंतक की 'गुणालंकारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः' अवधारणा को दार्शनिक सिद्धि प्रदान करता है, 'परस्परस्पर्धाधिरोह' में जहाँ सक्रियता पर बल है, वहाँ 'अनुग्रह' में सृजन के अगणित आयाम पर । और इसीलिए अभिनव गुणालंकारऔचित्य से सुन्दर शब्दार्थ के ध्वननरूप में प्रसिद्ध आत्मतत्व की ही काव्यता मानते हैं—गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारः । (तारावती, पृ० 93) । ऐसे ही काव्य में हृदय को तन्मय कर देने की क्षमता होती है । हृदय के तन्मयीभाव का तात्पर्य है सहृदय की चित्तवृत्ति का प्रसार, तदरूप निमग्नता एवं द्रुति—

> काव्येतु गुणालङ्कारमनोहराशब्दार्थशरीरे लोकोत्तररसप्राणके हृदयसंवादवशात् निमग्नकारा तावद् भवति चित्तवृत्तिः ।—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० 185.

नाट्यरस के संदर्भ में हृदयसंवाद से चित्तवृत्ति के प्रसार, निमग्नत एवं द्रुति के संपादन के लिए अन्य अनेक उपादान प्राप्त हैं, किन्तु काव्यसंदर्भ में यह सारा कुछ सिर्फ शब्दसामर्थ्य से ही होना है और ऐसा होता भी है, जिसके लिए अभिनव ने गुणालंकारानुग्रह और शब्दों के विभावादिसमर्पणक्षम होने की बात कही है । पूर्वाचार्यों ने शब्दसामर्थ्य के इस आनन्त्य को समझा था जरूर, लेकिन उसे स्पष्ट संकेतित करने का श्रेय अभिनव को ही है ।

धनंजय और धनिक

4·7·1. धनंजय के 'दशरूपक' ग्रंथ पर धनिक ने विद्वत्तापूर्ण वृत्ति लिखी है । वैसे दशरूपक नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ है, किन्तु रसविवेचन के क्रम में काव्यभाषा पर

---

1. शब्दस्य हि वक्रता अर्थस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवासा—वलङ्कारस्यालङ्कारभावः, लोकोत्तरतैव चातिशयः तेनातिशयोक्तिः सर्वालङ्कार सामान्यम् । तथाहि—अनया अतिशयोक्त्या, अर्थः सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते । तथा प्रमोदोद्यानादिः विभावतां नीयते । विशेषेण च भाव्यते रसमयीक्रियते इति ।—लोचन-तारावती, पृ० 1144-1145.

भी गंभीर चिंतन आया है। धनंजय और धनिक का वास्तविक महत्त्व तात्पर्यार्थ के अभिधावादी सूत्र 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' की स्थापना की दृष्टि से है।[1]

4·7·2. यत्पर : शब्द : स शब्दार्थ : की स्थापना के क्रम में विभावों की ज्ञायमानता (जिसका ज्ञान हो सके) की व्याख्या करते हुए धनिक ने काव्य में शब्दप्रयोग के स्वरूप पर भी विचार किया।

धनंजय ने काव्य में प्रयुक्त शब्द किंवा वाक्य की रसप्रतीति में भूमिका की व्याख्या की है। उनका पक्ष यह है कि प्रकरण, वक्ता, श्रोता, देश, काल आदि के आधार पर ही हम वाक्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। शब्दतः प्रस्तुत अथवा बुद्धिस्थ क्रिया का ज्ञान भी प्रकरणादि के आधार पर होता है। इसप्रकार वाक्य में जो क्रिया (भाव) वाच्य (शब्दतः कथित) अथवा बुद्धिस्थ हो, वही वाक्य का वाक्यार्थ है। ठीक इसी तरह विभावानुभावव्यामिचारि (रूपी काव्यप्रकरण) द्वारा स्थायीभाव भी, काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्य) के रूप में प्रतीत होता है।[2] स्पष्ट है कि धनंजय काव्य में रसप्रतीति का सम्पूर्ण श्रेय वाक्यार्थ और प्रकारान्तर से शब्दनिबन्धन को देते हैं।

धनिक ने धनंजय की उपर्युक्त स्थापना की बहुविध व्याख्या की है। धनिक के अनुसार काव्य में विभाव ज्ञायमान हैं और शब्द हैं ज्ञापक, काव्य में प्रयुक्त शब्द ही अपने-अपने सम्बन्धों (अर्थ, साहचर्य आदि) से विभागों का ज्ञान कराते हैं।[3] इस बात को और भी स्पष्ट करते हुए धनिक ने कहा कि काव्य में प्रयुक्त शब्द विभाव दि की प्रतीति कराते हैं और विभावादि स्थायीभाव तथा रस की प्रतीति कराते हैं। काव्य में प्रयुक्त शब्द और विभावादि का सम्बन्ध अन्वय-व्यतिरेक का होता है। काव्य में विभावादि की प्रतीति कराने वाले शब्दों का

---

1. डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी तो यह भी मानते हैं कि 'यत्परःशब्दः स शब्दार्थः' का दृष्टिकोण साहित्यिक क्षेत्र में सबसे पहले धनिक ने स्थापित किया। **देखें**—व्यक्तिविवेक का हिन्दी भाष्य, पृ० 140.
2. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
   वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरः॥
   —दशरूपक, 4/37, संपादक : डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखंबा, 1967 ई०
3. शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्बन्धितत्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि……। दशरूपक, पृ० 184.

प्रयोग होगा तभी विभावादि की प्रतीति होगी अन्यथा नहीं। इतना ही नहीं, धनिक का स्पष्ट मत है कि काव्य में शब्दों का प्रयोग ही स्थायीभाव एवं रस की प्रतीति के लिए होता है, यही काव्यात्मक शब्द की प्रवृत्ति है, अन्यथा उनका कोई उपयोग नहीं। आनन्द ही काव्य का लक्ष्य ह, उसी के लिए विभावादि की संसृष्टि होती है और विभावादि की प्रतीति के लिए शब्दविधान होता है। शब्द (वाक्य) की अभिधान शक्ति ही विभावादि के अनुकूल, अपनी प्रतिपादक क्षमता द्वारा तत्-तत् रसों की प्रतीति कराती है। अतः काव्ययोजित शब्द (पद और अर्थ) ही विभावादि हैं और रसप्रतीति-प्रक्रिया में विभावादि से संसृष्ट रत्यादि स्थायीभाव ही वाक्यार्थ है।[1]

इस प्रक्रिया का धनिक सम्मत समीकरण है—शब्द > विभावन > स्थायीभाव प्रतीति। धनिक ने इसे स्पष्ट किया है। स्त्री-पुरुष के परस्पर अनुराग की जानकारी प्रेमीयुगल की शृंगारिक चेष्टाओं से ही होती है। उसीप्रकार काव्य में भी शृंगारिक रसों की प्रतीति आश्रय-आलम्बन की चेष्टाओं की सम्यक् योजना से होती है। काव्य में प्रयुक्त शब्द इन चेष्टाओं के वाचक होते हैं। इसप्रकार इत्यादि भावों के अनुकूल चेष्टाओं के प्रतिपादक शब्दों के श्रवण से तत्-तत् चेष्टाओं की प्रतीति (विभावन) होती है। उन अभिधेय चेष्टाओं से रत्यादि की प्रतीति लाक्षणिक तौर पर होती है।[2] इस दृष्टि से काव्य में रसबोध उक्त समीकरण की घटनप्रक्रिया का फलरूप है, जो बुनियादी तौर पर सम्यक् शब्दनिबन्धन पर आधारित है।

---

1. काव्य शब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिः वाक्यार्थः। तदेतकाव्य वाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ। दशरूपक, पृ॰ 247-248.

2. लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाऽविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः। दशरूपक, पृ॰ 253.

4·7·3. धनिक का यह सारा विवेचन तात्पर्या शक्ति की स्थापना के क्रम में आया है। ध्यातव्य है कि अभिनवगुप्त ने भी शब्दव्यापार को काव्यरस-चर्वणा का आधार माना है और धनिक ने भी। अभिनव और धनिक समकालीन थे, फिर भी दोनों एक-दूसरे से प्रभावित होकर अथवा स्वतन्त्र रूप से उद्भावना कर रहे थे, इसका निर्णयात्मक उत्तर दे सकना कठिन है, लेकिन इतना स्पष्ट है कि दोनों की धारणाओं के पीछे भट्टतौत की 'प्रत्यक्षकल्पसंवेदन' सम्बन्धी मान्यता कार्यरत है। दोनों के शब्दचिंतन का लक्ष्य है—काव्यरसप्रतीति की प्रक्रिया में शब्द-व्यापार की भूमिका का आकलन। अभिनव इसकी व्याख्या व्यंग्यमुखेन करते हैं, और धनिक तात्पर्यमुखेन। जहाँ तक रसप्रतीति में शब्दव्यापार की भूमिका का प्रश्न है, दोनों के निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं, हाँ ! अभिनव एक कदम आगे अवश्य हैं, क्योंकि इसी के आधार पर वे काव्यरस और नाट्यरस में तात्त्विक भेद की व्याख्या भी करते हैं।[1] धनिक का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने तात्पर्याशक्ति के मूल में शब्द की अभिधानशक्ति को स्वीकारते हुए, विभावादि को संसृष्टि या सर्जना माना और यही संसृष्टि रसप्रतीति का आधार है। प्रकारांतर से कहा जा सकता है कि धनिक के मत में काव्य एक संसृष्टि है, सर्जना है; जिसकी निर्मिति तथा बुनावट का सारा दारोमदार शब्द पर है।

महिमभट्ट

4·8·1. आचार्य महिमभट्ट के सामने शब्द की अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या तथा व्यंजना अथवा व्यक्ति शक्ति संबंधी अवधारणाएँ मौजूद थीं। काव्यसर्जना में शब्द की भूमिका की दृष्टि से उन्हें उपर्युक्त अवधारणाएँ शायद नाकाफी लगीं, और उन्होंने इस प्रश्न पर अनुमानमुखेन विचार किया। अपने मत की सिद्धि के लिए महिमाचार्य ने अनुमान की नैयायिक प्रक्रिया के साथ-साथ, भाषावयव संबंधी व्याकरणिक मान्यताओं की भी गंभीर विवेचना की है।

4·8·2. सबसे पहला प्रश्न तो महिमभट्ट ने यही उठाया कि शब्द का प्रयोग क्यों ? यह प्रश्न मूलतः शब्दव्यवहार की आवश्यकता से जुड़ा है। वे यह मानते हैं कि शब्दव्यवहार हमेशा साध्यसाधनभाव अर्थात् कार्यकारणक्रिया से युक्त होता है।

---

1. विद्वानों ने धनंजय, धनिक और अभिनव को समकालीन मानते हुए भी, दशरूपक और उसपर लिखी धनिक की वृत्ति को लोचन और अभिनवभारती से पहले की रचना मानने की सम्भावना पर बल दिया है। देखें :—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, डॉ० पांडुरंग वामन काणे, पृ० 247.

व्यवहारकर्ता किसी अन्य से कुछ कहना चाहता है, 'वह कुछ कहना' सुनने वाले के लिए प्रवृत्ति-निवृत्ति का जनक हो सकता है। अतः वही 'कुछ कहना' साध्य है और इस साध्य की सिद्धि के लिए शब्द साधन है अथवा कारण है। इस साध्यसाधन-भाव के कारण सभी शब्दव्यवहार अनुमानरूप हैं।[1] शाब्दव्यवहार की अनुमान-रूपता की सिद्धि के लिए ही उन्होंने शब्द के दो भेद किये—पद और वाक्य। पद के पूर्ववर्णित प्रकारों अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय की चर्चा आई है। 'नाम' पद को सत्वप्रधान कहा गया है और उसके व्याकरण सम्मत उपाधिगत भेद—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य की चर्चा के बाद ही महिमभट्ट पारंपरिक चिंतन से अलग हो जाते हैं।

महिमभट्ट का पक्ष यह है कि शब्दशक्ति उपाधिगत भेदों में नहीं है, सिर्फ क्रिया में है। समस्त नाम शब्द वस्तुतः क्रिया हैं। (ध्यातव्य है कि वैयाकरण चारों उपाधि धर्मों में पृथक्-पृथक् शक्ति मानते हैं; नैयायिक जाति, व्यक्ति और उनके समवाय संबंध में शक्ति मानते हैं और मीमांसक सिर्फ जाति में।) महिमभट्ट 'शब्द' को मूलतः प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं। शब्द की प्रवृत्तिनिमित्तता का अर्थ है, शब्द का अपने वाच्यार्थ की ओर प्रवृत्ति। अतः सभी शब्द जातिवाचक नहीं, क्रियावाचक हैं। उदाहरण के लिए 'घट' शब्द को लें। महिमभट्ट का कहना है कि 'घट' शब्द को सामान्यतः जातिवाचक कहा जाता है, किंतु 'घट' घटनक्रिया का संश्लिष्ट रूप है, अन्य कुछ नहीं। अतः घट शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त दरअसल वही घटन-क्रिया है।[2]

---

1. (i) सर्व एव हि शाब्दो व्यवहारः साध्यसाधनभावगर्भतया प्रायेणानुमान-रूपोऽभ्युपगन्तव्यः, तस्य परप्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनत्वात्…। व्यक्तिविवेक, संपादकः, डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी, पृ० 26-27.

   (ii) शब्दप्रयोगः प्रायेण परार्थमुपयुज्यते।
   नहि तेन विना शक्यो व्यवहारयितुं परः'', संग्रहश्लोक, व्यक्तिविवेक, 1/37.

2. केचित् पुनरेषां क्रियैवैका प्रवृत्तिनिमित्तमिति क्रियाशब्दत्वमेव सर्वेषां नामपदानामुपगच्छन्ति। तथा हि–घटादिशब्दाः स्वार्थे प्रवर्तमाना घटनादिक्रिया-मेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिमित्तभावेनालम्बमाना दृश्यन्ते। न घटत्वा-दिसामान्यम्। सा चैषा घटनादिक्रिया घटत्वसामान्ययोगादन्यथा वास्तु। ,व्यक्तिविवेक, पृ० 30.

शब्दमात्र की क्रियारूपता वैयाकरणिक दृष्टि से अटपटी लग सकती है, किंतु काव्यगत शब्दचिंतन की दृष्टि से इस स्थापना का अपना महत्त्व है। शब्द की प्रवृत्तिनिमित्तता उसकी बीजभूत जीवन्तता तथा सर्जनशीलता को उद्घाटित करती हैं। शब्द की इसी बीजभूत सर्जनशीलता की खोज, पहचान तथा प्रयोग कविप्रतिभा की सार्थकता है।

4·8·3. कहा जा चुका है कि शब्द की प्रवृत्तिनिमित्तता का अर्थ है अपने वाच्यार्थ की ओर प्रवृत्ति। यह वाच्यार्थ महिमभट्ट के अनुसार शब्द की गर्भस्थ घटनक्रिया ही है, अन्य कुछ नहीं। इसीलिए वे शब्द की सिर्फ एक शक्ति बतलाते हैं—अभिधा। शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त यह अभिधा या वाच्यार्थबोध है। यह वाच्यार्थ सामान्यतः उपाधिमूलक (गुणक्रियादि) नजर आता है, जो वस्तुतः घटनक्रिया का संश्लिष्ट दृश्य या बोधरूप होता है। अतः शब्दशक्तियों के रूप में चर्चित अन्य (अभिधा के अतिरिक्त) शक्तियाँ, इस विचारसरणि में वस्तुतः अर्थशक्तियाँ हैं अथवा वाच्यार्थ का ही विस्तार-विकास। इस दृष्टि से अन्य अर्थ की प्रतीति में वाच्यार्थ हेतु है।[1] इसप्रकार अन्य अर्थ (काव्यसंदर्भ में प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति) अनुमानाश्रित बतलाए गये हैं।

शब्द की एक मात्र शक्ति अभिधा मान लेने का बाद यह आवश्यक था कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए जो महिमभट्ट के विचार से भी काव्य की आत्मा है,[2] वाच्यार्थ की अर्थान्तर प्रक्रिया का प्रतिपादन किया जाय; क्योंकि इस चिन्तनसरणि में वाच्यार्थ ही विभिन्न हेतुओं (प्रकरणादि) से प्रेरित होकर प्रतीयमान अर्थ में परिणत होगा।

4·8·4. अर्थान्तरप्रक्रिया से जुड़े अनेक प्रश्न उभरते हैं। (i) पहला प्रश्न यह है कि वाच्य से प्रतीयमान तक अर्थविकास का स्वरूप क्या होगा? इस प्रक्रिया की

---

1. शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैवलिङ्गता।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीस्त्युपपादितम्", संग्रहश्लोक, व्यक्तिविवेक, 1/27.
2. आनंदवर्धन ने वाच्य और प्रतीयमान दोनों को ध्वन्यर्थ माना था, इसके विरोध में महिम का कथन है कि काव्य की आत्मा (आनंदवर्धन के शब्दों में ध्वनि) वाच्य और प्रतीयमान दोनों को नहीं माना जा सकता, आत्मा सिर्फ एक हो सकती है और वह है प्रतीयमान—केवलमैत्रवार्थस्योभयात्मनः सामान्येन यः काव्यात्मत्वेन व्यपदेशः सोऽनुपपन्नः। स हि प्रतीयमानार्थैकविषयोयुक्तः, तस्यैव काव्यजीवितभूत···। व्यक्तिविवेक, पृ० 94.

सिद्धि के लिए महिम ने अर्थ के दो भेद माने हैं—वाच्य और अनुमेय। इनमें वाच्यार्थ तो शब्दशक्ति से प्रतीत होता है और अनुमेय, वाच्यार्थ अथवा उससे प्रतीत (अनुमित) किसी अन्य अर्थ से (व्यक्तिविवेक, पृ० 47)। दूसरे शब्दों में वाच्यार्थ अन्य संगत अर्थ के अनुमान का हेतु होता है। अनुमित अर्थ का वाच्यार्थ संगत होना अनिवार्य है, अन्यथा हर अटपटा-ऊटपटांग अर्थ को अनुमेयार्थ कहा जाने लगेगा। वाच्यार्थ से अनुमित अर्थ तक की प्रक्रिया अनुमान-प्रक्रिया (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन) है, जो संगति, सादृश्य अथवा साधर्म्य से नियंत्रित होती है।[1] सादृश्य-साधर्म्य से नियंत्रित यह अनुमित अर्थ अथवा अनुमेयार्थ यद्यपि आरोपित अर्थ ही होता है; किन्तु सहृदय द्वारा अनुमित होने पर यही प्रतीयमान अर्थ कहलाता है। महिमभट्ट ने इसी क्रम में शब्द के व्यावहारिक और चामत्कारिक (अनुमेयार्थ संवलित काव्य) प्रयोग के स्वरूप को स्पष्ट किया है। शब्दप्रयोग के दो विषय हैं—पदार्थसंबंधमात्र और चमत्कारातिशय। शब्द का पदार्थसंबंधमात्र व्यवहार तो लोकव्यवहार है, किन्तु उसका चमत्कारातिशयजन्य प्रयोग कवि-प्रतिभा का विषय तथा सहृदयसंवेद्य है।[2] इसप्रकार वाच्य से प्रतीयमान तक की अर्थान्तरविकास प्रक्रिया, काव्य की विशिष्ट प्रक्रिया है, जो महिम के अनुसार गम्यगमकभाव से युक्त होती है।

(ii) अर्थान्तरप्रक्रिया से सम्बद्ध दूसरा प्रश्न यह है कि यदि शब्द अनेकार्थक हो तब उसके कौन से वाच्यार्थ का प्रतीयमान तक विकास होगा? इस प्रश्न का सम्बन्ध मूलतः काव्य के सन्दर्भ अथवा प्रकरण से है। महिमभट्ट के अनुसार प्रकरण ही अनेकार्थक शब्द के वाच्यविशेष की अर्थान्तरप्रक्रिया का नियामक है। इसकी सिद्धि के लिए महिम ने शब्द का नवीन निर्वचन तथा वर्गीकरण प्रस्तावित किया है। उनके अनुसार 'शब्द' शब्दना अर्थात् प्रकथन करता है तथा उसकी अर्थप्रतीति नियम अथवा कारणों से नियंत्रित होती है। ये कारण क्या हैं? ये कारण हैं प्रकरण-गत अथवा सामग्रीजन्य। अनेकार्थक शब्द का कोई भी वाच्यार्थ अपने दिये गये

---

1. न ह्युन्मत्तः कश्चित् क्वचित् किञ्चित् कथंचित् साधर्म्यमनुत्पश्यन्नेवाकस्मात् तत्त्वमारोपयतीति परिशीलितवक्तृस्वरूपः प्रतिपत्ता तत्त्वारोपनिमित्तं सादृश्यमात्रमेव प्रतिपत्तिमर्हति न तत्त्वम्। व्यक्तिविवेक, पृ० 114.
2. एकस्यहि सकलजगदगम्यं शाब्दिकैकविषयः पदार्थसम्बन्धमात्रम्। अपरस्य पुनः कतिपयसहृदयसंवेदनीयः सन् कवीनामेव गोचरो वाक्यार्थ चमत्कारातिशय इति। ,व्यक्तिविवेक, पृ० 230.

संदर्भ, सामग्रीपीठ अथवा प्रकरण के अनुकूल, उससे नियंत्रित होता हुआ प्रतीयमान की काष्ठा प्राप्त कर सकता है। प्रयोग की दृष्टि से इसीलिए शब्द के तीन वर्ग बतलाए गये हैं—साधु, असाधु और अपशब्द। वैयाकरणिक मान्यता यह है कि प्रकृति-प्रत्यय आदि की ठीक-ठीक व्यवस्था अर्थात् लक्षणानुगुण होने पर शब्द को साधु कहा जाता है, लक्षणरहित असाधु और अपशब्द अर्थज्ञापक व्यापार से रहित होते हैं। यहीं महिमभट्ट ने अपनी नवीन स्थापना दी है कि काव्यगत शब्दप्रयोग की साधुतादि का निर्णय वैयाकरणिक कोटियों पर आधारित नहीं हो सकता, इसका निर्णय तो कारण-सामग्री अर्थात् प्रकरण से ही हो सकेगा; क्योंकि कारण-सामग्री ठीक नहीं रहने पर साधु शब्द भी अपशब्द की कोटि में आ जाते हैं और असाधु शब्द भी ठीक कारण-सामग्री रहने पर विवक्षित अर्थ दे सकने में समर्थ होते हैं।[1]

(iii) एक ही शब्द का अनेक अर्थच्छाया में ग्रहण यह तीसरा मुद्दा है। वैसे शब्द जो अनेकार्थक नहीं हैं, फिर भी उनसे अनेक अर्थच्छायाएँ ली जाती हैं तो कैसे? महिमभट्ट ने इस समस्या का भी स्वच्छ समाधान किया है। इस प्रश्न पर गम्भीर चर्चा आई है, क्योंकि पहली नजर में एक शब्द की अनेक अर्थच्छाया अथवा अनेकार्थक होना ही उनकी इस मूल धारणा के विपरीत पड़ता है कि शब्द की एक मात्र शक्ति अभिधा है, जिससे पदार्थ सम्बन्धमात्र की जानकारी होती है। किन्तु काव्यसंदर्भ में वैसा होना वास्तविकता है। यह अर्थच्छाया है क्या? महिमभट्ट की सरणि में शब्द की अर्थच्छाया भी मूलतः वाच्यार्थ ही है, किन्तु सामग्रीवैचित्र्य के आग्रह से वह वाच्यार्थ प्रकरण के अनुकूल विशिष्ट धर्म से युक्त रहता है।[2] अतः शब्द के अनेक अर्थ अथवा अर्थच्छायाएँ सामग्रीवैचित्र्य से ही अवगमित होती है—एक एव हि शब्दः सामग्रीवैचित्र्याद् विभिन्नार्थानवगमयति। (व्यक्तिविवेक, पृ० 147)।

---

1. किञ्च न स्वभावत एव शब्दानामर्थप्रतीतिक्रम इति नियमसम्भवः, किन्तर्हि? सामग्रीवशात्। ···असाधुरपि यावत् तद्वशादनुमितवाचकभावोऽभिमतमर्थमभिदधात्येवेति सामग्रीसद्भावान्वयव्यतिरेकानुविधायिनीयमर्थान्तरप्रतीतिरित्यवसीयते। ·· एवञ्च साधुशब्दस्यापि सामग्रीवैगुण्येनावाचकत्वादपशब्दत्वमुपपन्नंभवति।, व्यक्तिविवेक, पृ० 480.

2. एकोऽपि हि शब्दः सामग्रीवैचित्र्यात् तद्धर्मविशिष्टं स्वार्थमेवावगमयतीति तदेव तत्र लिङ्गमवगन्तव्यं न शब्दमात्रम्। व्यक्तिविवेक, पृ० 500.

(iv) चौथा सवाल एक आत्यंतिक जिज्ञासा के रूप में हो सकता है कि जब अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में तथा एकार्थक शब्द अनेक अर्थों में सामग्रीवैचित्र्य के कारण नियोजित हो सकते हैं, तो क्या कोई वैसी स्थिति भी हो सकती है कि सभी शब्द सभी अर्थ में नियोजित हो सकें ? महिमभट्ट का निभ्रांत उत्तर है कि वैसा ही होता है; क्योंकि अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में जो संयोजित प्रकरण है, उसी के अनुकूल अर्थ नियंत्रित होता है और उसी अर्थ को उस शब्द का अर्थ मानलिया जाता है। वही स्थिति एकार्थक शब्द के अनेकार्थक संयोजन पर लागू है। अतः प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का ज्ञापक हो सकता है, और प्रत्येक अर्थ प्रत्येक शब्द का ज्ञाप्य, आवश्यकता है तो सिर्फ सही प्रकरण की :

सा हि यदर्थानुगुणा उपलभ्यते तमेव तस्यार्थं कल्पयतीति सर्वः शब्दः सर्वार्थ-विषयः सर्वाश्चार्थः सर्वशब्दविषयो भवितुमर्हति। व्यक्तिविवेक, पृ० 480

तात्पर्य यह है कि महिमभट्ट ने समस्त शब्दार्थव्यापार को सामग्रीवैचित्र्य से नियंत्रित अनुमान का विषय मानलिया है। व्यंजनावादियों की तर्कबुद्धि के लिए यह स्थापना उत्तेजना का विषय हो सकती है, किन्तु इसकी व्यावहारिक उपयोगिता स्पष्ट है।

4·8·5. महिमभट्ट का अन्य अनुमानवादियों की तरह ही निश्चित मत है कि बिना हेतु का न तो कोई शब्दव्यापार होता है और न ही अर्थान्तरव्यापार। अतः काव्य में इस अर्थान्तरव्यापार का भी कोई-न-कोई नियामक होगा ही, यह सहज अनुमेय है।

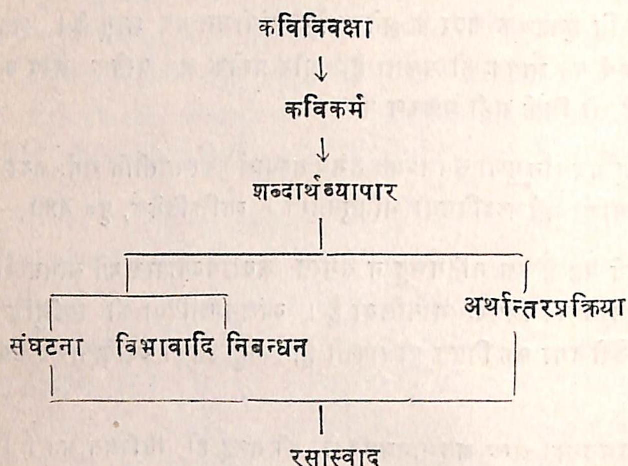
काव्य सर्जना है और महिमभट्ट भी इसे स्वीकार करते हैं। अतः काव्य कविकर्म का संसृष्ट रूप है और सहृदय इसी संसृष्टरूप का रसास्वादन करता है। इसलिए काव्यगत शब्दार्थव्यापार का अर्थान्तरव्यापार का नियामक कौन है, इस प्रश्न पर महिम ने कविपक्ष तथा सहृदयपक्ष से विचार किया है।

(i) कविकर्म की व्याख्या करते हुए महिमभट्ट ने कहा कि रसानुकूल विभावादि का निबन्धन ही कविकर्म है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।[1] यह निबन्धन शब्दाश्रित है, जो कवि की विवक्षा से नियंत्रित होता है। इसे स्पष्ट करते हुए महिम ने कहा कि शाब्दबोध में प्राधान्य तीन प्रकार का होता है—शब्दसामर्थ्यकृत,

---

1. विभावाद्युपनिबन्ध एव हि कविव्यापारो नापरः।, व्यक्तिविवेक, पृ० 142.

अर्थसामर्थ्यकृत और विवक्षाकृत। तीनों में कवि की विवक्षा ही प्रधान है[1] और काव्यबोध भी तदनुकूल ही होना चाहिए। कविविवक्षा ही काव्यसंघटना, काव्य-वस्तु तथा विभावादि के निबन्धन का नियन्त्रण करती है।[2] अतः संसृष्टरूप काव्य की समस्त संघटना तथा अर्थान्तरप्रक्रिया कविकर्म से नियंत्रित होती है, और यह कविकर्म कवि की विवक्षा से नियमित। स्पष्ट ही महिमभट्ट काव्यसर्जना की एक अनुमानाश्रित हेतुश्रृंखला का उपपादन करते हैं—



(ii) सहृदयपक्ष से महिमभट्ट ने 'प्रतीति' का प्रश्न उठाया है। मुद्दा यह है कि मानलिया कि कविविवक्षा समस्त काव्यसंपद का नियामक है, लेकिन यह नियमन सही है, इसका प्रमाण क्या होगा? महिमभट्ट का स्पष्ट उत्तर है—शब्दार्थव्यवहारे च प्रतीतिरेव प्रमाणम् (व्यक्तिविवेक, पृ० 497)। सहृदय की प्रतीति ही कविविवक्षा से नियमित शब्दार्थव्यवहार के सही होने की एकमात्र कसौटी है। काव्यसन्दर्भ में सहृदयप्रतीति का प्रश्न, 'औचित्य' के प्रश्न से जुड़ जाता है, जिसका सम्बन्ध रस से है। दोष को पारिभाषित करते हुए महिमभट्ट ने लिखा है कि विवक्षित रसादि की प्रतीति में बाधक तत्त्व ही दोष हैं, जिनके दो रूप हैं—अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग अर्थात् अर्थगत दोष साक्षात् रसभंग

---

1. शब्दार्थसामर्थ्यविवक्षाकृतानां त्रयाणामप्येकस्यैव विवक्षाकृतस्य प्राधान्यस्य बलीयस्तया तयोः समशीर्षिकाभावात्। व्यक्तिविवेक, पृ० 260.

2. व्यक्तिविवेक, पृ० 499-500.

उपस्थित करते हैं और बहिरंग अर्थात् शब्ददोष परंपरया रसभंग के हेतु होते हैं।[1] 'परम्परया', दोष व्याख्यापेक्ष है। महिमभट्ट की सरणि में शब्द से वाच्यार्थ, वाच्यार्थ से विभावादि तथा विभावादि से अनुमित रसप्रतीति का क्रम मान्य है। अतः यदि शब्द दोषपूर्ण हुए तो अन्ततः वाच्यार्थ-विभावादि से संक्रमित होता हुआ वह दोष रसभंग का हेतु होगा। इसप्रकार शब्ददोष परम्परित रूप में रसभंग का हेतु होता है। यह परम्परयां दोष का स्वरूप है। अतः महिमभट्ट ने शब्ददोषों की विस्तृत विवेचना की, रसदृष्टि से अथवा कहें कि सहृदयप्रतीति की दृष्टि से।

4·8·6. महिमभट्ट ने सिर्फ शब्ददोषों का विवेचन किया है, किन्तु अत्यन्त विस्तारपूर्वक। इसके पीछे शब्दप्रयोग में औचित्य की चिन्ता ही प्रधान है। पूर्व विवेचन में हम देख आए हैं कि औचित्य का प्रश्न द्विपाक्षिक है—कविविवक्षा तथा रसप्रतीति। अतः शब्दप्रयोग के औचित्य की समीक्षा भी इन कसौटियों, (कविविवक्षा तथा रसप्रतीति) पर की जा सकती है। महिमभट्ट ने यही किया है।

बहिरंग अथवा शब्ददोष के पाँच मुख्य प्रकार बताएँ गये हैं :—विधेयविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य तथा वाच्यावचन।

विधेय का अर्थ है प्रधानतया प्रतिपाद्य विषय। काव्य में जब ऐसे शब्द प्रयुक्त हों कि उससे मूल प्रतिपाद्य विषय अविमर्शित अथवा अस्पष्ट रह जाय, तब विधेयाविमर्श की स्थिति होती है। अतः उक्ति में विधेय-अविधेय के बीच उत्कर्षापकर्षजन्य उचित संतुलन अपेक्षित है। वैसा न होना विधेयाविमर्श दोष है। पदार्थ का आदि से अन्त तक उचित निर्वाह जिस उक्ति में न हो, वहाँ प्रक्रमभेद दोष है। क्रमदोष के अन्तर्गत लोकप्रचलित वर्णन-परिपाटी का व्युत्क्रम विचार्य है। पौनरुक्त्य दोष वहाँ होना बतलाया गया है जहाँ शब्द की पुनरुक्ति, भिन्न अर्थ अथवा भिन्न तात्पर्य के लिए नहीं, बल्कि प्रमादवश हुई हो। वाच्यावचन दोष का क्षेत्र अलंकारप्रयोग है। सामान्यतः वाच्यावाचन का अर्थ है—जिसे कहा जाना चाहिए उसका अवचन। महिमभट्ट यह मानते हैं कि रसनिषेक के लिए ही कवि काव्यसर्जन में प्रवृत्त होता है, अलंकार-चमत्कार उपस्थित करने के लिए नहीं। अतः उसका लक्ष्य अर्थसौंदर्य में अतिशय की निष्पत्ति करके रसबन्ध प्रस्तुत करना

1. एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्। अन्तरङ्गबहिरङ्गभावश्चानयोः साक्षात् पारम्पर्येण च रसभङ्गहेतुत्वादिष्टः।
व्यक्तिविवेक, पृ० 182.

है, यत्नसाध्य अलंकृति की झड़ी उपस्थित करना नहीं। इस दृष्टि से अलंकार अपने-आप में साध्य नहीं हो सकते, रसनिष्पत्ति में वे साधनमात्र हैं और दर-असल रसबन्ध प्रस्तुति के क्रम में अलंकार अपने-आप आते हैं, लाये नहीं जाते। अत: अलंकार भङ्गिभणितिभेद मात्र हैं, और वे रसबन्ध से पृथक् होकर, संदर्भहीन नहीं रह सकते।[1] रसबंध से पृथक् अलंकार की यदि सन्दर्भहीन स्थिति हो तो वही वाच्यवचन दोष होगा।[2]

शब्ददोष विवेचन में महिमभट्ट का वास्तविक महत्त्व पाठालोचन की दृष्टि से है। वे शब्दप्रयोग में औचित्य दिखलाकर ही कार्यनिवृत्त नहीं हो जाते, बल्कि तदनुरूप उचित पाठ भी प्रस्तावित करते हैं। कुछेक उदाहरण उपयोगी होंगे :

(i) संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः।
सर्वस्यैव स जातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽप्यसंरब्धवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेसरी॥

उपर्युक्त श्लोक में महिमभट्ट ने तीन विधेयाविमर्श दोष दिखलाया है—'असंरब्धवान्' (तृतीय चरण) में नञ् समास की अपुष्टि, 'योऽसौ' पद में सिर्फ 'यत्' के शब्दत: कथन तथा 'तद्' की अनुपस्थिति के कारण 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' के निर्वाह का अभाव और 'अम्बिकाकेसरी' पद में षष्ठीतत्पुरुष का, विशेष्य-विशेषणगत उत्कर्षापकर्ष संतुलन न होने के कारण अनुपपद्य रह जाना। इनके अतिरिक्त अन्य विवेचनों के बाद महिमभट्ट ने निम्नांकित पाठ प्रस्तावित किया है :

उद्योगः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य च:
सर्वस्यैव स जातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽपि नोद्युक्तवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं गौर्या हरिर्यातु सः॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० 282.

---

1. ...... सौंदर्यातिरेकनिष्पत्तयेऽर्थस्य काव्याक्रियारम्भः कवेः, न त्वलङ्कार निष्पत्तये, तेषां नांतरीयकतयैव निष्पत्तिसिद्धेः भङ्गिभणितिभेदानामेवालंकारत्वोपगमात्।......

न चालङ्कारनिष्पत्त्यै रसबन्धोद्यतः कविः।
यतते ते हि तत्सिद्धिनान्तरीयकसिद्धयः॥ संग्रह श्लोक-75, पृ० 397.

2. यत्रान्यस्यालङ्कारस्य विषयेऽलङ्कारान्तर निबंधः सोऽपि वाच्यावचनं दोषः।
व्यक्तिविवेक, पृ० 391.

(ii) एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत
यहाँ महिमभट्ट का कहना है कि मंत्रियों द्वारा कहे जाने के बाद, 'रावण बोला' के स्थानपर 'रावण कहने लगा' पाठ होना चाहिए। अतः प्रस्तावित पाठ है—
एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यवोचत —व्यक्तिविवेक, पृ० 290.

(iii) वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव
अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता ॥
यहाँ द्वितीय् चरण में इव पदप्रयोग पुनरुक्त है, अतः महिमभट्ट ने पाठसंशोधन प्रस्तावित किया है—
वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव ।
गेयस्य वाङ्मयस्याहो अपर्यन्ता विचित्रता ॥
—व्यक्तिविवेक, पृ० 349.

इसीप्रकार अन्य पाठसंशोधन भी प्रस्तावित किये गये हैं। शब्ददोष सम्बन्धी विवेचन का महत्त्व विध्यात्मक दोषदर्शन है अर्थात् पूर्वाचार्यों की तरह महिमभट्ट सिर्फ दोष बतलाकर ही चुप नहीं रह जाते, बल्कि अपनी दृष्टि से अन्य उपयुक्त शब्दप्रयोग भी प्रस्तावित करते हैं। उनके प्रस्ताव सही हैं या गलत यह एक भिन्न प्रश्न है, मुद्दा सिर्फ इतना है कि उन्होंने कविविवक्षा तथा रसप्रतीति के संदर्भ में शब्दप्रयोग की सूक्ष्म विवेचना की है। ऐसी विवेचना पूर्वाचार्यों ने भी की है, किन्तु महिमभट्ट का वैशिष्ट्य दो दृष्टियों से है—अनुमानसरणिगत विवेचन तथा पाठालोचन।

4·8·7. सामान्य शब्दव्यवहार और काव्यगत विशिष्ट शब्दव्यापार के अन्तर को महिमभट्ट ने स्वाभावोक्ति के प्रसंग में स्पष्ट किया है। प्रश्न है कि स्वाभावोक्ति अलंकार कैसे है ? महिमभट्ट इसका सटीक उत्तर देते हैं। संसार में वस्तु के दो रूप हैं—सामान्य और विशिष्ट। वस्तु का सामान्य अथवा स्थूलरूप सभी को नजर आता है और शब्द भी वस्तु के उसी सर्वसामान्य रूप का अर्थसंकेत करता है। किन्तु वस्तु का एक विशिष्ट अथवा सूक्ष्मरूप भी होता है। वस्तु का यह विशिष्ट अथवा सूक्ष्मरूप उसकी मूल प्रकृति का संवेद्य पक्ष है। किन्तु वस्तु का वह संवेद्यरूप सर्जना के निगूढ़ क्षणों में ही प्रत्यक्ष होता है, कविप्रतिभा ही उसे उन्मीलित कर पाती है। सर्जना के क्षणों में कविप्रतिभा वस्तु की उक्त दृशा (Vision) को ग्रहण करती है और उसके (कविप्रतिभा के) आग्रह से तदनुकूल शब्दों

में कवि की दृशा प्रत्यक्षवत् उपस्थित होती है। इस प्रक्रिया से स्पष्ट करते हुए महिमभट्ट करते हैं :

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥

--संग्रहश्लोक, व्यक्तिविवेक, 2/117.

कवि जब सर्जनशील होता है तब उसकी मूल विवक्षा होती है रसनिषेक। कविविवक्षा की सिद्धि कई प्रक्रियायों से प्राप्त होती है--चित्त की स्तमित अथवा समाधि अवस्था→ शब्दचिन्तन→ स्वरूपस्पर्श (आत्मसाक्षात्कार तथा शब्दस्वरूप का साक्षात्कार)→ दृशा के अनुकूल शब्दचयन→ प्रस्तुति।

स्वाभावोक्ति इसीलिए अलंकार है कि वस्तुस्वभाव भी वहाँ साक्षात्वत् होता है, वक्तव्यवत् नहीं। महिमभट्ट का पक्ष यह प्रतीत होता है कि वस्तुस्वभाव का शब्दों के माध्यम से प्रत्यक्षीकरण अथवा संवेद्य बनाया जाना काव्य का धर्म है। इसीलिए कविप्रतिभा को शिव का तृतीय नेत्र कहा गया है, —तृतीय नेत्र त्रिकालज्ञ तो है ही,[1] साथ ही वस्तु के स्थूलरूप को नष्ट करके उसकी अनंगरूप मूलप्रकृति को भी प्रत्यक्षवत् संवेद्य बना सकने में भी समर्थ है। इसी दृष्टि से महिमभट्ट ने छंद को भी अलंकार माना है; क्योंकि छंद भी यमक-अनुप्रास की तरह चारुता का आधान करते हैं, अपनी श्रव्यता या श्रुतिसुखदता के कारण--अत एवं यमकानुप्रासयोरिव वृत्तस्यापि शब्दालङ्कारत्वमुपगतमस्माभिः

—(व्यक्तिविवेक, पृ० 235.)

आचार्य रुय्यक

4·9·1. आचार्य रुय्यक के व्यक्तिविवेक-व्याख्यान में शब्दचिन्तन संबन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ मिलती हैं। रुय्यक के अनुसार शब्द का धर्म ही यद्यपि अर्थप्रकाशन है, फिर भी वैसा तबतक नहीं हो सकता जबतक 'शब्द' स्वयं अर्थस्वरूप तत्त्वान्तरित न हो जाय। इसकी पुष्टि में उन्होंने वाक्यपदीय (1/56) का

1.……सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकाल्यवर्तिनः॥ 118।
अर्थस्वभावस्योक्तिर्या सालङ्कारतया मता।
यतः साक्षादिवभान्ति तत्रार्थाः प्रतिभार्पिताः॥ 120।

व्यक्तिविवेक, संग्रहश्लोक।

प्रमाण प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार उन शब्दों के अर्थ प्रकाशित नहीं होते जो स्वयं वस्तुरूप नहीं बन जाते ।[1] इसका तात्पर्य है शब्द (ध्वनि) तथा अर्थ (वस्तु) की अभेदस्थिति। नामरूपात्मक जगत में 'नाम' (शक्ति) से रूप (वस्तु) जाना जाता है और रूप से नाम, यह शब्दचिन्तन की बुनियादी धारणा है। शब्दों का अर्थरूप अथवा वस्तुरूप में तत्त्वांतरण की धारणा निस्संदेह महत्त्वपूर्ण है और वैसे ही वस्तु अथवा अर्थ का शब्दरूपग्रहण। संभवतः रुय्यक ही पहले आचार्य हैं, जो काव्यशास्त्रीय संदर्भ में इस प्रक्रिया की ओर संकेत कर सके हैं।

4·9·2. इसी संदर्भ में एक प्रश्न यह भी उठता है कि शब्दों का यह तत्त्वान्तरण किस अर्थ अथवा किन अर्थों में होता है। काव्यगत शब्दप्रयोग की दृष्टि से यह प्रश्न कुछ इसप्रकार होगा कि काव्य में प्रयुक्त शब्दों का तत्त्वान्तरण सिर्फ कोश, व्याकरण आदि से विहित अर्थों में होगा या उनसे भिन्न अन्य अर्थों में भी; क्योंकि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि काव्य में प्रयुक्त शब्द ऐसे अर्थों में तत्त्वांतरित होते हैं कि कोशगत प्रचलन तथा व्याकरणगत व्युत्पत्तिमूलकता वहाँ तक पहुँच नहीं पाती। आचार्य महिमभट्ट ने यहाँ प्रधानता का प्रश्न उठाया है, जिसका विश्लेषण हम पहले ही कर आये हैं। रुय्यक भी, महिमभट्ट की तरह, काव्य में कविविवक्षा को ही प्रधान मानते हैं, साथ ही यह भी कि कविविवक्षा ही काव्यगत अर्थचमत्कार का उत्स है।[2] जाहिर है कि रुय्यक की दृष्टि में भी शब्द के अर्थतत्त्वांतरण की दिशा कविविवक्षाकृत है। यह कविविवक्षाकृत तत्त्वांतरण शब्दसामर्थ्य तथा अर्थसामर्थ्य से भिन्न है। शब्दार्थसामर्थ्य का संबंध व्याकरण से है, किंतु कविविवक्षा सहृदयसंवेद्य होती है, शास्त्रनियंत्रित नहीं। काव्य में जहाँ वैयाकरण की विवक्षा होती है, वहाँ उससे भिन्न कविविवक्षाकृत प्राधान्य ही वास्तविक प्राधान्य है।[3]

---

1 शब्दोऽप्यध्यवसायाश्रयेण स्वरूपं प्रकाशयन्नर्थप्रकाशकः।
विषयत्वमनापन्नैश्शब्दैर्नार्थः प्रकाशयते।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीता प्रकाशकाः,, (वाक्यपदीय, 1/56)
—व्यक्तिविवेक (व्याख्यान), पृ० 85.

2. तत्र त्रिषु प्राधान्येषु विवक्षाकृतमेव प्राधान्यं प्रधानम्। ततकृतत्वात् काव्यार्थचमत्कारस्य। —व्यक्तिविवेक (व्याख्यान), पृ० 261.

3. अन्यस्य तु कविगोचरस्य वास्तवत्वं तदेवार्थत्वम्। इह पुनः सहृदयैकगोचरस्य कविविवक्षावशाद्विवक्षिकत्वमुच्यते। शाब्दिकैकविषयस्यशाब्दत्वमित्यपेक्षाभेदात्···
—व्यक्तिविवेक (व्याख्यान), पृ० 261.

4·9·3· विषय के उत्कर्षापकर्षाधान की इच्छा को रुय्यक ने कविविवक्षा कहा है:, जो वस्तुतः कवि का मूल संवेदनात्मक उद्देश्य है। कवि की विवक्षा अथवा मूल संवेदनात्मक उद्देश्य अभिव्यक्ति वस्तुतः बड़ी जटील है। विवक्ष अथवा मूल सवेदनात्मक उद्देश्य निर्विकल्प संपूर्णता में अभिव्यक्त भी नहीं हो सकता। अपनी निर्विकल्प संपूर्णता के लिए कवि सविकल्प संपूर्ण 'शब्द' का माध्यम चुनता है। फलतः शब्दों की सविकल्प अपूर्णता में कवि की निर्विकल्प संपूर्ण विवक्षा अथवा मूल संवेदनात्मक उद्देश्य निहित होता है, गोप्य होता है; जिसे सिर्फ सहृदय ही जान पाता है। यह गोप्यमानता शब्दों के अर्थरूप तत्त्वांतरण की अनिवार्य स्थिति है। रूय्यक स्पष्ट कहते हैं कि गोप्यमानता की यह जटिलता सिर्फ सहृदय ही हल कर सकता है—यतः काव्यार्थों गोप्यमानत्वेन प्रतिपतृमात्रस्याप्रतिभातः सहृदयस्यैव भासते (व्यक्तिविवेक, पृ० 64)। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर काव्यगत शब्द-प्रयोग की भूमिका का रुय्यक सम्मत समीकरण इसप्रकार बनता है—

कविविवक्षा > शब्द > गोप्यमानता > अर्थस्वरूप तत्त्वांतरण > सहृदयसंवेद्य कविविवक्षा।

उक्त समीकरण में गोप्यमानता संबंधी रूय्यक की स्थापना, काव्यगत शब्द-चिन्तन की एक नयी कड़ी है, जिससे काव्यभाषा के एक मूलतत्त्व का उद्घाटन होता है।

पंडितराज जगन्नाथ

4·10·1. पंडितराज के समस्त काव्यचिन्तन का बीजतत्त्व है रमणीयता और स्वभावतः वह उनके शब्दचिन्तन की धुरी भी है—रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् का यही स्वारस्य है (रमणीयता को पंडितराज ने बुनियादी कसौटी बनाकर काव्यचिन्तन के सभी संदर्भों का पुनर्मूल्यांकन किया है। अतः उनके शब्दचिन्तन को समझने के लिए 'रमणीयता' और उसके 'प्रतिपादक शब्द' की व्याख्या अपेक्षित है।

4·10·2. काव्यलक्षण में 'शब्द' को पुनर्प्रतिष्ठित करने के क्रम में पंडितराज ने काव्यघटक का प्रश्न उठाया है। किसी कथन, उक्ति अथवा रचना को हम काव्य क्यों कहते हैं? इसके उत्तर में पूर्ववर्ती आचार्यों ने अलंकार, रीति, गुण, रस, वक्रोक्ति, पाक, साहित्य, संसृष्टि आदि सिद्धांत दिये और शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ को काव्य का घटक मानकर अपने-अपने काव्यलक्षण निर्धारित किये हैं। पंडितराज ने शब्दार्थ, गुणालंकार, रसादि को काव्य का व्यवच्छेदक तत्त्व मानने का खंडन किया।

उन्होंने स्पष्ट कहा कि शब्दार्थ काव्य नहीं है, क्योंकि व्यवहार में काव्य पढ़ा जा रहा है,' 'काव्य से अर्थ समझा जाता है,' 'काव्य सुना पर अर्थ ज्ञात नहीं हुआ' आदि प्रयोग होते हैं। अतः शब्दार्थ-युगल काव्य है इसका कोई लोकसिद्ध प्रमाण नहीं। उसीप्रकार 'रसोदबोधन में जो समर्थ (आस्वाद्य) हो वह काव्य है,' यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि तब संगीत और नाट्यंगों में अभिनयादि भी काव्य हो जाएँगे।[1] यदि रसात्मकता से काव्य माना जाय तो वस्तु तथा अलंकार से युक्त काव्य का बहुलांश 'काव्य संज्ञा' नहीं प्राप्त कर सकेगा।[2] गुण और अलंकार को भी काव्यत्व का हेतु नहीं माना जा सकता, क्योंकि गुण शौर्यादि की तरह आत्मधर्म हैं और अलंकार शरीर के उपस्कारक।[3] जाहिर है कि पंडितराज के मत में काव्यघटक कुछ और है, और वह है शब्द—शब्द भी सामान्य नहीं, बल्कि रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द। शब्दार्थ द्वैत के बजाय पंडितराज ने शब्दाद्वैत को स्वीकार किया है।

अंततः सवाल उठता है कि पंडितराज ने 'शब्द' पर इतना बल क्यों दिया तथा 'शब्द' से उनका अभिप्रेत क्या है? इसकी थोड़ी खोजबीन आवश्यक है।

काव्यगत 'शब्द' के विशेषण के रूप में पंडितराज ने 'प्रतिपादक' पद का प्रयोग किया है। यह 'प्रतिपादकता' क्या है? काव्यशास्त्रीय चिंतन में पंडितराज से पूर्व काव्यगत शब्द के विशेषण के तौर पर लक्षक, व्यंजक, तात्पर्यबोधक आदि

---

1. "……शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात्। 'काव्यमुच्चैः पठ्यते, 'काव्यादर्थोऽवगम्यते', 'काव्य श्रुतमर्थो न ज्ञातः', इत्यादि विश्वजनीन-व्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च। ··यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्, तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्टमित्याहुः, तन्न, रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिकसम्मतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः। किं बहुना नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथात्वेन तत्त्वापत्तिदुर्वारैव।—रसगंगाधर, प्रथम भाग, चौखम्बा, 1970, पृ० 15-18।

2. यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न वस्त्वलंकार-प्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टाऽऽपत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात्।—रसगंगाधर, प्रथम भाग, पृ० 25।

3. लक्षणे गुणालङ्कारदिनिवेशोऽपि न युक्तः। ······शौर्यादिवदात्मधर्माणां गुणानाम्, हारादिवदुपस्कारकाणामलङ्काराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च।
—रसगंगाधर, प्रथम भाग पृ० 21-24।

के प्रयोग रूढ़ हो चुके थे। स्पष्ट है कि पंडितराज का मंतव्य उनसे व्यक्त नहीं होता रहा होगा, इसीलिए उन्होंने 'प्रतिपादक' विशेषण का प्रयोग किया। 'प्रतिपादन' के कोषगत अर्थ दान, बोधन, प्रतिपति हैं और 'प्रतिपत्ति' के प्रवृत्ति, प्रागल्भ्य, कर्तव्यताज्ञान आदि।[1] अतः प्रतिपादन शक्ति का अर्थ है देने, बोधन करने प्रवृत्ति करने और इतिकर्तव्यता का ज्ञान कराने वाली शक्ति। इन शक्तियों से जो युक्त है वह प्रतिपादक है। इनके साथ ही प्रतिपादक वह भी है जो किसी लब्धि का हेतु हो (causing to obtain), प्रस्तोता हो (presenting to) निदर्शक हो (demonstrating), उद्घाटक हो (explaining), प्रभावक हो (effective); गुण-सपन्न, सुसंस्कृत एवं योग्य निष्पादक हो (accomplishing) तथा क्रियात्मक रूप से अभिवर्धक (promoting) हो।[2]

शब्द के लिए 'प्रतिपादक' विशेषण का प्रयोग करते समय पंडितराज की प्रज्ञा निश्चय ही इसके अनेक अर्थ-अवबोधों के प्रति संवेदनशील रही होगी। इन विभिन्न अर्थों के साथ-साथ अनेक अर्थच्छायाएँ भी जुड़ी हैं। इस दृष्टि से पंडितराज का प्रतिपादक शब्द—

(i) रमणीयार्थ देने और उसके बोध (ज्ञानपक्ष),

(ii) रमणीयार्थ-लब्धि का हेतु, प्रस्तुति और निदर्शन (प्रमा अथवा विषय का प्रस्तुति पक्ष), तथा

(iii) रमणीयता के उद्घाटन, निष्पादन और विभाजन (सर्जनपक्ष)।

में समर्थ काव्यघटक है, जो शरीर की प्राणवान् कोशिकाओं की तरह जीवंत तो है ही, स्वतः सर्जनशील भी है। संक्षेप में पंडितराज का 'प्रतिपादकशब्द' सक्रिय एवं सर्जनशील शब्द का पर्याय है। इस दृष्टि से शब्द की प्रतिपादन शक्ति की जद में अलंकार, रीति, गुण, रस, आह्लाद आदि सभी आ जाते हैं। पंडितराज का पक्ष यह है कि काव्य में प्रयुक्त शब्द को अनिवार्यतः सर्जनशील होना है; उन्हें सिर्फ अर्थवान् ही नहीं, बल्कि अपने आप में एक सृष्टि होना है। शब्दों की यह सर्जनशीलता सिर्फ वाचक, लक्षक अथवा व्यंजक नहीं है, बल्कि इन सभी की समवायधार्मिता है। शब्द की इस सर्जनशीलता की पहचान सिर्फ कविप्रतिभा कर पाती है, व्युत्पत्ति

1. शब्दस्तोममहानिधि, पृ० 745।
2. संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, सर मोनियर विलियम्स, पृ० 667।

तथा अभ्यास नहीं, इसीलिए पंडितराज ने सिर्फ प्रतिभा को ही काव्यहेतु माना है।[1]

4·10·3. प्रतिपादक शब्द के उपरिविवेचित तीनों पक्ष—ज्ञान, प्रमा तथा सर्जन की नाभिक है 'रमणीयता'; काव्यगत शब्द रमणीयता का ही ज्ञान कराता है, रमणीयता को ही प्रस्तुत तथा रमणीयता का ही सर्जन। अतः 'रमणीयता' का अर्थानुसंधान आवश्यक है :

(क) रसगंगाधर में रमणीयता को व्यापक अर्थसंदर्भ दिया गया है, जिसका क्रमविकास इसप्रकार है—

(i) रमणीयता च लोकोत्तर आह्लादजनक ज्ञानगोचरता।

(ii) लोकोत्तरत्वं च आह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। कारणं च तत् अवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनः अनुसंधानात्मा।

(iii) चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकताऽवच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनकताऽवच्छेदकार्थ प्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्, प्रथम भाग, पृ० 10-12।

पण्डितराज की दृष्टि में 'रमणीयता' ऐसा ज्ञान है, ऐसी संवेदनशीलता है जिससे लोकोत्तर आह्लाद उत्सर्जित होता है। यह लोकोत्तरता कोई मानवीय अनुभव से परे की स्थिति नहीं; बल्कि बार-बार, अविच्छिन्न रूप से अर्थानुसंधान अथवा भावना विशेष के कारण कवि तथा सहृदय की संकेन्द्रित चित्तवृत्ति में उत्पन्न आह्लादजन्य चमत्कार है। इसका और भी परिष्कार करते हुए पण्डितराज ने कहा कि (i) चमत्कार उत्पन्न करने वाली भावना के प्रतिपादन शब्द,

(ii) वैसे शब्द से प्रतिपादित अर्थ की भावना (ज्ञान) में चमत्कार उत्पन्न करने वाले तत्त्व और उनकी स्वविशिष्टता, तथा

(iii) उस स्वविशिष्टता के संसर्ग से निष्पन्न सम्पूर्ण चमत्कार (Beauty as a whole) ही काव्य है।

---

3. तस्य च कारणं कविगता केवल प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।—रसगंगाधर, प्रथम भाग पृ० 27।

पण्डितराज की इस प्रकांड न्यायशब्दावली में वस्तुतः तीन ही तत्त्व हैं—शब्द, भावना (बौद्धिक ज्ञान तथा आत्मिक अह्लादजन्य क्रिया) और चमत्कार। अतः 'रमणीयता' के सूत्र इस प्रकार बनते हैं—

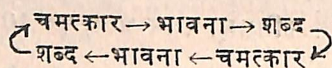
(i) 'चमत्कार' जो विशिष्ट शब्दप्रयोग से उत्पन्न होता है, स्वविशिष्ट तथा लोकोत्तर आह्लादकारक एवं साध्य है,

(ii) 'शब्द' जो चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ हैं और

(iii) भावना जो शब्द और चमत्कार के मध्य 'संसर्ग' अथवा साहचर्य स्थापित करनेवाला तत्त्व है।

(iv) अविच्छिन्न भावनाविशेष पुनः पुनः अनुसंधानात्मा का अन्वय कवि, कविता और सहृदय तीनों पक्ष में होता है। तीनों पक्षों में शब्द, भावना एवं चमत्कार का पारस्परिक अनवरत, अविच्छिन्न तत्त्वांतरण-संचरण होता रहता है।

इस प्रकार रमणीयता का सूत्रवृत्त निम्नांकित होगा—



पण्डितराज का पक्ष यह प्रतीत होता है कि काव्यरचना तथा काव्यास्वाद की प्रक्रिया, उपर्युक्त सूत्रवृत्त अर्थात् 'अविच्छिन्न भावनाविशेष पुनः पुनः अनुसंधान' के रूप में चलती रहती है।

(ख) रमणीयता का अर्थानुसंधान एक अन्य स्रोत से भी किया जा सकता है। रमणीयता रमणी (युवती) एक सहज गुण है। आचार्य रुय्यक ने युवती की रमणीयता का निरूपण 'सहृदयलीला' में किया है। उनके अनुसार गुण, अलंकार, जीवित और परिकर, युवती के ये चार उत्कर्षहेतु हैं। रूप, वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य, छाया और सौभाग्य ये युवती के शोभा-विधायी धर्म या 'गुण' हैं। रत्न, स्वर्ण, अंशुक, माला, मण्डनद्रव्ययोजन तथा प्रकीर्ण अर्थात् श्रमजल, मधुमद आदि ये 'अलंकार' हैं। शोभा के द्वारा अनुप्राणित करनेवाला यौवन ही 'जीवित' है। गुण, अलंकार तथा जीवित को व्यक्त करनेवाले तत्त्व परिकर हैं। शोभा (सौंदर्य) के समुत्पादक, समुद्दीपक, अनुप्राणक और

व्यंजक ही क्रमशः गुण, अलंकार, जीवितऔर परिकर हैं। ये परस्पर उपकारक हैं, अनुग्राहक हैं।[1]

रुय्यक की उपर्युक्त धारणाओं को पण्डितराजसम्मत 'रमणीयता' पर घटित करें तो बात स्पष्ट हो जायगी। पण्डितराज 'कविता-वनिता' को रूपायित करने वाले हिंदी के रीतियुग की देन हैं। उन्हें संस्कृत की परम्परा तथा वैदुष्य मिला था, तो रीतियुग में निखर आई ब्रजभाषा की कोमलकांत पदावली का परिवेश भी। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेंद्र प्रभृति आचार्य लावण्य, चारुत्व, चमत्कार आदि शब्दों को काव्यसौंदर्य के लिए पारिभाषिकतः रूढ़ कर चुके थे: किन्तु 'रमणी' की 'रमणीयता' कि जिसके कारण रसिक का मन रम जाय, काव्य पर घटित करने का श्रेय जगन्नाथ को है। रमणी के आभिजात्य, विलास आदि गुण; रत्न, स्वर्ण, मण्डनद्रव्यादि अलंकार; यौवनरूप जीवित तथा उन तीनों को व्यक्त करनेवाले परिकर का समवायरूप रमणीयता है, ऐसा रुय्यक मानते हैं। जगन्नाथ का पक्ष भी यही है कि काव्य के गुण, अलंकार, रत्न तथा अन्य उपस्कारक तत्त्व का समवायरूप रमणीयता है। इसी रमणीयता को प्रतिपादित करने वाले 'शब्द' काव्य हैं। इस दृष्टि से जगन्नाथ की रमणीयता न सिर्फ दण्डी के 'इष्टार्थ' तथा वामन के 'सौंदर्य' को आत्मसात कर लेती है, बल्कि आनन्दवर्धन की 'सहृदय-श्लाघ्यता', कुन्तक की 'स्वस्पंदसुन्दरता' तथा क्षेमेंद्र के 'चमत्कारौचित्य' को भी व्यंजित करती है।[2]

---

1. "· युवत्यादीनामुत्कर्षो देहे गुणालंकारजीवितपरिकरेभ्यः ॥1/2॥ तत्र शोभा-विधायिनो धर्मा गुणाः ॥1/3॥

रूपम् वर्णः प्रभा राग आभिजात्यं विलासिता।
लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः ॥1/4॥
रत्नं हेमांशुके माल्यं मण्डनद्रव्ययोजने।
प्रकीर्णं चेत्यलंकाराः सप्तैवैते मया मताः ॥2/1॥

शोभया अनुप्राणकं यौवनाद्यं जीवितम् ॥3/1॥ शोभाया आरादुपकारकत्वाद्व्यंजकः परिकरः॥4/1॥ एवं शोभासमुत्पादकसमुद्दीपकानुप्राणकव्यंजकाः क्रमाद्गुणालंकारजीवितपरिकरः ॥4/5॥ एवं परस्परोपकारकत्वादितरेतरानुग्राहकत्वं सिद्धं ॥4/6॥

—सहृदयलीला, सम्पादकः डॉ० आर० पिशल, प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, 1968 ई०।

2. डॉ० सुमन पांडेय, "जगन्नाथ' स रमणीयता" शीर्षक निबन्ध, प्रिन्सिपुल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत, सम्पादक: डॉ० आर०सी० द्विवेदी, पृ० 193।

अतः रमणीयता काव्यगत लोकोत्तर आह्लाद या चमत्कार की नाभिक है, जो एक ओर तो वस्तुरूप में किसी लावण्यमयी युवती की पूरी कशिश लिये हैं और दूसरी ओर विषयीरूप में सहृदय की समस्त संवेदनधर्मिता को स्पंदित करने में समर्थ। वैसे ही 'भावना' अर्थानुसंधान की असीम संभावित दिशाओं की ओर संकेत करती है। पुनः पुनः अनुसंधान न सिर्फ कविपक्ष में सही है, बल्कि सहृदयपक्ष में भी यथार्थ, इस दृष्टि से कि रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द अर्थानुसंधान के सारे आयाम खोल देते हैं; यह बात दूसरी है कि कौन कितना अर्थ देता अथवा लेता है।

4·10·4. 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्, सूत्र को पंडितराज ने गुण, अलंकार, रस, ध्वनि आदि के विवेचन-प्रसंगों में भी घटित किया है। तत्संबन्धी संक्षिप्त चर्चा प्रस्तावित है :

(क) **गुण** : पंडितराज के पूर्व गुण संबंधी मुख्यतः दो परस्पर विरोधी मान्यताएँ थीं—संघटनाश्रित गुण और गुणाश्रित संघटना। वामन, उद्भटादि संघटनाश्रित गुण मानते हैं —शब्दार्थधर्म के रूप में। ध्वनिकार स्पष्टतः गुणाश्रित संघटना का प्रतिपादन करते हैं, जिस बीज को अभिनवगुप्त और विशेषतः मम्मट ने पल्लवित करके निर्विकल्प रूप में गुण को रसधर्मरूप में स्थापित किया।[1]

पंडितराज का दृष्टिकोण अधिक व्यापक है और अपेक्षया आनंदवर्धन के निकट भी। गुणाश्रित संघटना को मानते हुए भी आनंदवर्धन ने संघटनाश्रित गुण संबंधी अवधारणा का पूर्ण निषेध नहीं किया था, सिर्फ रसव्यंजक होने की शर्त थी। पंडितराज ने कुछ अधिक परिष्कृत सामंजस्य से काम लिया है :

(i) वामनसम्मत गुणसंख्या तथा भेद को जगन्नाथ स्वीकार लेते हैं। इन्होंने भी दस शब्दगुण तथा दस अर्थगुण को मान्यता दी है, परंतु वामनीय अवधारणाओं को परिष्कृत करके।

(ii) दूसरी तरफ वे रसध्वनि-सरणि की, चित्तवृत्ति (द्रुति, दीप्ति, प्रसादन) के आधार पर गुणत्रय की अवधारणा (माधुर्य, ओज, प्रसाद) को भी स्वीकार कर लेते हैं।

---

1. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ काव्यप्रकाश, 8/66

उपर्युक्त दोनों परस्परविरोधी अवधारणाओं की एक साथ सिद्धि, गुण को रसधर्म अथवा रस को गुणधर्म मानने से संभव नहीं थी, फलतः पंडितराज ने गुण और रस के अन्तस्संबंधों की पुनः परीक्षा की :

(i) गुण रस के धर्म नहीं हैं, पंडितराज ने यह स्पष्ट घोषणा की, क्योंकि रस काव्य की आत्मा है और 'आत्मा' निर्गुण होती है, ऐसी अद्वैतवादियों की मान्यता है, अतः रस का भी कोई गुण नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि काव्यात्मरूप रस की रति आदि उपाधियाँ हैं और गुण उनके धर्म हैं, तो जगन्नाथ को यह भी स्वीकार नहीं, क्योंकि एक तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं और दूसरे यह कि उपाधि स्वयं गुण है और गुण में गुण नहीं होता। प्रश्न हो सकता है कि तब शृंगार मधुर है आदि कथन कैसे किया जाता है? जगन्नाथ का स्पष्ट उत्तर है कि उसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि 'शब्द मधुर हैं', 'अर्थ मधुर है,' 'रचना ओजस्वी है, आदि, सो कैसे? इसका मतलब है कि गुण और रस का अन्तस्संबंध कुछ और ही है, जिसे पूर्वाचार्य नहीं पकड़ सके हैं। पंडितराज उस अन्तस्संबंध को 'प्रयोजकता संबंध' कहते हैं। जैसे आयुर्वेद में अश्वगंधा को उष्ण कहा जाता है, जबकि स्पर्शादि से वहाँ उष्णप्रतीति नहीं होती। अश्वगंधा की उष्णता उसके प्रयोग में है, सेवन करने पर शरीर में गरमी आती है, यह अनुभवसिद्ध है। अतः अश्वगंधा उष्णप्रयोजक है। इसीप्रकार शृंगार माधुर्यप्रयोजक या द्रुतिप्रयोजक है। द्रुति, दीप्ति तथा प्रसादन चित्तवृत्तियाँ हैं, और गुण का स्वरूप है—द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकता। यह प्रयोजकता अर्थात् चित्त को द्रवित, दीप्त तथा प्रसादित करने की शक्ति न सिर्फ रस में, बल्कि शब्द, अर्थ तथा संघटना में भी है।[1]

द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकता को गुणस्वरूप मान लेने का बड़ा लाभ यह है कि शब्द, अर्थ, संघटना तथा रस के पारस्परिक संबंधों पर काव्यशास्त्रीय चिंतन

1. किञ्चात्मनो निर्गुणतयाऽऽत्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम। एवं तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानभावात्, पररीत्या गुणे गुणान्तरस्यानौचित्याच्च। 'अथ शृङ्गारो मधुरः, इत्यादिव्यवहारः कथमिति चेत्, एवं तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु। व्यवहारस्तु 'वाजिगन्धोष्णा' इति व्यवहारवदक्षतः। प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थ-रस-रचनागतमेव ग्राह्यम्, अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः। तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्यः, इति तु मादृशाः। —रसगंगाधर, प्रथम भाग, पृ० 224-227।

में चले आ रहे विवाद का एक व्यावहारिक समाधान मिल जाता है। काव्यास्वाद वस्तुत: एक चित्तावस्थाविशेष है और उस चित्तावस्था तक सहृदय को आकृष्ट करने में शब्द, अर्थ, संघटना एवं रस की अपनी-अपनी भूमिकाएँ हैं, कभी स्वतंत्ररूप में और कभी समवायरूप में। पंडितराज ने बिना किसी पूर्वग्रह के इस व्यावहारिक स्थिति को मान्यता दी है, यह गुणविवेचन के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है।

(ii) काव्यगुण के बारे में पंडितराज की दूसरी महत्त्वपूर्ण स्थापना गुण की व्यंजकता से संबद्ध है। इस संदर्भ में भी व्यावहारिक सौकर्य का आश्रय लिया गया है। ध्वनिसिद्धांत में वर्ण एवं रचना को गुणाभिव्यंजक माना गया है और ध्वनिव्यंजक भी—पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादय: (काव्यप्रकाश, 4/61)। पंडितराज ने भी प्राचीनतम कहकर इसकी चर्चा की है—तदित्थं निरूपितस्यास्य रसादिध्वनिप्रपञ्चस्य पदवर्णरचनावाक्य प्रबन्धै: पदैकदेशै रवर्णात्मकै रागादिभिश्चाभिव्यक्तिमामनन्ति (रसगंगाधार, प्रथम भाग पृ. 402)।

पंडितराज उपर्युक्त धारणा का पूर्ण निषेध तो नहीं करते किंतु उनका पक्ष यह है कि इस प्रकार वर्ण, पद, एवं संघटना से अनावश्यक अपेक्षा की जाती है। वस्तुत: वर्णादि सिर्फ गुणाभिव्यंजक होते हैं, रसाभिव्यंजक नहीं। प्रश्न किया जा सकता है कि गुणी (रस) की अभिव्यक्ति के बिना गुणों (माधुर्यादि) की अभिव्यक्ति कैसे संभव है? इसका उत्तर यह है कि जैसे नासिका से गंध की (गुण) अभिव्यक्ति होती है गुणी (पृथ्वी) की नहीं और जीभ से स्वाद अभिव्यक्त होता है उसका गुणी जल नहीं, वैसे ही जैसे कान से शब्द (गुण) की प्रतीति होती है, उसके आश्रय आकाश की नहीं; उसीप्रकार रस (गुणी) और गुण (माधुर्यादि) भी अभिव्यक्ति के विषय होते हैं। वे पृथक्-पृथक् व्यंजकों (वाक्य, पद, वर्ण आदि) से अभिव्यक्त होते हैं—कभी सम्मिलित रूप में और कभी उदासीन अथवा स्वतंत्र रूप में। अत: वर्णादि को रसों का व्यंजक मानना ठीक नहीं, उन्हें केवल माधुर्यादि गुणों का व्यंजक मानना चाहिए।[1]

1. वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यंजकत्वमेव, न तु रसाभिव्यंजकत्वम्, गौरवात्मानाभावाच्च। नहि गुण्यभिव्यञ्जनं विना गुणाभिव्यञ्जकत्वं नास्तीत्यस्ति नियम:, इन्द्रियत्रये व्यभिचारात्। इत्थं च स्वव्यञ्जकोपनीतानां गुणिनां गुणानामुदासीनानां च यथा परस्परोपश्लेषेणोदासीन्येन व तत्तत्प्रमितिगोचरता, तथा रसानां तद्गुणानां चाभिव्यक्ति विषयेतेति तु नव्या:। रसगंगाधर, प्रथम भाग, पृ. 404-405।

पंडितराज की उपर्युक्त धारणा के कई परिणाम हो सकते हैं।

—वर्ण, रचनादि; गुण तथा रस का समीकरण अनिवार्य नहीं रह जाता,

—गुण की सत्ता रस से पृथक् भी रह सकती है,

—वर्णादि रसाभिव्यंजन करें और रसानुकूल गुणस्वरूप तय हो, रसध्वनि-सरणि की यह धारणा अमान्य हो जाती है,

—रस एवं गुण को यदि लक्ष्यैकता हो, अर्थात् मधुर रस के साथ यदि मधुर रचना भी हो तो माधुर्य की प्रतीति और भी गहरी होगी, ऐसे ही अन्य रस तथा गुण के समीकरण के संदर्भ में भी होगा; किन्तु रसपरिपाक की पूर्ण सामग्री के अभाव में भी वर्णादि चित्तद्रुति में समर्थ होंगे।

स्पष्ट है कि पंडितराज की चिंतना में 'शब्द' की सार्वभौम सत्ता है, उनका पक्ष यह है कि काव्य के संदर्भ में शब्द को गौण अथवा किसी अन्यरूप में अपदस्थ करके विचार नहीं किया जा सकता।

(ख) अलंकार : 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द : काव्यम्' संबंधी अपनी बुनियादी धारणा का विनियोग पंडितराज अलंकार के संदर्भ मे भी करते हैं :

(i) अलंकार की सामान्य अवधारणात्मक परिभाषा पंडितराज ने यद्यपि नहीं की है, फिर भी अनेकत्र उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि वे अलंकार को रमणीयता-प्रयोजक मानते हैं। कुछ उल्लेख इस प्रकार हैं—

एक : अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनों व्यङ्ग्यस्य रमणीयता-प्रयोजका अलङ्कारा निरूप्यन्ते। (रसगंगाधर, द्वितीयभाग, पृ. 210) अर्थात् पूर्वक्त लक्षाणानुसार व्यंग्यरूप काव्यात्मा की रमणीयता के प्रयोजक अलंकार का निरूपण किया जाता है।

दो : पुनरुपस्कारकत्वं सर्वेष्वलङ्कारलक्षणेषु देयम्। (रसगंगाधर, द्वितीय-भाग पृ० 467) अर्थात् (अपने से भिन्न) काव्यवस्तु का पुनरुपस्कारक होना, अलंकारमात्र का लक्षण है।

तीन : रमणीयेति, चमत्कारिणीत्यर्थः। एतच्च विशेषणं सामान्यालङ्कार-लक्षणप्राप्तमेव। एवमुपस्कारकत्वमपि बोध्यम्। (रसगंगाधर, द्वितीय भाग, पृ० 604)। अर्थात्। रमणीय का अर्थ है चमत्कार। अलंकार का रमणीय अथवा चमत्कारपूर्ण होना सामान्य अथवा मौलिक लक्षण है। उसी प्रकार अलंकार उपस्कारक अर्थात् स्वयं को गौण करके काव्यवस्तु को सुन्दर बनाने वाला भी होता है।

चार : चमत्कारीति, कविप्रतिभानिर्वतित इत्यर्थ : (रसगंगाधर, द्वितीय भाग पृ. 640)। अर्थात् चमत्कार कविप्रतिभा से निकली चीज है।

पाँच : बोधवैलक्षणयाभावेन विच्छित्तिवैलक्षणयाभावात् (रसगंगाधर, द्वितीय भाग, पृ. 542)। बोधवैलक्षण्य के अभाव में विच्छित्तिवैलक्षण्य भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि अलंकारों के पारस्परिक भेद का बुनियादी आधार है, उनमें चमत्कार-प्रतीति के स्रोत तथा भंगिमा का अन्तर।

उपर्युक्त उल्लेखों से पंडितराज की अलंकारविषयक सामान्य अवधारणा का रूप स्पष्ट होता है। एक तो यह कि चूँकि विच्छित्तिभेद से अलंकारभेद भी होते हैं, अतः विच्छित्ति अथवा चमत्कार पैदा करने के जितने भी तरीके होंगे वे सभी अलंकार होंगे। यानि कविप्रतिभा चमत्कार पैदा करने की जितनी भी भंगिमाएँ ढूँढ सकेगी, उन्हें अलंकार कहा जा सकेगा। दूसरी बात यह है कि सिर्फ विच्छित्तिवैलक्षण्य ही अलंकार नहीं हो जाता उसकी दो शर्तें भी हैं कि

—विच्छित्तिवैलक्षण्य उपस्कारक हो अर्थात् स्वयं साध्य न होकर काव्य-वस्तु के सौन्दर्यनिष्पादन में साधन हो और

—वह रमणीयप्रयोजक हो, अर्थात् विच्छित्तिवैलक्षण्य किसी न किसी रमणीय अर्थ का संपोषण करे यह जरूरी है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि पंडितराज रमणीयता, चमत्कार आदि शब्दों का प्रयोग उन्हीं पारिभाषिक अर्थ में कर रहे हैं, जिनमें उन्होने काव्यलक्षण देने के क्रम में किया था।

एक प्रश्न और शेष रह जाता है कि ये रमणीय प्रयोजक अलंकार किसके उपस्कारक हैं। पहले उद्धरण से भ्रम होता है कि जैसे पंडितराज ने व्यंग्य को काव्यात्मा माना हो तथा व्यंग्यजन्य रमणीयता के प्रयोजक के रूप में अलंकारों की चर्चा की गयी हो। बात दरअसल यह नहीं है। उक्त उद्धरण का 'प्रागभिहित-लक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्य' दरअसल उत्तमोत्तम काव्य की ओर उपलक्षवणत् संकेतमात्र करता है। ऊपर के विवेचन में हमने देखा है कि 'रमणीयता' पंडितराज के समस्त चिन्तन का नाभिक है, इसलिए व्यंग्य भी उसी रमणीयता सिद्धि का साधनमात्र है, साध्य तो रमणीयता है। यदि इसे नहीं स्वीकार किया जाय तो 'अलंकार व्यंग्य की रमणीयता का प्रयोजक है' इसे पंडितराज की अलंकार अवधारणा मानना होगा, और वैसी स्थिति में पंडितराजसम्मत अन्य काव्यप्रभेदों में 'अलंकार'

की चर्चा ही नहीं की जा सकेगी। स्पष्ट है कि पंडितराज का मंतव्य वैसा हो ही नहीं सकता। अतः 'अलंकार रमणीय प्रयोजक हैं' यही पंडितराजसम्मत अलंकार अवधारणा है। इस तथ्य की पुष्टि उपमालंकार के प्रकारान्तर-भेद सम्बन्धी विवेचन से भी होती है। उपमा के पारंपरिक भेदों के विवेचन के बाद पंडितराज ने रमणीय-प्रयोजकता की दृष्टि से उपमाभेद की चर्चा की है—

> इयं चैव भेदोपमा वस्त्वलङ्काररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कार-योर्वाच्ययोश्चोपस्कारकतया पञ्चधा। (रसगंगाधर, द्वितीय भाग, पृ० 274)।

यहाँ उपमा की रमणीय-प्रयोजकता के प्रयोज्यक्षेत्र (अलंकार्य) की खोज-बीन की गयी है। वस्तु, अलंकार तथा रसरूप प्रधानव्यंग्य और वस्तु तथा अलंकार-रूप वाच्य ये पाँच रमणीयता के प्रयोज्यक्षेत्र (अलंकार्य) हैं, उपमा की रमणीय-प्रयोजकता इन्हीं प्रयोज्यक्षेत्रों के संदर्भ में है। स्पष्ट है ये कि प्रयोज्यक्षेत्र सिर्फ उपमालंकार के ही नहीं, बल्कि अन्य सभी विच्छित्ति-वैलक्षण्य के भी हैं।

(ii) अलंकारविवेचन के क्रम में पंडितराज ने अलंकारों के शाब्दबोध का प्रश्न उठाया है। अलंकारगत शाब्दबोध (Cognition) का प्रश्न पंडितराज ने, समस्त काव्यशास्त्रीय चिन्तनपरम्परा में पहली बार उठाया है, और सम्भवतः अन्तिम बार भी।

'शाब्दबोध कैसे होता है' यह विषय व्याकरण, मीमांसा और न्याय में लम्बे विवाद का मुद्दा रहा है। मूल प्रश्न यह है कि वाक्य में प्रयुक्त शब्द स्वतन्त्ररूप से अर्थबोध करते/कराते हैं या अपने निहितार्थ के कारण? इसके स्पष्टीकरण में, वाक्यगत शब्दों के पारस्परिक सम्बन्धों की दृष्टि से अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद के रूप में विवाद उपस्थित हुए। वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों के पारस्पारिक सम्बन्धों की दृष्टि से भी विवाद हुए, जिनमें न्यायिकों ने 'संसर्गता-वाद' और मीमांसकों ने 'प्रकारतावाद' के सिद्धान्त प्रस्तुत किये। संसर्गतावाद के अनुसार शब्दों के अर्थों में एक प्रकार का नित्य सम्बन्ध होता है जो विभक्तियों द्वारा द्योतित होता है; किन्तु प्रकारतावाद के अनुसार शब्द सर्वथा स्वतन्त्र होते हैं और उनके अर्थों का पारस्परिक सम्बन्ध विभक्तियों के कारण ही ज्ञात होते हैं। वस्तुतः ये दोनों वाद अन्विताभिधान और अभिहित अन्वय के सिद्धान्तों के ही

परिणाम हैं।[1] फिर अपने-अपने वादों की सिद्धि के लिए दार्शनिकों ने आकांक्षा, तात्पर्य, योग्यता, आसत्ति, प्रकरण, धात्वर्थ आदि को शाब्दबोध के लिए हेतुरूप में प्रस्तुत किये।[2] किन्तु भर्तृहरि के शब्दचिन्तन के विवेचनक्रम में हम देख आए हैं कि शब्द में ग्राह्यत्व तथा ग्राहकत्व दोनों शक्तियाँ संश्लिष्ट रूप में युगनद्ध होती हैं। अतः हर शब्द महत्त्वपूर्ण है। हर शब्द अपने आप में एक सृष्टि है, काव्य यदि सर्जना है, तो चैतन्य शब्द ही उसे स्पंदित कर सकता है। अतः शाब्दबोध वाक्य में प्रयुक्त शब्दों से प्रतिपादित सम्पूर्ण अर्थ तथा उनके आसंगों का ज्ञान है।[3]

पंडितराज के पूर्व भी आचार्यों ने शाब्दबोध पर, शब्दशक्ति के सन्दर्भ में, सैद्धान्तिक विचार प्रस्तुत किये थे, किन्तु उसका व्यावहारिक विनियोग वे नहीं कर सके। पंडितराज ने चूँकि रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य माना, इसलिए लाजिमी था कि इसका विनियोग वे करते। फलतः पंडितराज ने सर्वत्र शाब्दबोध का प्रश्न उठाया है, अलंकारविवेचन में शाब्दबोधप्रक्रिया का व्यावहारिक विनियोग

---

1. The Samsargatavada and the Prakartavada are logical corrlories of anvitabhidhanvada and abhihitanvayavada repectively" —Dr. R. C. Pandeya. The problem of meaning in Indian Philosophy, Motilal--Banarsidas, 1963, p. 151.

2. वैयाकरणमत में 'धात्वर्थमुख्य विशेष्यक शाब्दबोध' माना जाता है। अर्थात् वाक्य में धात्वर्थ या क्रियारूप-व्यापार ही मुख्य विशेष्य होता है, अतः शाब्दबोध भी तदनुकूल होगा। नैयायिक मत में 'प्रथमांतार्थमुख्य विशेष्यक' अर्थात् कर्त्ता के अनुसार शाब्दबोध माना गया है। मीमांसा मत में 'भावना' के अनुसार शाब्दबोध माना गया है। विशेष विवरण के लिए देखें—डॉ० आर० सी० पांडेय कृत "द प्रॉब्लेम ऑफ मीनिंग इन इंडियन फिलासफी' का शाब्दबोध प्रकरण, पृ० 149-170, तथा 'आचार्य विश्वेश्वर सम्पादित 'निरुक्तम्' ज्ञानमंडल 1966, पृ० 20-22।

3. (i) "सम्बन्धों सहित वाक्यार्थ के यथार्थरीत्या (वस्तुपरिचय के साथ) समझने को शाब्दबोध कहते हैं,"—पं० पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, हिन्दी रसगंगाधर, द्वितीय भाग, पृ० 83

(ii) "Sabdabodh is a total knowledge arising from words." Dr. R. C. Pandeya, The Problem of meaning in Indian philosophy, p. 156।

तो काव्यशास्त्रीय परम्परा—पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती में सर्वथा अभिनव व्यवस्था है। उदाहरण के लिए उपमालंकार के प्रकरण में सादृश्य—अतिरिक्त पदार्थरूप (मीमांसामत) और समान धर्मरूप (न्यायमत) के कुल सत्रह प्रकार के प्रयोग और उनके विशिष्ट शाब्दबोध का विवेचन किया गया है।

ग. **रस और ध्वनि** : पण्डितराज की दृष्टि में ध्वनि उत्तमोत्तम काव्य है और रस उसकी आत्मा, अतः रसध्वनि परमरमणीय काव्य है।[1] स्पष्ट है कि वे रस तथा ध्वनि का विवेचन रमणीयता की दृष्टि से कर रहे हैं। यहाँ भी रमणीयता अपनी पूर्ण पारिभाषिकता के साथ है—रमणीयता अर्थात् प्रतिपादक शब्द की परम सौंदर्यबोधात्मक शक्ति। परिणामतः उन्हें पारम्परिक चिंतनसरणि में कई संशोधन प्रस्तावित करने पड़े, जैसे काव्य के वर्गीकरण में संशोधन, अलंकारों का रमणीयता की दृष्टि से उच्चावच निर्धारण, रस की संलक्ष्यक्रमता की मान्यता, इत्यादि।

(i) ध्वनिमत में काव्य के तीन कोटिक्रम मान्य हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। यहाँ दृष्टि व्यंग्य की प्रधानता-अप्रधानता पर टिकी है। उत्तम काव्य में व्यंग्य प्रधान होता है, तो मध्यम में व्यंग्य गुणीभूत, और अधम काव्य में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार (वाच्यरूप में) की प्रधानता रहती है। ध्वनिमत की इस अवर काव्यकोटि संबंधी धारणा से पण्डितराज का मतभेद है।

पण्तिराज ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है, अतः काव्यकोटि-निर्धारण में भी वे रमणीयता अर्थात् प्रतिपादक शब्द की परम सौंदर्यबोधात्मक शक्ति के तारतम्य को ढूँढें, यह लाजिमी था। पण्डितराज के प्रस्ताबित काव्य-कोटिक्रम वे प्रसंग में सवाल उठा कि जहाँ एकाक्षरपद्य, अर्धावृति चमक, पदमबन्ध आदि होते हैं, उसे अधमाधम काव्य माना जाय क्या? उन्होंने स्पष्ट निषेध करते हुए दो महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ दी—

एक—कोई भी वाच्य अर्थ ऐसा है ही नहीं, जो थोड़ा भी व्यंग्य अर्थ के स्पर्श के बिना स्वयं चमत्कार उत्पन्न कर सके।[2]

---

1. 'ध्वनेरुत्तमोत्तमः ··एवं पञ्चमात्के ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसः···' —रसगंगाधर, प्रथम भाग, पृ० 85-86.
2. न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्टप्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाधातुम् प्रभवति। —रसगंगाधर, प्रथम भाग, पृ० 77.

दो—अतः एकाक्षरपद्य आदि रचनाओं में जब अर्थकृत चमत्कार बिल्कुल नहीं रहता, तब वहाँ रमणीयार्थ का लेश भी नहीं होता। इसलिए वे काव्यकोटि में आएँगे ही नहीं, तो काव्यकोटि-निर्धारण का प्रश्न ही नहीं उठता।[1]

तात्पर्य यह है कि रमणीयता के लिए व्यंग्य का संस्पर्श अनिवार्य है, और रमणीयार्थ के अभाव में कोई रचना काव्यकोटि में आती ही नहीं। अतः यह सिद्ध हुआ कि जगन्नाथ रमणीयता के आनुपातिक तारतम्य को ही काव्य की श्रेष्ठता का निकष मानते हैं। प्रतिपादक शब्दों की सौंदर्यबोधात्मक शक्ति अर्थात् रमणीयता व्यंग्यप्रधान, व्यंग्यगुणीभूत, वाच्यार्थप्रधान तथा गौण-वाच्यार्थ वाले शब्दालंकारों में क्रमशः अल्पतर अनुपात में रह सकती है। ध्वनिमत के अवरकोटिक काव्य में अर्थालंकार तथा शब्दालंकार दोनों को सम्मिलित कर लिया गया था। पण्डितराज को यह स्वीकार नहीं है। उनके अनुसार चित्रकाव्य में भी रमणीयता का आनुपातिक तारतम्य होता है, अतः समस्त चित्रकाव्य काव्यकोटि से बहिस्कृत नहीं हो सकता, जैसा कि विश्वनाथ ने किया है।

इस मौलिक दृष्टिकोण के कारण पण्डितराज ने काव्य की चार कोटियाँ निर्धारित कीं तथा कई आनुषांगिक स्थापनाएँ दीं। वे चार कोटियाँ इस प्रकार हैं :

उत्तमोत्तम काव्य—जिसमें शब्द और अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य) दोनों अपने को गौण बनाकर किसी चमत्कारजनक (रमणीय) अर्थ को अभिव्यक्त करें :—

शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मनौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्ताद्यम्।

—रसगंगाधर, प्र० भा०, पृ० 36।

इसके अन्तर्गत रसध्वनियाँ जिनमें रस, भाव, रसाभास, भावाभास तथा अन्य सभी भावध्वनियाँ आती हैं।

उत्तम काव्य— जिस काव्य में व्यंग्य अप्रधान होकर ही चमत्कार का कारण हो, अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की अपेक्षा भी गौण हो, और यह गुणीभूत होना ही चमत्कारहेतु हो—यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्।

—रसगंगाधर, प्र० भा०, पृ० 66।

---

1. तथाऽपि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दतारूप—काव्यसामान्यलक्षणानाक्रान्ततया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन···। —रसगंगाधर प्र० भा०, पृ० 80।

प्रश्न हो सकता है कि उत्तमोत्तम और उत्तमकोटिक काव्य की विभाजक रेखा क्या होगी; क्योंकि अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है ? दोनों में व्यंग्यगत चमत्कार है, एक में प्रधान दूसरे में अप्रधान। उनकी प्रधानता-अप्रधानता का निर्धारण का आधार क्या होगा ? इसके समाधान में पण्डितराज ने दो आनुषंगिक स्थापनाएँ दी हैं :—

एक तो यह है कि व्यंग्य का निर्धारण व्यंजक की साधारणता अथवा असाधारणता से नहीं बल्कि वक्ता और प्रतिपाद्य के वैशिष्ट्य से होता है।[1]

अतः दूसरी बात यह है कि उत्तमोत्तम काव्य का व्यंग्य वाच्य-सिद्धि का अंग नहीं रहता, जबकि उत्तम काव्य का व्यंग्य वाच्य-सिद्धि का अंग होता है, और यह स्थिति सहृदयसाक्षिक है।[2]

मध्यम काव्य— जिसमें व्यंग्य का चमत्कार, थोड़ी मात्रा में रहकर भी व्यापक वाच्यार्थ-चमत्कार में अन्तर्भुक्त हो जाय तथा स्पष्टतया अनुभूत न हो—यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्त-तृतीयम्—रसगंगाधर, प्र० भा०, पृ० 76।

अधम काव्य— जिसमें वाच्य अर्थ के चमत्कार से संपोषित शब्द का चमत्कार प्रधान हो—यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं चतुर्थम्। रसगंगाधर, प्र० भ०, पृ० 78। इसके अन्तर्गत अनुप्रास का चमत्कार आता है।

काव्य के उपर्युक्त चतुर्विध कोटिनिर्धारण के क्रम में और कई आनुषंगिक स्थापनाएँ आई हैं :

एक—अर्थचित्र तथा शब्दचित्र के चमत्कार समान नहीं होते। अर्थचित्र में रमणीयार्थ का अनुपात शब्दचित्र की अपेक्षा अधिक होता है, यह अनुभवसिद्ध है, अतः दोनों को एक ही कोटि—अधमकाव्य में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता।[3]

---

1. ...साधारणानामेवौष्ठिद्रय दीनां वक्त्रादिवैशिष्ट्यवशादर्थविशेषव्यञ्जकताया अभ्युपगतेः। रसगंगाधर, प्र० भा०, पृ० 55।
2. अनयोर्भेदयोरनपह्नवनीयचमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति कश्चित् सहृदयवेद्यो विशेषः। रसगंगाधर, प्र० भा०, पृ० 72।
3. तत्रार्थचित्र-शब्दचित्रयोरविशेषेण धमत्वमयुक्तं वक्तुम्, तारतम्यस्य स्फुट-मुपलब्धेः। रसगंगाधर, प्र० भा०, पृ० 81।

दो—यदि किसी रचना में शब्द और अर्थ का चमत्कार एक साथ रहे तब विचारपूर्वक निर्णय करना होगा कि दोनों में चमत्कार का प्रधान स्रोत कहाँ है। यदि चमत्कार का आश्रय शब्द में हो तो चतुर्थ कोटि में अन्यथा तृतीय कोटि में समावेश किया जाएगा![1]

तीन—सूक्ष्म पर्यालोचन से भी यदि चमत्कार का आश्रय अनिर्णीत रहे, तब उसे मध्यमकाव्य माना जाना चाहिए।[2]

(ii) काव्यकोटिनिर्धारण में संशोधन के अनुकूल अलंकारों में रमणीयता के आनुपातिक तारतम्य की व्यवस्था भी जगन्नाथ ने दी। व्यंग्य को कसौटी बनाकर अलंकारों के वर्गीकरण का अभिनव चिन्तन पंडितराज ने प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से अलंकार के चार वर्ग प्रस्तावित किये गये हैं।[3]

एक—जाग्रत अथवा सक्रिय स्पंदनशील व्यंग्ययुक्त अलंकार—पर्यायोक्ति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि।

दो—अजागरूक गुणीभूत व्यंग्ययुक्त अलंकार—उपमा, रूपक, दीपक आदि

तीन—वाच्य की दृष्टि से अर्थ एवं शब्द-चमत्कृति का समभाव—
—इस कोटि में कोई अलंकार विशेष नहीं बल्कि वैसी रचनाएँ आएँगी, जहाँ अनुप्रास, गुण; रूपक-उत्प्रेक्षा आदि अलंकार के चमत्कार समतुल्य हों।

चार—अर्थचमत्कृति से संपोषित शब्दचमत्कार—अनुप्रास, यमक आदि।

उपर्युक्त वर्गीकरण में प्रथमकोटिक अलंकारों में रमणीयता का अनुपात काफी उच्च होता है, अतः जगन्नाथ उसे उत्तमकाव्य के अन्तर्गत रखेंगे, दूसरे तथा तीसरे वर्ग को मध्यमकाव्य तथा चौथे को अधमकाव्य की कोटि में रखा जाएगा!

---

1. यत्र च शब्दार्थचमत्कृतत्योरैकाधिकरण्यम्, तत्र तयोर्गुणप्रधानभावं पर्यालोच्य यथालक्षणम् व्यवहर्तव्यम्। रसगंगाधर, प्र० भा०, पृ० 83।
2. समप्राधान्ये तु मध्यमतैव। रसगंगाधर, प्र० भा०, पृ० 83
3. (i) अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं निखिलमलङ्कारप्रधानं काव्यम्। रसगंगाधर, प्र० भा०, पृ० 78।
   (ii) देखें, रसगंगाधर का काव्यभेद विवेचनांश, प्रथम भाग।

रमणीयता को बीजतत्त्व मानकर अलंकार-विवेचन तथा तदनुकूल काव्य में अलंकार के महत्त्व एवं योग का पुनर्मूल्यांकन जगन्नाथ ने प्रस्तुत किया है। अलंकार-प्रधान काव्य को पंडितराज ने पूरी सहानुभूति दी है। रमणीयतायुक्त अलंकार-प्रयोग अथवा रमणीयप्रयोजकरूप अलंकार रचना में सहज-स्वाभाविक रूप में रहेंगे। रसमत के कारण अलंकार की जो उपेक्षा अथवा तिरस्कार हुआ था, रमणीयप्रयोजक के रूप में पुनर्प्रतिष्ठा देकर जगन्नाथ ने उसकी क्षतिपूर्ति कर दी है।

(iii) रसादि प्रतीति संलक्ष्यक्रम भी हो सकती है, सिर्फ असंलक्ष्यक्रम ही नहीं—पंडितराज की यह स्थापना भी रमणीयता को बीजस्थानीय मानने का परिणाम है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त भी ऐसी संभावना से इनकार नहीं करते, किन्तु इस विषय का स्पष्ट स्थापन जगन्नाथ ने ही किया है।

पंडितराज का पक्ष यह है कि रस-भावप्रतीति वस्तुतः रचना की प्रकृति पर निर्भर है। रचना ऐसी हो सकती है, जहाँ विभाव, अनुभाव और संचारी की तुरत प्रतीति हो जाती हो। वैसी स्थिति में प्रतीतिप्रक्रिया इतनी त्वरित होगी कि कारण-कार्य की पूर्वापरता का अनुभव सहृदय नहीं कर सकेगा। यह रस-ध्वनि की असंलक्ष्यक्रम-स्थिति होगी। लेकिन रचना ऐसी भी हो सकती है कि जिसके कारण प्रकरण को समझना किंचित् प्रयत्नसाध्य हो, या ऐसा भी हो सकता है कि विभावादि का स्पष्ट निरूपण नहीं हो और उनके अवधान के लिए कुछ कल्पना करनी पड़े। इस स्थिति में भी परिणत प्रतीति रस-भावप्रतीति ही होगी, किन्तु कारण कार्य की घटनप्रक्रिया सहृदय के लिए संलक्ष्य होगी।[1] स्पष्ट है कि यहाँ रचना से तात्पर्य रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द की रचना ही है। शुद्ध रसवादी को यह स्थिति स्वीकार नहीं हो सकती, लेकिन शब्द को प्रतिष्ठापित करने वाले आचार्य की यह स्थापना व्यावहारिक एवं अनुभवसिद्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

4 10 5 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' के रूप में शब्द का अभूतपूर्व अभिषेक पंडितराज ने किया है; कुछ इस रूप में कि आधुनिक समीक्षक-चिन्तक पंडितराज के 'रमणीयार्थ

---

1. सोऽयं निगदितः सर्वोऽपि रसादिलक्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चःस्फुटप्रकरणे, झगिति प्रतीतेषु विभावानुभावव्यभिचारिषु, सहृदयतमेन प्रमात्रा, सूक्ष्मेणैव समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतोः पौर्वापर्यक्रमस्यालक्षणादलक्ष्यक्रमो व्यपदिश्यते। यत्र तु विचारवेद्यं प्रकरणम्, उन्नेया वा विभावादयस्तत्र सामग्रीविलम्बाधीनं चमत्कृतेर्मान्थर्यमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति। रसगंगाधर, प्रथम भाग, पृ० 394।

प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' सूत्र में पाश्चात्य आलोचना के अभिव्यंजनावाद की समगूँज और सौंदर्यशास्त्रीय विश्लेषण की दृष्टि से तथा उसके लिए उपयोगी महती संभावनाएँ देखता है। प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य का मत है कि पंडितराज की ये धाराणएँ कि;

—गुण और अलंकार (विशेषतः अर्थालंकार) काव्य के स्वायत्त घटक हैं, काव्य के सौंदर्यबोध में जिनका योग स्वनिष्ठ है तथा जो काव्य की अभिव्यंजना को प्रभविष्णु बनाते हैं,

—शब्द और अर्थ (वाच्य) अनिवार्यतः हमेशा उपसर्जनीकृत हों, यह जरूरी नहीं, क्योंकि शाब्दबोध का अपना महत्त्व होता है,

—रस-भावादि को ही सर्वप्रधान मानना तथा वाच्यादि की उपेक्षा उचित नहीं तथा इनके साथ ही रमणीयार्थ की दृष्टि से समस्त पूर्व चिन्तनों के पुनर्मूल्यांकन का दृष्टिकोण, उन्हें अधुनातन अभिव्यंजनावादी समीक्षा सरणि के निकट ले आता है।[1]

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने पंडितराज के काव्यगत शब्दचिन्तन का मूल्यांकन सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से किया है। अपेक्षित रूप में एक लम्बा उद्धरण द्रष्टव्य है—शब्द के द्वारा पंडितराज काव्य की शब्दार्थ इकाई या वाक्य के अर्थैक्य को लांघ गये। उन्होंने सीधे शब्द से (रूढ़ 'अर्थ, का संक्रमण करते हुए) अनुभव पर छलांग लगाई। अतः शब्द और अनुभवों के 'विलक्षण' संबंध प्राप्त हुए और अर्थनिर्माण के लिए एक नई प्रक्रिया अर्थात् रमणीयता शक्ति की जरूरत महसूस हुई। हरेक कलात्मक अनुभव का गर्भ अनुभूतियों (फीलिंग) से प्राणवंत रहता है, और अनुभूतियाँ हरेक ऐंद्रियिक प्रत्यक्षीकरण (बिंब) एवं यथार्थता की पकड़ (व्यवहार) का आधार है। इसलिए बिंब और अनुभूति की एकता का सिद्धान्त कला के सौंदर्य-बोधानुभव का मेरुदण्ड है। पंडितराज ने अपने 'प्रतिपादक शब्द' (जिसकी अर्थानुभूति-शक्ति रमणीयता है) को ब्रह्म और नाम की सह-नित्यता (को-एटर्निटी) और नाम तथा विमर्श की द्विसंयुजता (बाइ-वैलेन्सी) प्रदान की है। यह प्रतिपादक शब्द एक तो अलंकार, रूपक, उपमा आदि का कार्य संपादित करता है, दूसरे बिंब एवं मुद्रा के प्रयोजनों (मोटिफ्स) से प्रचुर होता है, तीसरे प्रमा एवं

1. स्टडीज इन इन्डियन पोएटिक्स, पृ० 10.

प्रज्ञा की एकता कायम करता है, तथा चौथे अनुभवन एवं अनुभव का समंजन करता है। इसलिए शब्द ही काव्य है।'[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पंडितराज की 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' संबंधी धारणा शब्द-चमत्कारवाद अपना सूक्ति अथवा सौशब्द्य की पुनर्प्रतिष्ठा नहीं; बल्कि व्याकरण-दर्शन के शब्दाद्वैतवाद की काव्य-सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिष्ठा एवं विनियोग है। इस क्रम में शब्दचिन्तन संबंधी किसी भी मत का न तो ऐकान्तिक निषेध किया गया है और न अंधस्वीकृति दी गयी है। रमणीयता के संदर्भवृत्त में जो सही जँचा पंडितराज ने उसे स्वीकार किया और जो नहीं रुचा उसे अस्वीकार करने में भी वे नहीं हिचके।

ख. संग्राहक सरणि

4·11·1. यों संग्राहक सरणि के आचार्यों के काव्यगत शब्दचिन्तक का विवेचन भी कालक्रमानुसार किया जा सकता था, किन्तु वैसी स्थिति में इस सरणि के आचार्यों का दृष्टिवैशिष्ट्य स्पष्ट नहीं हो पाता है। संग्राहक आचार्यों का दृष्टिवैशिष्टय यह है कि एक ओर तो उनका प्रयत्न यह होता है कि समस्त वाद-विवाद को एकत्र करके वे चलें दूसरी ओर आवश्यकतानुसार वर्गीकरण, विभाजन को अधिकाधिक व्यापक अथवा विस्तृत बनाया जाय, इसी क्रम में यदि किसी मतविशेष में रुचि हुई तो उसके प्रतिपादन के लिए अन्य अतिरिक्त तर्क उपस्थित किये जायँ—वर्गीकरण-विभाजन के कुछ नये आधार भी प्रस्तुत हों तो अच्छा रहे। इस दृष्टिवैशिष्ट्य के कारण संग्राहक आचार्यों के ग्रन्थ प्राय: विश्वकोषीय हो गये हैं और दृष्टि उदार।

राजशेखर

4·12·1. राजशेखर का समस्त प्रयत्न इस बात में लगा है कि उनके पूर्व के काव्यचिन्तन का एक समंजित रूप प्रस्तुत किया जा सके—काव्यमीमांसा की पूरी योजना ही संभवत: इस दृष्टि से बनी थी, जिसके स्पष्ट संकेत काव्यमीमांसा के उपलब्ध अंश में मिलते हैं।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा कवि के प्रस्थानबिंदु से प्रस्तुत की है, फलत: शब्दप्रयोग की प्राधोगिकी और उसकी प्रविधि पर उनका ध्यान अपेक्षाकृत अधिक है। इसी प्रायोगिकी की दृष्टि से शब्दहरण, अर्थहरण के औचित्यानौचित्य तथा

---

1. मध्ययुगीन रसदर्शन एवं समकालीन सौंदर्यबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1963, पृ० 362।

सीमा का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रसंगवशात् काव्य में शब्दप्रयोग की गुणवत्ता पर भी चर्चाएँ हैं, जैसे, तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक के गुणों की चर्चा करते हुए उसमें अन्यगुणों (रसविक्तता, तात्पर्यार्थान्वेषी आदि) के साथ-साथ शब्द की गुंफनविधि की विवेचकशक्ति का होना भी अनिवार्य माना गया है।[1] काव्य का शब्दगुंफन (भाषिक संरचना) विशिष्ट होता है, राजशेखर की यह स्पष्ट मान्यता प्रतीत होती है। काव्यगत शब्दगुंफन का राजशेखरकृत विवेचन तीन दृष्टियों से विचार्य है—काव्यलक्षण, काव्यपाक और काकु।

काव्यलक्षण

4·12·2. काव्यमीमांसा के छठे अध्याय—पदवाक्यविवेक के अन्तर्गत काव्यलक्षण प्रसंगवशात् आया है—गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम् (का० मी० पृ० 61)। प्रसंग यह है कि काव्य पर असत्य-अतिशयोक्तिपूर्ण, असत्मार्ग का उपदेशक तथा अश्लील होने सम्बन्धी आरोप किये जाते रहे हैं। राजशेखर इन सभी आरोपों का खंडन करते हैं। वेद-शास्त्र आदि के प्रामाणिक उद्धरणों के माध्यम से यह सिद्ध किया गया है कि तथाकथित काव्यगत अर्थवाद, असदोपदेशकता तथा अश्लीलता के आरोप तो वेद-शास्त्र पर भी लगाये जा सकते हैं। ये बातें तो काव्य में प्रसंगवशात् अथवा प्रकरण के आग्रह से आती हैं, न कि कवि के सयास प्रयत्न से और अर्थवाद आदि का प्रक्रमापन्न निबन्धन तो वेदादि में भी होते ही हैं—"प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः" · तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते (का० मी० पृ० 68)। यहाँ राजशेखर ने प्रकारान्तर से यह प्रतिपादित किया है कि काव्य की काव्यता उसमें निहित अर्थ में नहीं, बल्कि 'गुणालंकारयुक्त वाक्य" होने में है। ध्यातव्य है कि राजशेखर अपने काव्यलक्षण में शब्दार्थ-विवाद को बिल्कुल छोड़ देते हैं। गुणालंकारयुक्तता काव्यभाषा का विशिष्ट रूप है, जो उसे सामान्य व्यवहार भाषा से अलग करता है।

---

1. शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभि.
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रा च यः,
पुण्यैः सङ्घटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः।
–काव्यमीमांसा, संपादक–पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, परिषद् प्रकाशन पृ० 34।

अपनी इस मान्यता की पुष्टि राजशेखर ने काव्यार्थस्रोत के विवेचन के क्रम में भी प्रकारांतर से की है। सोलह काव्यार्थस्रोत का विवेचन आया है। इन समस्त विवेचनों में राजशेखर का प्रतिपाद्य यह है कि काव्यार्थ चाहे जिस स्रोत से भी (वेद, इतिहास, पुराण, लोक आदि) लिया गया हो, काव्यता उस अर्थ में नहीं, उसकी काव्यात्मक प्रस्तुति अथवा विरचना में होती है। यह 'विरचना' कविमनीषानिर्मित होती है।[1] इस विरचना की प्रौढ़ि वस्तुतः शब्द और अर्थ के वाच्यवाचक सम्बन्ध की प्रौढ़ता पर निर्भर है, अतः कवि को इस दिशा में हमेशा सावधान रहना होता है।[2]

4·12·3. विरचना की प्रौढ़ि की दृष्टि से राजशेखर ने यह प्रश्न उठाया है कि सरसता का स्वरूप क्या है? सरसता वस्तुसापेक्ष है अथवा व्यक्ति (कवि) सापेक्ष? इस सम्बन्ध में राजशेखर ने कई विचारकों के मत उपस्थित किये हैं। भट्ट लोल्लट के अनुसार काव्यार्थ भले ही असीम हो; किन्तु काव्य में सरस अर्थ का निबन्धन होना आवश्यक है (का० मी०, पृ० 110)। राजशेखर ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार सरस अर्थ का निबन्धन किया जाय यह तो उचित है; किन्तु यह भी अनुभव सिद्ध है कि अर्थ न तो सरस होता है और न विरस। काव्यार्थ की सरसता या विरसता तो कविप्रतिभा पर आश्रित है; क्योंकि कवियों के वाक्य ही सरसता या नीरसता उत्पन्न करते हैं। यह भी अनुभवसिद्ध है कि प्रतिभासम्पन्न कवि तुच्छतम अर्थ को भी सरस बना सकता है और प्रतिभाशून्य कवि सरस अर्थ को भी नीरस बना देता है।[3] इसकी पुष्टि में जैनाचार्य पाल्यकीर्ति का मत उद्धृत किया गया है कि "वस्तु का रूप चाहे जैसा भी हो सरसता कवि की प्रकृति के आश्रित है। अनुरक्त व्यक्ति जिस वस्तु की स्तुति करता है, विरक्त व्यक्ति उसी की निन्दा करता है और मध्यस्थ व्यक्ति उस सम्बन्ध में उदासीन रहता है।" (का० मी०, पृ० 113)। इसके विपरीत अवन्तिसुन्दरी का मत है "कि वस्तु का स्वरूप (सरस-नीरस) विदग्ध-भणितिभङ्गि पर निर्भर है।" (का० मी० 114)।

---

1. कविमनीषानिर्मिति कथातन्त्रमर्थमात्रं वा विरचना। का० मी०, पृ० 97
2. शब्दार्थयोश्चाभिधानाभिधेयव्यापारप्रगुणतामवबुध्येत। का० मी०, पृ० 119
3. "...अस्ति चानुभूयमानो रसस्यानुगुणो विगुणश्चार्थः, काव्ये तु कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्थाः; अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चेदमुपलभ्यते। काव्य-मीमांसा, पृ० 111।

पाल्यकीर्ति की मान्यता में कविस्वभाव पर बल है, तो अवन्तिसुन्दरी कवि व्यापार पर जोर देती है। राजशेखर काव्य की सरसता-विरसता के लिए दोनों मतों को मान्यता देते हैं। दरअसल कविस्वभाव और कविव्यापार में कोई बुनियादी अन्तर है भी नहीं, कुन्तक के पूर्व ही राजशेखर ने इसकी स्थापना कर दी थी। इसीलिए वे काव्यसौन्दर्य को उभय उत्पन्न' मानते हैं (का० मी० पृ० 114)। अतः राजशेखर के मतानुसार विरचना-प्रौढ़ि कविप्रतिभा, कविस्वभाव तथा कविव्यापार का मिश्र परिणाम है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि राजशेखर के अनुसार काव्यसौन्दर्य वस्तुसापेक्ष नहीं, कविप्रतिभा की सर्जनप्रक्रिया--कविव्यापार से प्रतिफलित विरचनाप्रौढ़ि के आश्रित है। इस विरचनाप्रौढ़ि की दो कसौटियाँ हैं–

(i) शब्द और अर्थ के वाच्यवाचक सम्बन्ध को प्रौढ़ता तथा

(ii) गुणालंकारयुक्त वाक्य।

काव्यपाक

4·12·4. उपर्युक्त विरचनाप्रौढ़ि का ही प्रकारान्तर विवेचन है—काव्यपाक। काव्यपाक कवि के शब्दगुंफनकौशल का व्यावहारिक विश्लेषण है। प्रश्न है कि काव्यपाक क्या है ? राजशेखर ने अपने पूर्ववर्ती कई आचार्यों के मत प्रस्तुत किये हैं। आचार्य मंगल की दृष्टि में निरंतर काव्याभ्यास का परिणाम अर्थात् सुबन्त या तिङन्त शब्दों का श्रोत्रमधुर प्रयोग या सौशब्द्य ही काव्यपाक है। अन्य आचार्यों के मत में शब्द का निष्कंप प्रयोग (इष्टार्थ की दृष्टि से सर्वाधिक मौजूँ शब्द का असंदिग्ध प्रयोग) ही पाक है; क्योंकि कहा भी है कि कविता के संदर्भ में ठीक शब्द को रखने या हटाने में जबतक हिचकिचाहट होती है तभीतक कवि को अपरिपक्व समझना चाहिए, पदविन्यास में स्थिरता अथवा असंदिग्ध प्रवृत्ति वाला कवि सिद्धसारस्वत होता है। आचार्य वामन के अनुसार एकबार प्रयोग किये गये पद में परिवर्तन की आवश्यकता का न होना पाक है; क्योंकि एकबार प्रयुक्त शब्द में पुनः परिवर्तन की अपेक्षा न होना ही शब्दशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों के अनुसार शब्द-पाक है। अवन्तिसुन्दरी के मतानुसार वामन का उपर्युक्त मत अशक्ति है, पाक नहीं; क्योंकि महाकवियों के काव्य में एक के स्थान पर अनेक पाठ मिलते हैं और वे सभी परिपक्व तथा उपयुक्त होते हैं। अतः अवन्तिसुन्दरी के मत में रसानुकूल और अनुगुण शब्द, अर्थ एवं सूक्तियों का निबन्धन करना ही पाक हैं; क्योंकि गुण, अलंकार, रीति और उक्ति के अनुकूल शब्दार्थों का गुंफनक्रम ही सहृदयों, श्रोताओं

एवं भावकों के लिए आकर्षक और आस्वाद्य होता है। यही वाक्यपाक है।[1]

राजशेखर उपर्युक्त मतों का समंजित रूप प्रस्तुत करते हैं कि (i) जहाँ पदों के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती; वहाँ 'शब्दपाक' है और (ii) जहाँ रस, गुण और अलंकारों का सुन्दर क्रम है, वह वाक्यपाक है। यह विवेक सहृदय-सापेक्ष है।[2] स्पष्ट ही राजशेखर ने शब्दपाक और वाक्यपाक के माध्यम से 'काव्यपाक' का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। एक अवान्तर उल्लेख में उन्होंने 'पाक' को ही काव्य के जीवनभूत तत्त्व मानने को अपना समर्थन दिया है; क्योंकि इस 'पाक' के अभाव में कवि के सारे प्रयत्नों के बावजूद काव्यमधु (रस) का परिस्रवन नहीं हो पाता।[3]

---

1. "क : पुनरयं पाकः ?" इत्याचार्याः। 'परिणामः' 'इति मङ्गलः। 'कः पुनरयं परिणामः ?" इत्याचार्याः। 'सुपांतिङां च श्रवः (श्रि ?) या व्युत्पत्तिः' इति मङ्गलः। सौशब्द्यमेतत्। 'पदनिवेशनिष्कम्पता पाकः' इत्याचार्याः। तदाहुः—

आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥

'आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायः तस्मात् पदानां परिवृत्ति वैमुख्यम् पाकः' इति वामनीयाः॥ तदाहुः—

यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुतां।
तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥

'इयम् अशक्तिः न पुनः पाकः' इति अवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन् वस्तुनि महाकवीनाम् अनेकोऽपि पाठः परिपाकवान् भवति, तस्मात् रसोचितशब्दार्थ-सूक्तिनिबन्धनः पाकः। यदाह—

गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति॥

—काव्यमीमांसा, पृ० 48-50

2. 'कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्यः परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ' इति यायावरीयः। काव्यमीमांसा, पृ० 50

3. सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥ —काव्यमीमांसा, पृ० 49।

"उक्तिवैचित्र्य, सौशब्द्य तथा रससामग्री रहने के बावजूद पाक के बगैर काव्य सरस नहीं हो पाता", राजशेखर की यह मान्यता दरअसल इस बात का स्पष्ट संकेत है कि संभवत: वे 'काव्यपाक' के रूप में, काव्य के जीवनभूत तत्त्व संबन्धी कोई सांगोपांग काव्यशास्त्रीय सिद्धांत की स्थापना कर रहे थे जो काव्य-सौंदर्य के उद्‌घाटन का एक भाषिक मानक होता है। वैसे पूर्ववर्ती आचार्यों में भामह, वामन, आनन्दवर्धन आदि[1] ने भी इस ओर संकेत किये हैं, पर काव्यपाक के लक्षण, स्वरूप, प्रकार आदि का विधिवत् विवेचन राजशेखर ने ही किया है। काव्य-मीमांसा एक बृहद् ग्रन्थ है, जिसका सिर्फ प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है। संभव है अन्यत्र राजशेखर ने काव्यपाक-सिद्धांत की स्थापना 'काव्यात्मा के रूप में की हो। फिलहाल काव्यपाक-सिद्धांत को औचित्य-सिद्धांत के समान ही मान्यता मिलनी चाहिए—काव्यपाक शब्दचिंतन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। इस संभावना की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि अपने ग्रन्थ के नाम का विश्लेषण करते हुए राजशेखर ने स्पष्ट कहा है कि मीमांसा का अर्थ है वाणी के अंश—शब्द और अर्थ की सूक्ष्म विवेचना और जो उत्पत्ति सहित वाणी के इस स्वरूप को नहीं जानता वह काव्य की मीमांसा को भी नहीं जान सकता।[2] स्पष्ट है कि उनका काव्य-मीमांसा ग्रन्थ काव्य के भाषिक पक्ष का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन ही रहा होगा।

काकु :

4·12·5. 'काकु' को राजशेखर ने दो अर्थों में विवेचित किया है—संकीर्ण और व्यापक।

संकीर्ण अर्थ में काकु अभिप्राययुक्त पाठधर्म है। काव्यपाठ के समय पाठ करने वाला व्यक्ति किसी अभिप्राय विशेष के कारण पाठभंगिमा तथा स्वर के आरोहा-वरोह में कुछ खास मोड़ दे देता है। यह काकु है। रुद्रट की इस धारणा का प्रत्याख्यान करते हुए कि 'काकु वक्रोक्ति का पर्याय है–एक शब्दालंकार' राजशेखर ने पाठधर्म के रूप में काकु को स्वीकार किया है।[3]

---

1. काव्यालंकार, 5/62; काव्यालंकारसूत्र, 3/2/15, 1/2/21; ध्वन्यालोक (दीपिका), पृ० 312 तथा अन्य।
2. इयं सा काव्यमीमांसा मीमांस्यो यत्र वाग्लवः॥
वाग्लवं न स जानाति न विजनाति यास्त्विमाम्। काव्यमीमांसा, पृ० 5।
3. "काकुः वक्रोक्तिर्नाम शब्द ऽलंकारोयम्" इति रुद्रटः॥ 'अभिप्रायवान्पाठ' धर्मः काकुः, स कथमलङ्कारी स्यात्? इति यायवरीयः।
काव्यमीमांसा पृ० 75।

व्यापक अर्थ में राजशेखर काकु को लोक ही नहीं शास्त्र में भी व्याप्त मानते हैं और काव्य के लिए तो यह जीवन ही है।[1] इस अर्थ में काकु काव्यगत उक्तिवैचित्र्य का पर्याय बन जाती है। यद्यपि काकु सम्बन्धी समस्त विवेचन उसे पाठधर्म मानकर ही किया गया है, साथ ही राजशेखर ने पठन-विधि का भी विस्तृत विवेचन किया है—इस प्रतिपादन के साथ कि निपुण कवि जैसे-तैसे काव्य-रचना तो कर लेता है; लेकिन काव्यपाठ तो सिर्फ वही कर सकता है जिसे सरस्वती सिद्ध हो; (का० मी०, पृ० 80) फिर भी काकु के वर्गीकरण-विश्लेषण से प्रतीत होता है कि काकु वहाँ सिर्फ पाठधर्म ही नहीं काव्यधर्म भी है। इस अनुमान की पुष्टि उस स्थापना से भी होती है, जब राजशेखर यह कहते हैं कि वैदर्भी, गौडीया और पांचाली रीति वाले वाक्यों को काकु आनन्त्य प्रदान करती है–रीतिरूपं वाक्यत्रितयं काकुः पुनरनेकयति (का० मी०, पृ० 75)। काकु सम्बन्धी इस धारणा का जुड़ाव कहीं-न-कहीं कर्पूरमंजरी के प्रसिद्ध कथन "उक्तिविशेषः काव्यम्" से भी रहा होगा। वस्तुतः काकु के दो आधारस्तम्भ हैं—कविनिबन्धन और पाठ।[2] कुशल कविनिबन्धन के साथ-ही-साथ कुशल काव्यपाठ किया जाना काव्य-गोष्ठियों में यशःप्राप्ति के लिए अपेक्षित है, इसी दृष्टि से राजशेखर ने काकुरूप काव्यपाठ—पाठ-प्रतिष्ठा तथा विभिन्न क्षेत्रीय पाठ-प्रणालियों की विस्तृत चर्चा की है; किन्तु यह भी स्पष्ट है कि इन समस्त विवेचन में अन्तःसूत्र के रूप में वक्रोक्ति सम्बन्धी व्यापक धारणा काम कर रही थी। वस्तुतः काकु को इस दृष्टि से कुन्तक की 'वैदग्ध्य भणिति' की पूर्वजा माना जा सकता है।

निष्कर्षतः काव्यगत शब्दचिंतन की दृष्टि से राजशेखर ने मूलतः काव्य की भाषिक संरचना का ही प्रश्न उठाया है, जिसके तीन आयाम हैं—

(i) भाषिक संचरना के तत्त्व : गुणालंकारयुक्त वाक्य
(ii) भाषिक संचरना की कसौटी : काव्यपाक और
(iii) भाषिक संरचना की काव्यगोष्ठियों में प्रभविष्णुता : काकु एवं पाठ-प्रतिष्ठा।

---

1. अयं काकुकृतो लोके व्यवहारो न केवलं।
शास्त्रेष्वप्यस्य साम्राज्यं काव्यस्याप्येष जीवितम्॥ काव्यमीमांसा, पृ० 79।

2. इत्थं कविर्निबध्नीयादित्थं च मतिमान्पठेत्य।
यथा निबन्धनिगदश्छायां काञ्चिन्निषिञ्चति॥ काव्यमीमांसा, पृ० 80।

भोजदेव

4·13·1. भोजदेव के शब्दचिंतन का केन्द्रीय तत्त्व है, उक्ति-विवेचन। सरस्वतीकंठाभरण में काव्य को उक्तिप्रधान[1] मानते हुए भोज ने वाङ्मय के तीन रूपों—वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वाभावोक्ति की चर्चा की और यह भी कहा कि उनमें रसोक्ति ही सर्वानुग्राहिणी है।[2] इस केन्द्रीयतत्त्व की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि काव्य निषेधपक्ष से दोषों का अभाव तथा विधिपक्ष से अलंकार, गुण और रस का सद्भाव होता है।[3] यह अलंकार प्रधानता ही वक्रोक्ति है, गुणप्रधानता ही स्वाभावोक्ति और विभावानुभावव्यभिचारिसंयोग (रसनिष्पत्ति) रसोक्ति।[4]

4·13·2 उक्ति क्या है? भोजदेव ने उक्ति की व्याख्या शब्द और अर्थ के संदर्भ में की है। शब्दोक्ति को भोजदेव ने विशिष्ट भणिति कहा है, जो परिपक्व होकर प्रौढ़ि कही जाती है।[5] सरस्वतीकंठाभरश के टीकाकार रत्नेश्वर के अनुसार 'विशिष्ट भणिति' से भोज का तात्पर्य है—लोकोत्तर कथनभंगिमा। महत्त्व इस बात का नहीं है कि क्या कहा गया, बल्कि इस बात का है कि कैसे कहा गया। 'क्या' वस्तुतत्त्व है और 'कैसे' अभिव्यंजना तत्त्व। रत्नेश्वर के अनुसार विशिष्ट भणिति से ही काव्य में चमत्कार आता है तथा कवि सहृदय के प्रति संवेदनीय होता है।[6]

---

1. उक्तिप्राधान्यात् काव्यमित्युच्यते" सरस्वतीकंठाभरण, नारायण मुद्रणालय, कलकत्ता, 1894 ई०, पृ० 330।
2. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
   सर्वानुग्राहिणीं तासु रसोक्ति प्रतिजानते॥ स० कं० 5/8।
3. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैलङ्कृतम्।
   रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥ स० कं० 1/2।
4. त्रिविधः खल्वलङ्कारवर्गः—वक्रोक्तिः, स्वभावोक्तिः, रसोक्तिरिति। तत्रोपमाद्यलङ्कारप्राधान्ये वक्रोक्तिः, श्लेषादिगुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः, विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति। शृंगारप्रकाश, जोशियार-संस्करण, जिल्द: 2, प्रकाश—11, पृ० 438।
5. विशिष्टा भणितिर्या स्यादुक्तिं तां कवयो विदुः।
   उक्तेः प्रौढः परीपाकः प्रोच्यते प्रौढिसंज्ञया॥ स० कं० 1/94/95।
6. लोकोत्तरा सन्ति हि भणितिप्रकारा लोकप्रसिद्धाः। ···एतत्प्रसिद्धिव्यतिक्रमेण तु या काचित् कविप्रतिभया भणितिः आकृष्यते सा भवति लोकोत्तरा। तथा च प्रतिभाकृष्टतया चमत्कारित्वाद्गुणत्वम्। अतएव कवय इत्याह। कवि सहृदयानामेव तदृशोक्तिपरिचयसम्भवात्। स० कं०, पृ० 70।

अर्थगुण के रूप में 'उक्ति' का तात्पर्य है भणितिभंगि अथवा भङ्ग्यभणन। शब्दगुणरूप उक्ति और अर्थगुणरूप उक्ति में अन्तर सिर्फ इतना है कि शब्दोक्ति में वैशिष्ट्य का आधार जहाँ शब्दप्रयोग का ढंग होता है, वहाँ अर्थोक्ति में अर्थ-भंगिमा के कारण अन्य अनेक अर्थच्छायाएँ व्यंजित होती हैं। कवि ऐसे विवरण या संकेत उपस्थित करता है कि जिसके कारण अर्थ-वर्णक्रम (meaning spectrum) का सौंदर्य उत्पन्न होता है।[1]

उक्ति के ये शब्दार्थगुणरूप उक्ति वस्तुतः कविकर्म के दो पक्ष प्रस्तुत करते हैं--अभिव्यंजना (Expression) और व्यंजना (suggestion)। शब्दगुणरूप उक्ति अभिव्यंजना है और अर्थगुणरूप उक्ति, व्यंजना। भोज का पक्ष यह है कि कविकर्म (काव्य) की संवेदनीयता उक्ति—अभिव्यंजना तथा व्यंजना के ही आश्रित होती है।

उक्ति की शब्दार्थगुणरूप विवेचना के अतिरिक्त भोजदेव ने अलंकाररूप उक्ति का भी सविस्तर विवेचन किया है। छाया शब्दालंकार के अन्तर्गत लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति, उन्मत्तोक्ति, पोटोक्ति और मत्तोक्ति (सरस्वती 2/75) तथा उक्ति शब्दालंकार के अन्तर्गत विधि युक्ति, निषेधोक्ति, अधिकारोक्ति, विकल्पोक्ति, नियमोक्ति और परिसंख्योक्ति (सरस्वती 9/92—97) के उदाहरण एवं व्याख्याएँ आई हैं।

इसप्रकार 'उक्ति' भोज की दृष्टि में कवि के समस्त काव्यात्मक प्रयत्न-कविकर्म अथवा अभिव्यक्ति का पर्याय है; क्योंकि रसनियोजन भी इसी उक्ति का एक प्रकार है। इस दृष्टि से त्रिविधरूपा उक्ति —वक्रोक्ति (उपमादि अलंकार), स्वाभावोक्ति (गुण) तथा रसोक्ति (विभावानुभावसंचारियोग) काव्यभिव्यक्ति का पर्याय सिद्ध होती है।

4·13·3. उक्ति की उपर्युक्त व्याख्या में वस्तुतः काव्य के बुनियादी घटकद्वय--शब्द और अर्थ की पुनर्व्यवस्था का ही प्रयत्न है। भोज का लक्ष्य शब्द और अर्थ के पुराने काव्यशास्त्रीय झगड़े को उभारना नहीं; बल्कि 'शब्दार्थ-साहित्य' का तर्कसंगत स्वरूप तय करना रहा है। वैसे, शब्दार्थ साहित्य सम्बन्धी विवेचन भी कम पुराना नहीं। हम देख चुके हैं कि पूर्ववर्ती आचार्यों में भामह, रूद्रट आदि ने साहित्य-अवधारणा का प्रारूप प्रस्तुत किया था।

---

1. उक्तिर्नाम यदि स्वार्थो भङ्ग्या भव्योऽभिधीयते। स० कं०, 1/118।

कुन्तक ने तो बाज़ाप्ता उसके आधार पर वक्रोक्ति का संपूर्णशास्त्र निर्मित कर दिया था।

भोजदेव ने शब्दार्थ-साहित्य के प्रश्न को थोड़ा भिन्न ढंग से उठाया। 'साहित्य' मूलतः शब्द और अर्थ का संयोग है और इस दृष्टि से मनुष्य के व्यवहार में भाषा के माध्यम से जो कुछ भी प्रस्तुत होता है—साहित्य है। वस्तुतः अंग्रेजी का लिटरेचर शब्द इसी व्यापक अर्थ में स्वीकृत भी है। वहाँ लिटरेचर शब्द मनुष्य के समस्त भाषिक व्यवहार के लिए प्रयुक्त होता है। भोज भी 'साहित्य' को इसी अर्थ में लेते हैं। काव्य भी मानव-व्यवहार का ही एक रूप है, इसलिए शब्दार्थ-साहित्य यहाँ भी है। किन्तु काव्य का शब्दार्थ-साहित्य तथा अन्य भाषिक व्यापार का शब्दार्थ-साहित्य दोनों एक है क्या? यहीं से भोजदेव एतद्विषयक पूर्ववर्ती विवेचन को नया मोड़ देते हैं।

शब्दार्थ-साहित्य से जुड़ा पहला प्रश्न है कि 'शब्द' और 'अर्थ' क्या है। भोज ने कहा कि जिसके उच्चारण से किसी अर्थ की प्रतीति हो वह 'शब्द' है अर्थात् शब्द मूलतः नाद है जिसका प्रयोजन है अर्थप्रतीति। उसके बारह प्रकार होते हैं—प्रकृति, प्रत्यय, उपस्कार, उपपद, प्रातिपदिक, विभक्ति, उपसर्जन, समास, पद, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध। शब्द से जो प्रत्यायित हो वह अर्थ है अर्थात् नाद का जो प्रयोजन है वही अर्थ है और शब्दप्रकार के अनुरूप ही इसमें भी बारह भेद बतलाए गये—क्रिया, काल, कारक, पुरुष, उपाधि, प्रधानम्, उपस्कारार्थ, प्रातिपदिकार्थ, विभक्त्यर्थ, कृत्यर्थ, पदार्थ और वाक्यार्थ।

शब्द और अर्थ के उपर्युक्त वर्गीकरण के बाद दूसरा सवाल होता है कि साहित्य क्या है? भोज का कहना है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही-साहित्य है और इसके भी, शब्द और अर्थ के उपर्युक्त भेदों के आधार पर बारह प्रकार हैं—अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग, व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थीभाव, दोषहान, गुणोपादान, अलङ्कारयोग और रसावियोग।[1]

---

1. कः पुनः शब्दः? येनोच्चारितेनार्थः प्रतीयते। स च द्वादशधा—प्रकृतिः, प्रत्ययः, उपस्कारः, उपपदम्, प्रातिपदिकम्, विभक्तिः, उपसर्जनम्, समासः, पदम्, वाक्यम्, प्रकरणम्, प्रबन्धः, इति। कोऽर्थः? यः शब्देन प्रत्यायते। स च द्वादशधा-क्रिया, कालः, कारकम्, पुरुषः, उपाधिः, प्रधानम्, उपस्कारार्थः प्रातिपदिकार्थ, विभक्त्यर्थः, वृत्त्यर्थः, पदार्थः, वाक्यर्थः इति। किं साहित्यम्? यः शब्दार्थयो संबंधः, स च द्वादशधा-अभिधा, विवक्षा, तात्पर्यम्, प्रविभागः, व्यपेक्षा, सामर्थ्यम्, अन्वयः, एकार्थीभावः, दोषहानम्, गुणोपादानम्, अलङ्कारयोगः, रसावियोगः इति।
—शृंगार प्रकाश, पहली जिल्द, प्रथम प्रकाश, पृ० 2-3।

उपर्युक्त शब्दार्थ-साहित्य प्रकारों में प्रथम आठ व्याकरणिक शब्दार्थ-साहित्य हैं और शेष चार काव्यात्मक। व्याकरणिक शब्दार्थ-साहित्य को शब्द-सम्बन्धशक्ति कहा गया है, जिसके पुनः दो विभाग किये गये हैं--केवल शक्ति-सम्बन्ध और सापेक्ष शक्तिसम्बन्ध। इनका संक्षिप्त परिचय उपयोगी होगा :

4·13·4 शब्दसम्बन्धशक्ति : शब्द सम्बन्धशक्ति को भोज ने शब्द और अर्थ की प्रयोगयोग्यता कहा है अर्थात् ये शब्द और अर्थ की वैसी बुनियादी शर्तें हैं, जो उन्हें वाक्य में प्रयुक्त होने के योग्य बनाती हैं। यह योग्यता क्या है ? भोज के अनुसार प्रयोगयोग्यता और कुछ नहीं सम्बन्धअर्हता है, सम्बन्ध की न्यूनतम शर्त--अथ का योग्यता ? यदेतत्सम्बन्धार्हत्वं नाम (शृं० प्र० VIII, पृ० 283)। अभिधा, विवक्षा आदि प्रथम आठ शब्दार्थ-साहित्य वस्तुतः इसी सम्बन्धअर्हता के विविध रुप हैं। ये सम्बन्ध अर्हताएँ भी दो प्रकार की हैं--केवल शक्तिसम्बन्ध और सापेक्ष शक्तिसम्बन्ध।

(क) केवलशक्तिसम्बन्ध : अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य तथा प्रविभाग ये केवल शक्तिसम्बन्धरूप हैं अर्थात् ये शब्द और अर्थ के साहित्य के प्रकृतरूप हैं, इनकी सिद्धि के लिए किसी अन्य शक्ति अथवा सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती।[1]

(i) अभिधा शब्द की अर्थ अभिधायिनी शक्ति है। यह अस्तित्ववाची शक्ति है। इसके तीन मुख्य भेद भोज ने बतलाये हैं--मुख्या, गौणी और लक्षणा।[2] पुनः इनके अन्य अवान्तर भेदों की चर्चा है।

(ii) शब्द के अभिधेय अर्थ के बाद भी, वक्ता के अभिप्रायविशेष को बतलाने वाला शब्दार्थ सम्बन्ध 'विवक्षा' है। लोकव्यवहार और काव्यव्यवहार में यह विवक्षा मुख्यतः तीन रूपों में आती है—काक्वादिव्यंग्या, प्रकरणादिव्यंग्या तथा अभिनयादिव्यंग्या।[3]

---

1. अभिधा च विवक्षा च तात्पर्यं च विभागवत्।
चतस्रः केवला ह्येताश्शब्दसम्बन्धशक्तयः,, पूर्ववत्, सप्तम प्रकाश पृ० 267।

2. तेषु शब्दस्यार्थाभिधायिनी शक्तिरभिधा। तया स्वरूप इवाभिधेये प्रवर्तमानः शब्दो वृत्तित्रयेण वर्तते, ताश्च मुख्या गौणी लक्षणेति तिस्रः। पूर्ववत् सप्तम प्रकाश, पृ० 223।

3. शब्दस्ववर्थेऽभिधानदानाभिप्रायो विवक्षा। ··· विवक्षा लोकव्यवहारे काव्य-व्यवहारे च सुमतिभिरुन्नीयमाना त्रिधा विख्यायते, काक्वादिव्यङ्ग्या, प्रकरणादिव्यङ्ग्या, अभिनयादिव्यङ्ग्या च। पूर्ववत्, सप्तम प्रकाश 238-240।

(iii) शब्दप्रयोग में प्रयोक्ता जो कहना चाहता है वही उसका अर्थ है और वही तात्पर्य। किन्तु शब्द स्वतंत्ररूप से अभिप्राय व्यक्त करने में असमर्थ होते हैं, अतः तात्पर्य वस्तुतः वाक्य का प्रतिपाद्य होता है जिसके मुख्यतः तीन प्रकार हैं—अभिधीयमान, प्रतीयमान और ध्वनि।[1]

(iv) शब्द अपने प्रकृत अर्थ के साथ पदरूप, वाक्यरूप और प्रबन्धरूप में अन्वित होता है। शब्द और अर्थ के इस अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की पृथक-पृथक अवधारणा 'प्रविभाग' है। अर्थात् शब्द और अर्थ तो प्रकृतरूप में अन्योन्याश्रित हैं ही; किन्तु उनकी पद-वाक्य-प्रबन्ध के संदर्भ में अलग-अलग अवधारणा भी हो सकती है। पद और अर्थ की आत्यंतिक संसृष्टि में भी उनकी पृथक् अवधारणा अन्वय-व्यतिरेक से हो सकती है और इसी रूप में (अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक से) शब्द और उसके प्रकृत अर्थ पद, वाक्य और प्रबन्ध में प्रयोगयोग्यता अर्जित करते हैं। अतः अन्वय-व्यतिरेक के रूप में शब्द और अर्थ का साहित्य प्रविभाग है।[2]

(ख) सापेक्ष शक्तिसंबंध : शब्दार्थ-साहित्य के अन्य चार रूपों, यथा-व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय और एकार्थीभाव को भोज ने सापेक्ष शक्तिसंबंध कहा है अर्थात् इस वर्ग का शब्दार्थ-साहित्य स्वनिहित शक्ति के कारण प्रयोग योग्य नहीं होता, बल्कि किसी अन्य शब्द की उपस्थिति, संगति आदि की अपेक्षा होती है। तत्-तत् अपेक्षाओं का क्रमशः विवेचन किया गया है :

(i) व्यपेक्षाजन्य शब्दार्थ-साहित्य में व्यतिरेक से उत्पन्न शब्दार्थ-संबंध इतरेतर आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता (जो वाक्य की शर्तें हैं) के कारण ही सार्थक

---

1. यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति तात्पर्यम्। तच्च वाक्यएवोपपद्यते। पदमात्रेणाभिप्रायस्य प्रकाशयितुमशक्यत्वात्। तच्च वाक्यप्रतिपाद्यं वस्तु त्रिरूपं भवति। अभिधीयमानं प्रतीयमानं ध्वनिरूपं च। पूर्ववत्, सप्तम प्रकाश पृ० 246।

1. पदे वाक्ये प्रबन्धे वाऽस्यैतावतः शब्दस्यायमर्थोऽस्मिन्नर्थे चायमेतावत् शब्द इति शब्दार्थयोर्मिथः सम्बन्धितया पृथक्त्वेनावधारणं प्रविभागः। स द्विविधोऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां इह खल्वत्यन्तसंसृष्टानां पदार्थानां प्रविभागेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां नान्यो हेतुरस्ति। पूर्ववत्, सप्तम प्रकाश पृ० 263।

होते हैं।[1] यह वाक्यरचना का क्षेत्र है। भोज ने आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता का गंभीर विवेचन किया है।

(ii) वाक्य में व्यपेक्षा के साथ ही शब्दों में परस्पर सम्बन्ध-योग्यता भी चाहिए। संबंध-योग्यता का अर्थ है वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का परस्पर संगतार्थ-उपसर्जन की क्षमता····· पूर्वोत्तरपदयोः सङ्गतार्थता तत्सामर्थ्यं सम्बन्धः (शृं० प्र० पृ० 285)। इसके लिए यह जरूरी है कि आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता से युक्त शब्द, वाक्यसंदर्भ में, परस्पर सम्बन्ध-सम्बन्धीरूप से संसृष्ट हों। शब्दों का इसरूप में संसृष्ट होना ही 'सामर्थ्य' रूप शब्दार्थ-सम्बन्ध है।

(iii) वाक्यसंदर्भ में व्यपेक्षादि से ग्रहीत संगतार्थों का अन्योन्याश्रितरूप में ग्रथन 'अन्वय' है—व्यपेक्षादिभिरेकार्थपरतयोपात्तानां पदार्थानां मिथोऽभिग्रथनम् अन्वयः (शृं० प्र०, पृ० 274)। इसके अन्तर्गत भोज ने मीमांसकों के अन्विताभिधानवाद तथा अभिहितान्वयवाद की विस्तृत समीक्षा की है।

(iv) व्यपेक्षा, सामर्थ्य और अन्वय से ग्रहीत वाक्यार्थ तथा वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के प्रकृत अर्थ के बीच तिलतंडुलवत्, नीरक्षीरवत् तथा धूलिजलवत् अविभज्यमान सम्बन्ध (साहित्य) को एकार्थीभाव कहा गया है।[2]

8·13·5. काव्यात्मक शब्दार्थ-सम्बन्ध : अभिधा, विवक्षादि उपर्युक्त आठ शब्दार्थ-सम्बन्धों को भोज ने शब्द और अर्थ की प्रयोग-योग्यता माना है। प्रयोग-योग्यता समस्त शब्दार्थ-व्यवहार—लोक, शास्त्र तथा काव्य की बुनियादी शर्त है। काव्य में यह प्रयोग-योग्यता, सम्यक्प्रयोज्यता में अन्तरित हो जाती है। अर्थात् काव्यात्मक शब्दार्थ-सम्बन्ध अथवा साहित्य में, शब्द और-अर्थ के उपर्युक्त अष्टप्रकार साहित्य अथवा प्रयोग-योग्यता के साथ-साथ, अतिरिक्तरूप में सम्यक्प्रयोगजन्य साहित्य का होना भी अनिवार्य है। योग्यप्रयोग और सम्यक्प्रयोग के सूक्ष्म अंतर के आधार पर ही भोज ने 'साहित्य' के शेष चार भेदों, यथा—दोषहान, गुणोपादान,

---

1. तत्रोद्भूतसम्बन्धव्यतिरेकाणां पदार्थानामितरेतरप्रत्याकाङ्क्षा व्यपेक्षा। सा च सन्निहिते योग्ये च भवति। पूर्ववत्, अष्टम प्रकाश, पृ० 268।

2. व्यपेक्षावतां समर्थानामन्वितार्थानां च पदार्थानां तिलतण्डुलवत् क्षीरनीरवत् पांसूदकवच्च यदविभागरूपेण भवनं स एकार्थीभावः। पूर्ववत्, अष्टम प्रकाश, पृ० 297।

अलंकारयोग तथा रसावियोग का संयोजन काव्य में किया है।[1] यह सम्यक्प्रयोग-चतुष्टय ही काव्यात्मक शब्दार्थ-साहित्य को योग्य-प्रयोगजन्य अन्य शब्दार्थ-साहित्य से पृथक् करता है, यहीं काव्यात्मक साहित्य का वैशिष्ट्य है।

योग्यता तो भोज के ही शब्दों में संबन्ध की अनिवार्य शर्त है— अथ का योग्यता ? यदेतत्सम्बन्धार्हत्व नाम (शृं० प्र०, पृ० 283), किंतु सम्यक्प्रयोग को उन्होंने अपारिभाषित छोड़ दिया है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि सम्यक्-प्रयोग से भोज का अभिप्रेत क्या है ? इस सम्बन्ध में कुछ प्रकारान्तर संकेत विचारणीय हैं :

(क) सरस्वतीकंठाभरण में शब्दार्थसम्मितत्व का निरूपण पाया है। शब्दार्थ का समतुल्य होना सम्मितत्व है—शब्दार्थौ यत्र तुल्यौ स्तः सम्मितत्वं तदुच्यते (1/114)। शब्दार्थसमतुल्यता को तुला-संतुलन के रूप में स्पष्ट किया गया है—अत्रार्थस्य पदानां च तुलाविधृतवत्तुल्यत्वेन संमितत्वम् (स० कं०, 1/90 वृत्ति)। रत्नेश्वर ने टिप्पणी करते हुए कहा है कि शब्दगुणरूप सम्मितत्व में अभिव्यंजना का संतुलन होता है तो अर्थगुणरूप सम्मितत्व में व्यंजना (अर्थ) का संतुलन[2]। यह शब्दार्थसम्मितत्व सम्यक्प्रयोग के संरचनात्मक पक्ष को स्पष्ट करता है।

---

1. तत्र चाभिधाविवक्षादिभिर्निरूपिते शब्दार्थयोः साहित्ये वाक्यस्य प्रयोगयोग्यता प्रयोगानर्हता च निश्चीयते।···सम्यकप्रयोगाश्चास्य तदोपपद्यते यदा दोषहानं गुणोपादानमलङ्कारयोगो रसावियोगश्च भवति। पूर्ववत्, नवम प्रकाश, पृ० 305।

द्रष्टव्य : सरस्वतीकंठाभरण के मंगलाचरण श्लोक पर टिप्पणी करते हुए रत्नेश्वर ने सम्यक्प्रयोग अथवा काव्यात्मक शब्दार्थ-सम्बन्ध को सर्वस्वायमान संबंध कहा है (स० कं० पृ० 2)। डॉ० राघवन भोज के सम्यक्प्रयोग, रत्नेश्वर के सर्वस्वायमान संबंध तथा कुंतक के विशिष्टम् साहित्यम् को समानार्थी मानते हैं। विशेष विवरण के लिए देखें—भोजाज़ शृंगार प्रकाश, पृ० 88।

2. अर्थस्य विभज्य तुलाधृतवत् प्रतिनिवेशः सम्मितत्वमिति। अर्थमुद्दिश्य शब्दतुलनं काव्यभावबीजं शब्दगुणः, शब्दमुद्दिश्य तु अर्थतुलनमर्थगुणश्च। स० कं० पृ० 83।

(ख) सम्यक्‌प्रयोग के गुणात्मक पक्ष के स्पष्टीकरण के लिए अन्य स्रोतों से उपलब्ध परिभाषाएँ भी द्रष्टव्य हैं। अमरकोषकार के अनुसार सत्य, तथ्य और ऋत् सम्य्क के तीन अर्थ हैं।[1] सर मोनियर विलियम्स ने सम्यक् का एक अर्थ 'ललित' भी दिया है, Perfection, completeness आदि सम्यकत्व के अर्थ हैं।[2] तारानाथ तर्कवाचस्पति ने सम्यक् के शोभा, मनोज्ञ आदि अर्थ दिये हैं।[3]

सम्यक् प्रयोग से भोज का मंतव्य निश्चय ही संरचनात्मक दृष्टि से शब्दार्थ सम्मितत्व तथा गुणात्मक दृष्टि से ललित एवं मनोज्ञ प्रयोग है, क्योंकि दोषहान आदि सम्यक् प्रयोगजन्य शब्दार्थ-साहित्य का सीधा सम्बन्ध इन्हीं से है। इस धारणा की पुष्टि दोष, गुण, अलंकार तथा रस सम्बन्धी भोज के दृष्टिकोण से भी होती है।

4·13·6. सम्यक् प्रयोग के अंतर्गत विवेचित दोषहानादि का अवधारणिक विश्लेषण काव्यात्मक शब्दार्थ-साहित्य को सही समझ के लिए आवश्यक होगा।

(क) सम्यक् प्रयोग अथवा सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य की पहली शर्त है—दोषहान। भोज ने अपने काव्यलक्षण में निर्दोषत्व को अनिवार्य माना है (स० कं० 1/2)। सदोष रचना को भोज 'हेय काव्य' कहते हैं और दोष वे हैं जो काव्य को हेय बनाते हैं (स० कं० 1/3), रत्नेश्वर के मत में काव्यार्थप्रतीति में सारे बाधक तत्त्व दोष हैं—अभिमतप्रतीतिव्यवधायकतया विघ्नभूतः शश्वत्काव्ये हेयतामापादयति स एव दोषः। (स० कं० पृ० 3)। रत्नेश्वर ने संभवतः भोज के अभिमत को ही स्पष्ट किया है। इसी व्यपाक अर्थ में भोज निर्दोष काव्यता की बात करते हैं।

सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य में दोषहान की सार्थकता यह है कि भाषिक स्तर पर पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ का, कवि के आत्मभाव तथा अभिप्रेत काव्यार्थ के संदर्भ में, साधुप्रयोग काव्यात्मक भाषा की पहली शर्त है। काव्यात्मक प्रयोग से इतर भाषा-व्यापारों में दोषहान चाहे उतना अनिवार्य न हो; क्योंकि वहाँ अभिमतार्थ बाधित होने की उतनी आशंका नहीं होती, इसलिए भी कि अन्य भाषाव्यापारों में भाषिक प्रयोग के संरचनागत सम्मितत्व एवं गुणात्मक लालित्य की अपेक्षा नहीं रहती। रत्नेश्वर को साक्षी मानें तो स्पष्ट है कि भोज की दृष्टि में दोष काव्य की संप्रेषणधर्मिता को ही बाधित करते हैं। अन्य भाषिक व्यापार प्रेषणधर्मी हैं; काव्य संप्रेषणधर्मी।

1. अमरकोष, निर्णयसागर संस्करण, 1/6/22।
2. संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, ऑक्सफोर्ड, 1899 ई० संस्करण।
3 शब्दस्तोममहानिधि।

भोज ने यद्यपि दोष के तीन वर्ग माने हैं—पदगत, वाक्यगत और वाक्यार्थ-गत (स० कं० 1/3; शृं: प्र० 9, पृ० 305) और उनका सविस्तर विवेचन भी किया है, लेकिन यह भी स्पष्ट है कि बुनियादी तौर पर वे वाक्यार्थ को ही इकाई मानकर चलते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि वाक्यावस्था में पद, पदार्थ आदि भिन्न-भिन्न प्रतीत नहीं होते और वाक्यार्थ की दृष्टि से एक अखंड स्थिति होती है। वाक्यावस्था अथवा वाक्यार्थ की यह अखंड प्रतीति ठीक वैसी ही है जैसी चित्र में नील-पीत-रक्त आदि वर्ण; पानक में गुड़, आमल, मिर्च आदि के स्वाद तथा संगीत में विभिन्न राग-रागिनियों की समंजित प्रतीति।[1] इस दृष्टि से दोषहान का अर्थ होगा वाक्यार्थ का सम्यक् होना।

अन्यत्र भोज ने वाक्यार्थ के तीन रूप माने हैं—भावना, विधि और प्रतिभा। कोई लक्ष्य, लक्ष्यप्राप्ति के लिये प्रयत्न तथा तत्निमित्त इतिकर्तव्यता अथवा संसाधनप्राप्ति का समंजित रूप भावना है। वस्तुतः ईप्सित वस्तु की उपलब्धि के लिए व्यक्ति के स्वभाव का समस्त व्यापार ही भावना है, जिसकी सिद्धि के लिए साध्य, साधक एवं साधन का समंजित होना अनिवार्य है। प्रवृत्ति, निवृत्ति अर्थवादादिरूप शब्दव्यापार 'विधि' है। प्रत्यक्ष अथवा व्यंजित विधि-निषेध-अर्थवादरूप शब्दव्यापार इसका विषय है। प्रवृत्ति के अनुकूल बुद्धि 'प्रतिभा' है। जितना कुछ भी मानवव्यापार है, तत्संबंधी भावना के अनुकूल बुद्धि 'प्रतिभा' का क्षेत्र है।[2] अतः कहा जा सकता है कि वाक्यार्थ के सम्यक् होने का तात्पर्य है

1. नहि वाक्यावस्थायां पदानि पदार्था वा विद्यन्ते। यथा हि चित्रे नीलपीतरक्तादयः, पानके गुडामलकमरीचादयः, ग्रामरागे षड्जर्षभगान्धारादयः, चित्रादिभ्यः पृथकत्वेन नावभासन्ते। तथा वाक्येऽपि क्रियाकारकविशेषणादिपदानि तदर्था वा न वाक्यवाक्यार्थाभ्यां भेदेनैव प्रतीयन्ते।···
वाक्यार्थो हि पदपर्यायैरखण्ड एवाभिधीयमानो दृश्यते।
—शृंगार प्रकाश, नवम प्रकाश, पृ० 305.

2. (i) अतः फलकरणेतिकर्तव्यतावच्छेदात् किं केन कथमित्यपेक्षिणी त्र्यंशपरिपूर्णा भावना भवति। ····· भाव्यनिष्ठस्वभावको व्यापारो भावना।
(ii) प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्विधायकोऽर्थवादादिभिरुपक्रियमाणो लिङ्लोटतव्यादिवाच्यः शब्दव्यापारो विधिः।
(iii) स्वं स्वमर्थमभिधायोपरतेषु पदेषु पदार्थप्रतिपत्त्यनन्तरमुपजायमाना इदं तदिति व्यपदेश्यानुपदेशसिद्धा हिताहितप्राप्रिपरिहारहेतुः प्रवृत्त्यानुकूला बुद्धिः प्रतिभा। ······प्रतिभालोचनो हि लोक इतिकर्तव्यतासु प्रवर्तते।
शृं० प्रकाश, षष्ठ प्रकाश, पृ० 211-213.

प्रयोक्ता की भावना (लक्ष्य + प्रयत्न + संसाधन), विधि तथा प्रतिभा का सम्यक् होना। वाक्यार्थ-सम्यकत्व की उपर्युक्त शर्तों को काव्यार्थ पर घटित करने पर स्थिति और भी स्पष्ट होती है। काव्यार्थ की दृष्टि से सम्यक् भावना (कवि का आत्मभाव, अभिव्यक्ति संसाधन तथा प्रवृत्ति), सम्यक् विधि (व्यंजना) तथा सम्यक् बुद्धि-व्यापार (प्रतिभा) का समंजन अपेक्षित होगा। इसीलिए सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य के विवेचन के पूर्व भोज ने अड़तालीस वाक्यधर्मों का सोदाहरण विवेचन किया है।

स्पष्ट है कि दोषहान के माध्यम से भोज ने वस्तुतः औचित्य का ही प्रश्न उठाया है। दोषहानरूप सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य वस्तुतः ऐकान्तिक रूप से काव्य-भाषा का ही प्रश्न नहीं है, बल्कि कवि के उन तमाम सर्जनात्मक प्रयत्नोंका प्रश्न है, जिनके कारण उसका आत्मभाव, संरचनात्मक तथा गुणात्मक इयत्ता के साथ, भाषिक रूपान्तरण ग्रहण करता है।

ख (i) सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य की दूसरी शर्त है—गुणोपादान अर्थात् कार्यरूप (काव्य) में परिणत होनेवाला समवायी कारण के तौर पर गुण का ग्रहण। गुण के संबंध में भोज की स्पष्ट मान्यता है कि गुणरहित काव्य के अलंकरण का कोई अर्थ नहीं, गुणालंकारयोग में प्रधानता गुणयोग की ही है :

अलङ्कृतमपि श्राव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः ॥ स० कं०, 1/72, पृ० 49।

इतना ही नहीं, गुणयोग को रसादियोग की तरह नित्य माना गया है—नित्यो हि काव्ये गुणयोग इव रसादियोगः (स० कं०, पृ० 761)। गुणालंकार-संकर पर विचार करते हुए भोज ने यह भी कहा कि गुणालंकरसंकर मूलतः गुणरूप ही होता, यद्यपि प्रधानता की दृष्टि से कहीं गुणप्रधान और कहीं अलंकार-प्रधान संकर माना जाता है।[1]

शृंगारप्रकाश में भी भोज ने उपर्युक्त धारणा की संपुष्टि की है—गुणोपादान तथा अलंकारयोग में गुणोपादान को श्रेयस्कर मानते हुए भोज ने काव्य में गुणोपादान को नियमतः सिद्ध कहा है, और अलंकार को कामाचार।

---

1. अतो यद्यपि गुणवत्येव वाक्ये सङ्करयोगः तथापि क्वचिद् गुणस्य प्राधान्यं क्वचिदलङ्कारस्य इति प्रधानाङ्गभावेन गुणालङ्कारयोः सङ्करव्यवहारः प्रवर्त्तते। स० कं०, पृ० 771–772।

अलंकारयोग कवि की इच्छा पर निर्भर है, जबकि गुण अनिवार्यतः होता ही है।[1] स्पष्ट है कि गुण भोज की दृष्टि में वह समवायीकारण हैं जो काव्यभाषा का स्वरूप निर्धारण करते हैं।

गुण तीन प्रकार के माने गये हैं—बाह्य, आन्तरिक और वैशेषिक। युवती के अवयव-सौष्ठव की तरह काव्य के शब्दगुण बाह्यगुण हैं। युवती के ही शील, वैदग्ध्य, सौभाग्य आदि की तरह काव्य के अर्थगुण आन्तरिक गुण हैं। विशेष अवस्था अथवा कारणवश दोष भी गुण हो जाते हैं—ये वैशेषिक गुण हैं। इनमें से प्रत्येक के चौबीस-चौबीस भेद भोज ने बतलाये हैं।

(ii) भोज की गुण अवधारणा वाक्यार्थ तक ही सीमित नहीं, इसे वे प्रबन्ध पर भी घटित करते हैं। वाक्यगत शब्दार्थवैशेषिक गुण जैसे रसावियोग की सिद्धि में साधन होते हैं, वैसे ही प्रबन्धगत शब्दार्थोभय गुण रसावियोग के साधन हैं। प्रबन्ध के सिलसिले में भोज ने वैशेषिक गुण के बजाय उभयगुण की चर्चा की है।

प्रबन्धगत शब्दगुण का संबंध मुख्यतः प्रबन्धशिल्प से है। संक्षिप्तग्रंथत्व, अविषमबंधत्व, श्रव्यवृत्तत्व, अनतिविस्तीर्णसर्गादित्व, और श्लिष्टसंधित्व प्रबन्धगत शब्दगुण हैं। संक्षिप्तग्रंथत्व का अर्थ है अनावश्यक विस्तार का अभाव। अविषमबंधत्व का अर्थ है काव्यबंध (poetic texture) का रूप पर्याप्त एकसाँ होना। श्रव्यवृत्तत्व का संबंध श्रुतिमधुर छन्दोविधान से है। अनतिविस्तीर्णसर्गादित्व का तात्पर्य सर्गों के अना- वश्यक तौर पर विस्तृत अथवा संक्षिप्त न होना है। प्रबन्ध में नाट्यसंधियों की सही संरचना श्लिष्टसंधित्व है।

प्रबन्धगत अर्थगुण का संबंध प्रबन्ध के वस्तुतत्त्व से है। इसके अन्तर्गत चतुर्वर्गफलायत्तत्व, चतुःउदात्तनायकत्व, रसभावनिरन्तरत्व, विधिनिषेधव्युत्पादकत्व तथा सुसूत्रसंविधानकत्व परिगणित हैं। चतुर्वर्गफल का संबंध प्रबन्ध के महत्तत्त्व से है। चतुःउदात्तनायकत्व प्रबन्ध का चरित्रविधान है। रसभावनिरन्तरत्व रसयोजना है और विधिनिषेध की योजना प्रबन्ध का सामाजिक मूल्य है। सुसूत्र-संविधानकत्व का संबंध उपर्युक्त समस्त गुणों के संश्लिष्ट समायोजन से है ताकि प्रबन्धसौन्दर्य अभिवृद्ध हो।

---

1. गुणोपादानालङ्कारयोगयोर्गुणोपादानं गरीयः। ··· ··· अयमेवच गुणालङ्कारयोर्विशेषो यद्गुणोपादाने नियमोऽलङ्कारयोगे तु कामचार इति। शृंगार-प्रकाश, नवम प्रकाश, पृ० 340।

प्रबन्धगत उभयगुण का संबंध प्रबन्ध के शिल्प तथा वस्तुतत्त्व दोनों से है। रसानुरूपसंदर्भ, पात्रानुरूपभाषा, अर्थानुरूप छंद तथा लोकरंजक अलंकृतवाक्यता प्रबन्धगत उभयगुण हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन में भोज का महत्त्व विवरण की दृष्टि से नहीं, वर्गीकरण तथा संकलपन की दृष्टि से है। वे सारे विवरण मुख्यतः दण्डी के काव्यादर्श से लिये गये हैं, किंतु उन्हें प्रबन्धगतगुण के रूप में वर्गीकृत किया जाना तथा रसावियोग के साधनपक्ष एवं सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य के रूप में संकलपन निश्चय ही भोज की मौलिक व्यवस्था है। स्पष्ट है कि यहाँ 'शब्द' से भोज का तात्पर्य सिर्फ सार्थक वर्ण समूह नहीं बल्कि 'अभिव्यक्ति' है, वैसे ही 'अर्थ' का मतलब सिर्फ वाच्य नहीं बल्कि 'कथ्य' है। इसप्रकार भोज प्रबन्धगत अभिव्यक्तिपक्ष तथा कथ्य अथवा भावपक्ष को सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य का ही रूप मान लेते हैं, यह काव्यगत शब्दचिंतन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बात है।

ग (i) सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य की तीसरी शर्त है—अलंकारयोग। गुण तथा अलंकार के पारस्परिक वरेण्यता की दृष्टि से भोज गुणोपादान को ही अधिक महत्त्व देते हैं और अलंकार को कामाचार मानते हैं, यह हम देख चुके हैं। लेकिन यह धारणा, भोज के अलंकार-संप्रत्यय का एक पक्ष है।

भारतीय काव्यशास्त्र में वामनादि ऐसे आचार्य भी हैं जो अलंकृति को अरंकृति किंबा सौन्दर्य का पर्याय मानते हैं। वामन ने सौन्दर्य को काव्य का मूल्य-पक्ष माना हैं और उनकी दृष्टि में सौन्दर्य ही अलंकार है। दण्डी ने काव्य के समस्त सौन्दर्यविधायक तत्त्वों को अलंकार कहा था। अलंकार के इस व्यापक अर्थ को संपुष्ट करने में भोज सभी आचार्यों से आगे हैं।

अलंकार के मुख्यतः तीन विभाग किये गये हैं—बाह्य, आभ्यंतर और बाह्याभ्यंतर जो क्रमशः शब्द, अर्थ तथा उभय अलंकार हैं। इसके अतिरिक्त भोज

---

1. तत्र महाकाव्यादौ यथासंभवंसंक्षिप्तग्रन्थत्वमविषमबन्धत्वमनतिविस्तीर्णसर्गादित्वं शिलष्टसन्धित्वं चेति शब्दगुणाः। चतुर्वर्गफलायत्तत्वं चतुरोदात्तनायकत्वं रसभावनिरन्तरत्वं विधिनिषेधव्युत्पादकत्वं सुसूत्रसंविधानकत्वमित्यर्थगुणाः। रसानुरूपसंदर्भत्वं पात्रानुरूपभाषात्वमर्थानुरूपछन्दस्त्वं समस्तलोकरञ्जकत्वं सदलंकारवाक्यत्वमित्युभयगुणाः। शृंगारप्रकाश, एकादश प्रकाश, पृ० 471।

ने प्रबन्धालंकार की बात भी की है। अलंकार के इन चार विभागों में सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य के सारे योग समाविष्ट कर लिए गये हैं।

(ii) बाह्यालंकार के अन्तर्गत परंपरागत शब्दालंकारों के अलावा भोज ने अन्य समस्त शब्दव्यवहार को भी समेट लिया है। 'जाति' वक्तृ औचित्य तथा विषयौचित्यजनित भाषाप्रयोग है—सा त्वौचित्यादिभिर्वाचामलङ्काराय जायते (स० कं० 2/6)। 'औचित्य के अनुकूल भाषा-प्रयोग के छह: विकल्प भोज ने बताये हैं—शुद्ध (संस्कृत), मिश्र (मिलीजुली भाषा), संकीर्ण (दुर्विदग्ध पात्र के लिए प्रयुक्त भाषा), साधारणी (संस्कृत-व्याकरण के विभिन्न स्कूलों के अनुकूल भाषान्तर प्रयोग), असाधरणी (क्रीड़ागोष्ठी, विनोद आदि में आधी संस्कृत और आधी प्राकृतादि भाषा), अपभ्रष्ट (स० कं० 2/7-29, शृं० प्र० पृ० 371-372)। भाषौचित्य को भी भोज ने, उपर्युक्त वर्गीकरण के बावजूद, किसी सीमा में नहीं बाँधा है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि—कवि-अभिप्राय की दृष्टि से कोई भी भाषारूप कहीं भी प्रयुक्त हो सकता है, यहाँ तक कि आवश्यकतानुसार (देश, काल, पात्र, विषय) अपभ्रष्ट भाषा का प्रयोग भी साधुप्रयोग कहा जाएगा![1] जाहिर है कि साहित्य में श्लीलता-अश्लीलता का प्रयोग कोई निर्विकल्प प्रश्न नहीं है।

'गति' के अन्तर्गत भोज ने गद्य, पद्य तथा मिश्र (चंपू) भाषा विधा के औचित्य को रखा है। इस दृष्टि से साहित्यविधा, छंदोविधान, रीति, वृत्ति आदि सभी शब्दालंकार में परिगणित हो जाते हैं। ऐसी धारणा निश्चय ही अतिवादी कही जाएगी, लेकिन भोज का पक्ष यह है कि विधा, छंद, रीति, वृत्ति आदि के विशिष्ट प्रावधान वस्तुतः कवि-अभिप्राय के ही रूपान्तरण हैं और ऐसे रूपान्तरण कवि की मति, शक्ति, तथा रुचि के सुन्दरतम रूप हैं, अतः वे अलंकार हैं। सभी कुछ गद्य में नहीं लिखा जाता, न सबकुछ पद्य में लिखा जाता है और न मिश्रबंध में। इसका अर्थ यह है कि गद्य, पद्य या चंपू के भाषाबंध में कुछ अपना वैशिष्ट्य है जिसके कारण कुछ विषयों के लिए गद्य, कुछ के लिए पद्य और कुछ के लिए चंपू उपयुक्त होता है, यद्यपि यह भी सही है कि वैसा कोई आत्यंतिक नियम-निर्धारण

---

1. (i) प्रायिकञ्चैतत् तेन कवेरभिप्रायशक्त्यादिभ्यः सर्वा अपि सर्वप्रयोज्या भवन्ति। —स० कं० 2-23, पृ० 145।

(ii) सेयमपशब्दप्रयोगतोऽपभ्रष्टापि अविद्वद्भिः श्रोत्रियाद्यैः प्रयुज्यते इति अपभ्रष्टा जातिः। अस्मा अपि च अनुकरणे साधुत्वनिष्यते।
—स० कं०, 2-29, पृ० 149।

किया जा सकता। 'गति' का एक दूसरा अर्थ भी भोज ने दिया है और वह है भाषाप्रवाह। भाषाप्रवाह के छह प्रकार हैं—द्रुत, विलम्बित, मध्यम, द्रुतविलम्बित, द्रुतमध्य और मध्यविलम्बित। आवश्यकता एवं विषयौचित्य के अनुकूल भाषा-प्रवाह का निर्वाह भी शब्दालंकार माना गया है।

'रीति' जो रसोचित शब्दव्यवहार है और वामनसम्मत काव्यात्मा, वह भी भोज के मत में अलंकार है। रसोचित अर्थव्यवहाररूप कैशिकी आदि वृत्तियाँ भी शब्दालंकार हैं। अन्य अपारंपरिक शब्दालंकार इसप्रकार हैं :

रचना : यथावत् शब्दार्थनिवेश (शृं प्र. पृ० 374), वाक्य में शब्दार्थ की सम्यक् रचना या गुंफन (स० कं० 2-118)।

घटना : परस्पर उपश्लिष्ट अर्थ (शृं० प्र० पृ० 375),

शय्या : कथन में भूत, वर्तमान और भविष्य का चामत्कारिक घटन (सरस्वती 2-125)।

मुद्रा : साभिप्रायवचन (शृं० प्र० पृ० 376)

छाया : किसी की उक्ति का अनुकरण (शृं० प्र० पृ० 377)

युक्ति : परस्पर असंबद्ध वस्तु या विषय की चामत्कारिक योजना (शृं० प्र० पृ० 377, स० कं०, 2-98)

उक्ति : विधि-निषेधादि अभिधान (शृं० प्र० पृ० 378)

भणिति : उक्ति का प्रकारान्तर आख्यान (शृं० प्र० पृ० 379)

पठिति : वाक्य की उच्चारण-विधि (शृं० प्र० पृ० 380)

श्रव्य : श्रुतिसौख्य (शृं० प्र० 381)

प्रेक्ष्य : लास्य आदि से संबद्ध अंगसंचालन की वर्णना (शृं० प्र० पृ० 381)

अध्येय : विधि-निषेध की व्युत्पत्ति के लिए अध्येय सामग्री—काव्य, शास्त्र, इतिहास आदि (शृं० प्र० पृ० 383)

नियम : स्वर, स्थान, वर्ण, गति, बन्ध तथा आकार संबंधी नियम अर्थात् चित्रालंकार (शृं० प्र० पृ० 387)

उपर्युक्त अपारंपरिक शब्दालंकारों के अलावा यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि शब्दालंकारों की चर्चा भी आई है। विवरण से स्पष्ट है कि भोज का रुचि विषय को अधिकाधिक विस्तार देने में है। एक ही विषय की अनेकविध व्याख्याएँ भी इसीलिए आई हैं। जैसे एक ओर तो कैशिकी आदि वृत्तियों को स्वतंत्र शब्दालंकार के रूप में रखा गया है, दूसरी ओर अनुप्रास के अन्तर्गत पुनः गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढ़ा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता

और अभिता के रूप में वृत्ति को 'काव्यव्यापी संदर्भ' मानकर विवेचित किया गया है। इसप्रकार काव्यसौन्दर्यविधायक हर 'शब्द' तथा उसकी प्रयोगविधि भोज के मत में शब्दालंकार है।[1] इस दृष्टि से समस्त काव्योपयोगी वस्तु, विषय या विधान अलंकार कहा जाएगा। यह सही है कि ऐसी स्थिति में शब्द और अर्थ की विभाजनरेखा बहुत स्पष्ट नहीं रह जाती। संभवत: स्पष्ट विभाजन-रेखा बनाये रखना भोज का इष्ट भी नहीं प्रतीत होता। वैसे उन्होंने शब्दालंकार और अर्थालंकार के बीच स्पष्ट विभाजनरेखा खींचने की कोशिश भी की है। उनकी मान्यता है कि व्युत्पत्ति आदि जहाँ शब्द को अलंकृत करते हैं वहाँ शब्दा-लंकार और जहाँ अर्थ को अलंकृत करते हैं वहाँ अर्थालंकार होता है।[2] इस विभाजनरेखा की सैद्धांतिक स्वीकृति के बावजूद भोज ने मुद्रा, उक्ति, वृत्ति आदि को शब्दालंकार माना है, जबकि मुद्रा का चमत्कार ध्वनिजनित होता है, उक्ति (विधि, निषेध) का तात्पर्याश्रित और वृत्ति तो अर्थसंदर्भ है ही. इसे भोज भी स्वीकार करते हैं—सुकुमार सन्दर्भार्थी कैशिकी (शृं० प्र० पृ० 373)। इसीलिए हमने कहा है कि शब्दालंकार और अर्थालंकार में सिद्धांत: विभाजकरेखा मानते हुए भी भोज उसका निर्वाह नहीं कर पाते। इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो यह है कि सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य की दृष्टि से उक्त अलगाव का बहुत महत्त्व

---

1. चतस्रो विंशतिश्चैता: शब्दालङ्कारजातय:।
शब्दसन्दर्भमात्रेण हृदयं हर्त्तुमीशते। ——स० कं०, पृ० 336।

2 (i) ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलङ्कर्त्तुमिह क्षमा:।
शब्दालङ्कारसंज्ञास्ते ज्ञेया जात्यादयो बुधै:॥ —स० कं०, 2/2
अलमर्थमलङ्कर्त्तुं ये व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना।
ज्ञेया जात्यादय: प्राज्ञैस्तेऽर्थालङ्कारसंज्ञया॥ —स० कं०, 3/1

(ii) रत्नेश्वर ने व्युत्पत्ति आदि की संख्या 23 बतलाई है, लेकिन सूची नहीं दी है। भट्ट नृसिंह ने सरस्वतीकंठाभरण की टीका में किंचित् विस्तृत व्याख्या की है। उनके अनुसार व्युत्पत्ति आदि का अर्थ है प्रकृतिप्रत्ययादि अर्थविशेष-ज्ञान, वाक्यार्थविशेष ज्ञान, पदार्थस्वभाव ज्ञान, साम्य ज्ञान, विरोध ज्ञान आदि। उनमें हेतु आदि अलंकार प्रकृतिप्रत्ययादिअर्थविशेष ज्ञान के आश्रित होते हैं, विभावनादि वाक्यार्थज्ञान के आश्रित, जाति आदि पदार्थस्वभाव ज्ञान तथा अन्य साम्य-वैषम्य ज्ञान के आश्रित।
—देखें, डॉ० राघवनकृत 'भोजास शृंगारप्रकाश', पृ० 377।

नहीं है और भोज का पक्ष भी यही है; और दूसरा यह कि भोज की व्यापक परियोजना तथा संग्रह-संश्लेष की दृष्टि से भी आत्यंतिक पार्थक्य का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा होगा ! इसलिए काव्यसंदर्भ में वैसा कुछ नहींहै जो भोज की मतसरणि में अलंकार न हो।[1]

(iii) काव्य के आभ्यांतरिक सौंदर्य को भोज ने अर्थालंकार कहा है। अलंकारों के विभाजन में भोज ने शुद्ध और मिश्रित का भेद भी रखा है। पूर्व विवेचन में हमने देखा है कि व्युत्पत्ति आदि से सौंदर्य जहाँ शुद्धरूप से शब्दाश्रित है, वहाँ शब्दालंकार है और जहाँ अर्थाश्रित वहाँ अर्थालंकार। जहाँ आश्रय का शुद्धरूप नहीं मिलता, उसे भोज ने उभयालंकार की कोटि में रखा है। इस दृष्टि से उपमा, रूपकादि परंपरित रूप से स्वीकृत अर्थालंकार भोज के लिए अर्थालंकार नहीं, उभयालंकार हैं।

भोज ने कुल चौबीस शुद्ध अर्थालंकार माने हैं—जाति (स्वभावोक्ति), विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म. उतर, विरोध, संभव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शन, भेद, समाहित, भ्रांति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तवचन या आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।

(iv) भोजसम्मत उभयालंकारों की संख्या भी चौबीस है—उपमा, रूपक, साम्य, संशयोक्ति, अपह्नुति, समाध्युक्ति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतस्तुति, तुल्योगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेष, परिष्कृति (परिकर), दीपक, क्रम, प्रर्याय, अतिशय, श्लेष, भाविक और संसृष्टि।

उभयालंकार संबंधी भोज की धारणा में पर्याप्त नयापन है। वे यह मानते हैं कि काव्यार्थ विशिष्ट होता है और इस वैशिष्ट्य (वैचित्र्य) की अलंकृति शब्द और अर्थ दोनों से होती है। अतः वैसे अलंकार जिनका निष्पादक जितना शब्दाश्रित है उतना ही अर्थाश्रित भी, उभयालंकार हैं—

शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादिः प्रतीयते।
विशिष्टयोऽर्थः कवीनां स उभयालङ्क्रिया मता॥ —स० कं० 4/1

श्रृंगार प्रकाश में भोज ने कहा कि कुछ ऐसे अलंकार हैं जिनमें विशेष शब्द से विशेष अर्थ की प्रतीति होती है, इसलिए वे उभयालंकार हैं—शब्दविशेषद्वारकोऽर्थविशेषो येषु प्रतीयते ते उभयालङ्कारा: (दशम प्रकाश, पृ० 409)।

---

1. डॉ० राघवन, भोजास श्रृंगारप्रकाश, पृ० 363।

विशिष्ट शब्द से अर्थविशेष के निष्पादन में उभयालंकार संबंधी धारणा का चरमरूप भोजसम्मत संसृष्टि अलंकार के विवेचन में मिलता है। उभयालंकार के अन्तर्गत 'संसृष्टि' परंपरया मान्य है; किन्तु तत्संबंधी भोज की व्यवस्था सर्वथा अपारंपरिक है और काव्यगत शब्दचिंतन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी। अतः तत्संबंधी विशेष चर्चा अपेक्षित है।

परंपरया उभयालंकार संबंधी, भोज से पूर्व, तीन धारणाएँ हैं :

—भामह, दण्डी और वामन ने नानालंकारों के एकत्र होने को संसृष्टि कहा है। भामह के अनुसार अनेक अलंकारों का माला में रत्न की तरह योग संसृष्टि है[1]। दण्डी भी अंगागिभाव तथा समकक्ष रूप में संसृष्टि की चर्चा करते हैं (काव्यादर्श 2/360)। वामन अन्य अलंकार से अन्य अलंकार के विकसित अथवा उत्पन्न होने को संसृष्टि मानते हैं—अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं संसृष्टि : (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 4/3/30)। वहीं वृत्ति में संसर्ग संबंध को संसृष्टि कहा गया है—संसृष्टि: संसर्ग: सम्बन्ध इति।

—दूसरी धारणा है रुद्रट की। उन्होंने पूर्वोक्त आचार्यों की संसृष्टि संबंधी मान्यताओं को 'किंचित् संशोधन के साथ 'संकर' के रूप में स्वीकार किया है। रुद्रट का मत है कि वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेषमूलक अलंकारों के परस्पर संकीर्ण (मिश्रण) होने से अलंकारों के अगणित भेद होते हैं। उन अलंकारों का संकर दो प्रकार का होता है—तिल-तंडुलवत् व्यक्त और दुग्धजलवत् अव्यक्त।[2]

---

1. वरा विभूषा संसृष्टि: बह्वलङ्कारयोगत:।
रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा ॥ —काव्यालंकार, 3/49

2. एषां तु चतुर्णामपि संकीर्णानां स्युरगणिता भेदा:।
तन्नामान: तेषां लक्षणमंशेषु संयोज्यम् ॥
योगवशात् एतेषां तिलतण्डुलवत् च दुग्धजलवच्च।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात्संकर उत्पद्यते द्वेधा ॥ —काव्यालंकार, 10/24, 25।

विशेष : डॉ० राघवन का विचार है कि रुद्रट ही पहले आचार्य हैं जिन्होंने व्यक्ताव्यक्त अलंकारयोग का स्पष्ट विश्लेषण किया है, और 'तिल तंडुलवत्' तथा 'दुग्धजलवत्' लक्षण का प्रयोग भी पहली बार यहीं आया है। देखें—भोजास श्रृंगार प्रकाश, पृ० 383-384।

—तीसरी धारणा उद्भट की है, जिसकी बाद में स्पष्ट व्याख्या आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने की। उद्भट ने संसृष्टि और संकर को अलग-अलग बतलाया है। उनके अनुसार संसृष्टि में अनेक अलंकार परस्पर निरपेक्ष समाश्रित (स्थित) होते हैं।[1] 'संकर' की कोई पृथक् परिभाषा नहीं दी गयी है, लेकिन इसके भेदों के विवेचन से अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। उद्भट ने संकर के चार भेद बतलाए हैं—संदेह संकर, शब्दार्थवर्ती संकर, एकशब्दाभिधान संकर और अनुग्राह्यानुग्राहक संकर। जहाँ अनेक अलंकार उल्लिखित जान पड़ते हों, लेकिन उनकी एकस्थानिक स्थिति असंभव हो तथा किसी के पक्ष अथवा विपक्ष में बाधक अथवा साधक तर्क न हों, सभी संदेह की स्थिति में हों, वहाँ संदेह संकर होगा। एक ही वाक्य में शब्दार्थालंकार की स्थिति शब्दार्थवर्ती संकर है। जहाँ एक ही वाक्यांश में या वाक्य के एक खण्ड में अनेक अलंकारों की स्थिति हो, वहाँ एकशब्दाभिधान संकर होता है। जहाँ अनेक अलंकार अपनी विच्छिति के लिए परस्पर मुखोपेक्षी हों, वहाँ अनुग्राह्यानुग्राहक संकर होता है।[2] प्रतिहारेन्दुराज ने चतुर्विध संकर के आधार की व्याख्या करते हुए कहा है कि अनेक अलंकारों के विकल्प होने पर संदेह संकर, शब्द और अर्थ के भिन्नाधार आश्रित अलंकारों का एकस्थानीय समाश्रयण होने पर शब्दार्थवर्ती, समुच्चय रूप में अनेक अलंकारों का एक 'इव आदि' वाक्यांश से अनुस्यूत होने के कारण एकशब्दाभिधान और अनेक अलंकारों का अंगांगिभाव से रहना अनुग्राह्यानुग्राहक संकर है। अतः विकल्प, व्यवस्था, समुच्चय तथा अंगांगिभाव के संश्रय से अनेक अलंकारों का एक साथ होना संकर (चतुर्विध) अलंकार है।[3] प्रतिहारेन्दुराज की व्याख्या से स्पष्ट है कि अनेक अलंकारों का विकल्पादि संश्रय वस्तुतः उनकी सापेक्ष स्थिति का सूचक है। बाद में चलकर मिश्रित अलंकार की कोटि में 'संकर' और संसृष्टि दोनों पृथक्-पृथक् स्वीकृत हुए—संकर में नीर सीर की व्यवस्था रही और संसृष्टि में तिलतंडुल की।

भोज के सामने उपर्युक्त तीनों धारणाएँ थीं और उन्होने एतद्विषयक समस्त चिंतन का सिर्फ संसृष्टि शीर्षक से संश्लेष किया। उनकी मतसरणि में संकर

1. अलङ्कृतीनां बह्वीनां द्वयोर्वापि समाश्रयः।
एकत्र निरपेक्षाणां मिथः संसृष्टिरुच्यते ।। —काव्यालंकारसारसंग्रहः 6/5।
2. उपरिवत्, 5/11/13 :
3. अतो विकल्प-व्यवस्था-समुच्चयाङ्गांगिभावसंश्रया एते चत्वारः संकरभेदाः।
—काव्यालंकारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति, पृ० 392।

और संसृष्टि पर्यायवाची हैं और समस्त व्यवस्था के लिए 'संसृष्टि' शीर्षक ही उपयुक्त है –संसृष्टिरिति विज्ञया सर्वालङ्कारसङ्कर:[1]। भोज ने भामह-दण्डी-वामन-रूद्रट की धारणाओं का संश्लेष उपस्थित किया है––नाम के स्तर पर। इसके बाद सिद्धान्त का समाहार शेष रहता है। भोज ने समस्त पूर्ववर्ती व्यवस्थाओं के समाहर के अतिरिक्त कुछ नयी व्यवस्था भी दी है। उन्होंने बतलाया कि संसृष्टि के मुख्यत: तीन रूप हैं––व्यक्त, अव्यक्त, व्यक्ताव्यक्त। व्यक्त संसृष्टि पुन: दो प्रकार की हो सकती है—तिलतंडुलवत् और बिम्ब प्रतिबिम्बवत्। उसी प्रकार अव्यक्त के भी दो प्रकार हैं––नीरक्षीरवत् और पांशुपानीयवत् (धूल और जल के सम्मिश्रण की तरह)। व्यक्ताव्यक्त संसृष्टि के भी दो रूप हैं––चित्रवर्णवत् और नृसिंहवत्।[1] इनमें से बिम्बप्रतिबिम्बवत्, पांशुपानीयवत्, चित्रवर्णवत्, तथा नृसिंहवत् संसृष्टि की व्यवस्था भोज की निजी है।

इसप्रकार संसृष्टि/संकर विषयक समस्त पूर्वधारणाओं के संश्लेष प्रस्तुत करने तथा उसमें कुछ नया जोड़ने के बाद भोज सर्वथा नयी अवधारणा प्रस्तुत करते हैं कि रस, गुण और अलंकार की भी संसृष्टि होती है और इसप्रकार रस और गुण भी अलंकार हैं। वस्तुत: भोज की दृष्टि में नानालंकारसंसृष्टि प्रकारान्तर से रसोक्ति ही है–नानालङ्कारसंसृष्टे: प्रकाराश्च रसोक्तय: (स०कं०, पृ० 757) शृंगार प्रकाश की एतद्विषयक व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। भोज कहते हैं कि आत्मा का गुण विशेष है –अहंकार। अहंकार ही शृंगार है, वही अभिमान है और वही रस। रस तीन प्रकार का होता है—प्रकृष्ट, भावरूप और आभासरूप। कथा में आद्यन्त उत्तम नायकादि के कारण जो रस उत्पन्न होता है वह प्रकृष्ट है। मध्यमकोटिक विषय तथा नायकादि के कारण जो प्रकृष्टता अर्जित नहीं कर पाता वह भावरूप रस है और प्रतिनायक के कारण उत्पन्न रस आभासकोटिक है। कथा सम्बन्धी उपर्युक्त व्यवस्थाओं का घटन वाक्य में भी किया जा सकता है। वाक्य में अश्लील, अमंगल आदि का अभाव दोषहान है, कांति आदि गुणों का समावेश गुणोपादान, कैशिकी आदि वृत्ति तथा

---

1. संसृष्टिरिति विज्ञेया सर्वालङ्कारसङ्कर:।
सा तु व्यक्ता तथाऽव्यक्ता व्यक्ताव्यक्तेति च त्रिधा।।
तिलतण्डुलवत्व्यक्ता च्छायादर्शवदेव च।
अव्यक्ता क्षीरजलवत् पांशुपानीयवत् च सा।।
व्यक्ताव्यक्ता च संसृष्टिर्नरसिंहवदिष्यते।
चित्रवर्णवदन्यस्मिन्नानालङ्कारसङ्करे।।—स० कं०, 4/316-318।

वदर्भी आदि रीतियों का समावेश अलङ्कारयोग है। इनका पृथक्-पृथक् महत्त्व तो है ही, लेकिन संसृष्टि अलंकार के रूप में गुणालंकार का योग प्रकृष्ट योग होता है। प्राय: गुणालंकार की चर्चा काव्यशरीर के संदर्भ में कटककेयूरकुंडल के रूप में की जाती है, किंतु काव्य में वस्तुत: वैसी पृथक्-पृथक् अवस्थिति होती नहीं; जो भी होता है, कुलयोग के रूप में होता है। इसलिए नानालंकारसंसृष्टिरूप अलंकार ही सर्वश्रेष्ठ है। नानालंकारसंसृष्टि की स्थिति काव्य से वैसी ही संश्लिष्ट होती है जैसी भोजन में मधुर, अम्ल, लवण आदि की या वेषभूषा में वस्त्र, अनुलेपन आदि; धूप में चन्दन, कर्पूर आदि; संगीत में नृत्य, वाद्य, गायन आदि; प्रेम में कोप, अनुनय, संयोगसुख आदि तथा गृहस्थी में धर्मार्थकाममोक्ष आदि की। काव्यशरीर में भी नानालंकारसंसृष्टि (गुण, रीति, वृत्ति, शब्दार्थालंकार आदि) की समंजित स्थिति वैसी ही आस्वाद्य होती है जैसी भोजन, वेषभूषा, धूप, संगीत, प्रेम आदि विषयों में तत्‌विषयक उपादानों की समंजित स्थिति। अत: नानालंकारसंसृष्टि काव्य में रसावियोग का सर्वश्रेष्ठ हेतु है[1]। रसावियोग के संदर्भ में उपर्युक्त संसृष्टि-विवेचन से तत्संबंधी कई मुद्दे साफ होते हैं :

---

1. तं स्वात्मनोऽहङ्कारगुणविशेषं ब्रूमः। शृंगारः सोऽभिमानः, स रसः।...तदुपाधिश्चायमुपजायमानो रसस्त्रिधा विख्यायते, प्रकृष्टो भावरूप आभासश्च। तत्रायं कथा शरीरव्यापिन उत्तमनायकस्य तथाविध एव विषये जायते स प्रकृष्टः। मध्यमस्य य उपजातो न प्रकर्षमासादयति स भावरूपः। यश्च तिरश्चां प्रतिनायकादीनां चोपजायते स श्रृङ्गाराभासः। तस्यापि योगो द्विधा—वाक्यविषयः प्रबन्धविषयश्च। तयोर्वाक्यविषयोऽश्लीलामङ्गलघृणावदर्थग्राम्यमित्यादिदोषहानेन, दीप्तरसत्वं कान्तिरित्यादिगुणोपादानेन कैशिकीवैदर्भ्याद्यलङ्कारयोगेन च यद्यपि प्रसंगतस्तत्र युक्त्या तत्रतत्रोपवर्णितस्तथापि गुणालङ्कारसन्निवेशविशेषजन्यत्वान्नालङ्कारसंसृष्टावेव प्रकृष्टत्वं लभते। प्रायेण हि गुणानामपि शब्दार्थोभयालङ्काराणामनुप्रासजातिरूपकादीनां काव्यशरीरेष्विव कटककेयूरकुण्डलादीनां केवलानामदर्शनात् नानालङ्कारसंसृष्टिरेव प्रकृष्टं भूषणमवधार्यते। ततश्च भोजन इव मधुराम्ललवणषाडबानां, वेष इव वस्त्रानुलेपनमाल्यविभूषणानां, धूप इव चन्दनागरूकर्पूरसिध्रकाणां, सङ्गीत इव नृत्तवाद्यपाठ्यानां, प्रेमणीव कोपानुनयप्रसादसङ्गमसुखादीनां, गार्हस्थ्य इव धर्मार्थकाममोक्षसाधनानुष्ठानानां काव्यशरीरेऽपि रूपकादीनां सस‍ृष्टिरेव विशेषतः स्वदमानो रसावियोगहेतुर्भवति।

—शृंगार प्रकाश, एकादश प्रकाश, पृ० 431।

—कि नानालंकार संसृष्टि एक साथ ही कहीं रासायनिक परिणति है, (भोज्य पदार्थ का संदर्भ—ध्यातव्य है कि ऐसी ही रासायनिक प्रक्रिया एवं परिणति की चर्चा आचार्य भरत ने रस-स्वरूपनिर्धारण के लिए की है) तो कहीं भौतिक परिणति (वेषभूषा का संदर्भ)। कहीं वह संसृष्टि गुणालंकार की पृथक् अवस्थिति के बावजूद प्रभाव की दृष्टि से एकरस होती है (संगीत का संदर्भ) तो कहीं काव्य की इतिकर्तव्यता (गृहस्थी का संदर्भ) तथा रमणीयता की द्योतक (प्रेम का संदर्भ),

—संसृष्टि के ये विविध घटनरूप वस्तुतः उसके उपयुक्त संदर्भ के आश्रित हैं,

—संसृष्टि सम्यक् सृष्टि अथवा सर्जना का रूप है। सृष्टि में जैसे ऊर्जा और पदार्थ पृथक् तत्त्व होते हुए भी अस्तित्व के सम्यकत्व की दृष्टि से समरस और परस्पर समंजित होते हैं, वैसे ही काव्यसर्जना में भी गुणालंकार, रस आदि पृथक् विवेच्य अथवा जायमान होते हुए भी आस्वाद के धरातल पर प्रतीति की दृष्टि से समरस एवं परस्पर समंजित होते हैं। ऐसा नहीं होता कि इतनी मात्रा में हम गुणास्वादन करते हों या उतनी मात्रा में अलंकार अथवा रसास्वादन। दरअसल काव्यास्वाद ही अपने आप में सम्पूर्ण अनुभव है। शब्दार्थ के सम्यक् साहित्य का स्वारस्य भी यही है,

—संसृष्टि इस दृष्टि से न सिर्फ प्रकृष्ट अलंकार है, बल्कि भोज की मतसरणि में वह एकमात्र काव्यशोभाकर है, गुणालंकाररसादि का पृथक्-पृथक् विवेचन इस दृष्टि से औपचारिक है। संसृष्टि ही वास्तविक काव्यावस्था है। वाक्यावस्था में क्रियाकारकविशेषणादि के विभाजन संबंधी औपचारिकता का विवेचन भोज ने पहले ही किया था कि जैसे चित्र में नील,पीत, रक्त आदि रंग; पानक में गुड़, खटाई मिर्च आदि पदार्थ और संगीत के ग्राम रागों में षड्ज, ऋषभ्, गांधार आदि राग सौंदर्यबोध की दृष्टि से संसृष्ट होते हैं वैसे ही वाक्यावस्था में पद पदार्थादि अर्थबोध की दृष्टि से अविभाज्यभान होते हैं।[1] वाक्यावस्था की इसी अवधारणा को भोज ने काव्यावस्था पर भी घटित किया है।

---

1. नहि वाक्यावस्थायां पदानिव पदार्थां विद्यन्ते। यथाहि चित्रे नीलपीतरक्तादयः, पानके गुडामलकमरीचादयः, ग्रामरागे षड्जर्षभगान्धारादयः, चित्रादिभ्यः पृथक्त्वेन नावभासन्ते। तथा वाक्येऽपि क्रियाकारकविशेषणादिपदानि तदर्था वा न वाक्यवाक्यार्थाभ्यां भेदेनैव प्रतीयन्ते। —श्रृंगार प्रकाश, नवम प्रकाश, पृ० 305

संसृष्टि की इस व्यापक परिकल्पना के कारण भोज उसकी अपरिसीम समाहार शक्ति की परिकल्पना भी कर सके हैं और विभिन्न संयोग-गणना के आधार पर गुण, अलंकार तथा रस की अनेकविध संसृष्टि की व्यवस्था भी, जैसे रस-गुण संकर, गुणालंकार संकर, रसालंकार संकर इत्यादि। और चूँकि संसृष्टि अलंकार है—काव्यशोभाकर, इसलिए रस भी अलंकार है, काव्यशोभाकर के व्यापक अर्थ में।

संसृष्टि के रूप में व्यापक अलंकारवर्ग की कल्पना की गयी है और वे तीन हैं— वक्रोक्ति, स्वाभावोक्ति और रसोक्ति (शृं० प्र० पृ० 438)। उपमादि अलंकार वक्रोक्ति, श्लेषादि गुण स्वाभावोक्ति और विभावादि संयोग रसोक्ति कहे जाते हैं। भोज की मतसरणि में ये त्रिविधरूप वाङ्मय संसृष्टि की व्यापक परिकल्पना में अन्तर्भुक्त हैं। भोज का स्पष्ट मत है कि काव्य के उपादेय एवं शोभाकर तत्त्व वस्तुतः अविभज्यमान होते हैं, अतः काव्यमात्र में संसृष्टि ही प्रधान है, ऐसा कहा जा सकता है।[1]

संसृष्ट अवस्था के अपवाद भी भोज ने बतलाये हैं। नानालंकारसंसृष्टि की स्थिति दो तरह से होती है—अंगांगिभाव और समकक्ष्यता। गुण, अलंकार और रस जहाँ परस्पर उपकार्यउपकारक भाव से स्थित हों, पृथक्सिद्धता प्रतीत होती हो, उक्ति प्रधानता हो वहीं संसृष्टि का व्यवहार होता है। जहाँ गुणालंकाररस अपृथग्प्रयत्न से अवस्थित हों, जहाँ वे अभिव्यक्ति के सहजरूप के प्रतिफलन तथा स्वभावतया उपश्लिष्ट हों और जहाँ उनका पारस्परिक संबंध आरम्भक-आरभ्य का हो वहाँ संसृष्टि का व्यवहार नहीं होता।[2] तात्पर्य यह है कि नानालंकार संसृष्टि वहीं मानी जायगी जहाँ गुणालंकाररस की अवस्थिति सहज न होकर कविकौशलजनित हो। पृथक्-अपृथग्प्रयत्न के आधार पर भोज ने गुण और अलंकार के स्पष्ट ही दो

---

1. ननु च सर्वेषामप्युपादेयानां काव्यशोभाकरत्वादलङ्कारत्वे व्यवच्छेद्याभावात्सङ्करः संसृष्टिरित्येतावदेव वाच्यं भवतु। शृंगार प्रकाश, एकादश प्रकाश, पृ० 438।

2. अङ्गाङ्गिभावस्थानं सर्वेषां समकक्ष्यता। इत्यलङ्कारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः···· यत्र पृथक्सिद्धयोरुक्तिबलादुपकार्योपकारकत्वादिनाङ्गाङ्गिभावोऽवस्थाप्यते तत्रैव संसृष्टिः। यत्र पुनरपृथक्सिद्धयोरेवालंकारयोर्भाव रसयोर्वारम्भकत्वेनाराभ्यत्वेन चावस्थितयोः स्वाभाविक उपश्लेषः तत्र संकरव्यवहारो न प्रवर्तते।

शृंगार प्रकाश, एकादश प्रकाश, पृ० 438.

भेद कर दिये हैं। गुणों में माधुर्य, ओज, प्रसाद, भाविक, प्रेयस् तथा औजित्य, भोज के अनुसार ऐसे गुण हैं जो काव्य में अविभज्यरूपेण होते ही हैं। ये या तो रस के उत्पादक (आरम्भक) हैं या उत्पाद्य (आरभ्य)। अतः वैसे गुणों की एकत्र स्थिति संसृष्टि नहीं कही जाएगी। वैसे ही कुछ शब्दार्थालंकार स्वभावतया संश्लिष्ट होते हैं जैसे अर्थान्तरन्यास में हेतु स्वभावतया होगा ही, ऐसी स्थिति में भी संसृष्टि का व्यवहार नहीं होगा। काव्यस्थित वैसे अलंकार भी जो रस के साथ-साथ अविभज्यमान रूप से आये होते हैं, नानालंकारससृष्टि के अन्तर्गत नहीं आएँगे। 'रसोक्ति' में भी विभावानुभावादि की अन्तःक्रिया संसृष्टि नहीं है, क्योंकि विभावादि अलंकार नहीं है। इन अपवादों की व्यवस्था के कारण भोज अतिवादी होने से बच गये हैं।

अस्तु ! भोज की अलंकारधारणा में संसृष्टि सर्वश्रेष्ठ है। व्यापक अर्थ में कहें तो काव्य में अलंकार तो किसी न किसी रूप में होगा ही, अलंकार से रहित काव्य की कल्पना (यदि भोज की धारणा मान्य हो तो) की ही नहीं जा सकती। अलंकार के जिस तारतम्य की व्यवस्था भोज ने रखी है—काव्य उसके बाहर जा ही नहीं सकता, क्योंकि काव्य की यावत् व्याप्ति तक भोज के अलंकार की व्याप्ति है—

अलंक्रिया यास्त्विह शब्दसंश्रयाः ततोऽर्थभूषाभ्यधिकं प्रकृष्यते
ततोऽभिरूपामुभयोरलङ्कृतिं वदन्ति ससृष्टिरतोऽभिशोभते ॥

—श्रृंगार प्रकाश, दशम प्रकाश पृ० 428.

अलंकृति की शुरूआत शब्दसंश्रय से होती है, अर्थालंकार उससे प्रकृष्ट हैं, उभयालंकार शब्दार्थालंकार से भी आकर्षक और संसृष्टि उन सबसे अधिक शोभाकर है, और हमने देखा है कि भोजसम्मत संसृष्टि का क्षेत्राधिकार काव्योपकारक तत्त्वमात्र तक है।

(v) अबतक विवेचित त्रिविध अलंकार के अलावा भोज ने प्रबन्धगुण की तरह प्रबन्धालंकार की भी चर्चा की है। भोजसम्मत प्रबन्धालंकार भी त्रिविध हैं। नमस्कार, स्तुति, आशिष, वस्तुनिर्देश, वस्तूपक्षेप आदि उपक्रम; स्ववंश–राजवंश वर्णन, प्रयोजन–वक्तव्य, कविप्रशंसा, संत-असंत कथन आदि संबंधादि वाक्यत्व, दुष्कर बंधप्रयोग, सर्गादि के अंत में छंदपरिवर्त्तन तथा अन्त में स्वाभिप्राय, स्वनाम, इष्टनाम, मंगल, आशंसा आदि से युक्त कवि का भावांकन, ये प्रबन्धगत शब्दालंकार हैं। नगर, आश्रम, पर्वत, सैन्य, प्रयाण, समुद्र, ऋतु, रात्रि, दिवा,

सूर्यास्त, चंद्रोदय, नायक, नायिका, राजकुमार, सहायक, वाहन, मंत्री, दूत, प्रयाण, संग्राम, अभ्युदय, वन विहार, जलक्रीड़ा, मधुपान, मान, रति, उत्सव आदि का वर्णन प्रबन्धगत अर्थालंकार कहा गया है। बीज विन्दु-पताका-प्रकरी आदि कार्यावस्था एवं संधि तथा गर्भांक, चूलिका, अंकावतार, विष्कंभक आदि विधान के समुचित प्रयोग से कथाशिल्प का उत्कृष्ट निर्वाह. देशकाल-पात्र-चेष्टा-कथांतरानुषंजन तथा द्विसंधान (शिलष्ट, द्विअर्थक आदि प्रयोग) आदि उभयालंकार हैं।[1]

स्पष्ट है कि भोज ने न सिर्फ वर्णना बल्कि विशिष्ट वर्णनीय वस्तु को भी अलंकार मान लिया है। हिंदी के रीतिकाव्य में आचार्य केशवदास, पदुमनदास, बैजनाथ द्विवेदी प्रभृति आचार्यों ने भी सामान्यालंकार के अंतर्गत वर्ण, वर्ण्य, भू और राज्यश्री के रूप में भोज सम्मत प्रबन्धालंकारों को ही स्वीकार किया है। अलंकार धारणा के इस रूप पर हिंदी के विद्वानों मे काफी भ्रम है। या तो वे भोज तक पहुँच नहीं सके हैं या फिर भोज को समझ नहीं सके। भोज की एतद्विषयक धारणा का वैशिष्ट्य यह है कि वर्णनीय वस्तुओं को अलंकार मानने में भी उनकी दृष्टि शिल्पतत्त्व पर टिकी है। अर्थात् ऋतु, दिवारात्रि का वर्णनमात्र अलंकार नहीं, बल्कि उनका वर्णनशिल्प अलंकार है और उसके कारण हुईप्र बन्धगत सौंदर्य-वृद्धि उसका परिणाम।[2]

---

1. नमस्काराद्युपक्रमत्वं सम्बन्धादिमदादिवाक्यत्वं दुष्करसंस्कृतादिवाक्यत्वं भिन्न-वृत्तसर्गान्तत्वं कविभावांकितसमाप्तित्वमिति शब्दालंकाराः। नगराश्रम शैल-सैन्यायासार्णवादिवर्णन, ऋतुरात्रिन्दिवार्कास्तमयचन्द्रोदयादिवर्णनं नायक नायिकाकुमारसहायवाहनादिवर्णनामन्त्रदूतप्रयाणसङ्ग्रमाभ्युदयादिवर्णनं वनविहार-जलक्रीडामधुपानमानापगमरतोत्सवादिवर्णनंमित्यर्थालंकाराः। बीज बिन्दु-पताकाप्रकरीकार्योपकल्पनं गर्भाङ्कचूलिकांकावतारविष्कम्भकप्रवेशकविधानं देशकालपात्रचेष्टाकथान्तरानुषञ्जनं द्विसंधानमार्गद्वयानुवर्तनमित्युभयालंकाराः —शृंगार प्रकाश, एकादश प्रकाश, पृ० 471।

2. डॉ० सत्यदेव चौधरी केशवदास की सामान्यलंकार संबंधी धारणा को 'परंपरा विरुद्ध, अयथार्थ, मनमानी, असंगत तथा भ्रामक मानते हैं।' (हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य, पृ० 657-658 तथा काव्यशास्त्रीय निबंध, पृ० 141)। हमने इस प्रश्न का सविस्तर विवेचन अन्यत्र किया है और सप्रमाण-सतर्क सिद्ध किया है कि केशव की सामान्यलंकार संबंधी धारणा न तो परंपराविरुद्ध है और न अयथार्थ या मनमानी या असंगत। विशेष विवरण के लिए देखें—रीतिसाहित्य को बिहार की देन, पाँचवा अध्याय, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1972।

अस्तु। यह तो नहीं कहा जा सकता कि भोज के पूर्व अलंकार को इतने व्यापक अर्थ में किसी ने नहीं स्वीकार किया था पर इतना निर्भ्रांत रूप से अवश्य कहा जा सकता है कि इस सर्वव्यापक धारणा को सिद्ध करने के लिए सतर्क एवं सप्रमाण वर्गीकरण-व्यवस्था देनेवाले आचार्य सिर्फ भोज हैं। डॉ० राघवन के शब्दों में निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि जैसे कुंतक ने 'वक्रोक्ति' शब्द की अन्त-निर्हित संभावनाओं को पूर्णत: विकसित किया वैसे ही भोज ते अलंकार शब्द की समस्त संभावनाओं को उद्घाटित किया है। हर वह वस्तु जो काव्य को आकर्षक बनाये भोज के लिए अलंकार है और कुतक के लिए वक्रता। अलंकारशास्त्र के इतिहास में 'अलंकार' और 'वक्रोक्ति', इन दो शब्दों का सर्वाधिक महत्त्व एवं भूमिका रही है। पहले-पहल भामह ने यह कहा कि अलंकार ही वक्रोक्ति है। वस्तुत: दोनों शब्द काव्यगत शब्दव्यापार के दो पक्षों को उजागर करते हैं—अलंकार काव्यगत शब्दव्यापार का क्रियात्मक पक्ष है और वक्रोक्ति प्रक्रियात्मक पक्ष, जिसके अन्तर्गत शब्दव्यापार की काव्यगत संक्रिया के तरीके, रूप तथा अलंकृति के स्वरूप चर्चित होते हैं। भोज 'अलंकार' के पुरोधा हैं तो कुंतक 'वक्रोवित' के।[1]

(घ) (i) सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य की अन्तिम किंतु सर्वाधिक महत्त्वपूण शर्त है—रसावियोग अर्थात् किसी भी स्थिति में रस-विरहित किसी रचना को काव्य कहा ही नहीं जा सकता, यह भोजदेव का पक्ष है। प्रश्न हो सकता है कि संसृष्टि के

---

3. "Just as the word Vakrokti is devloped by Kuntaka, the word Alankara is devloped by Bhoja. To Bhoja, all features which give charm to the Kavya are Alankara and to Kuntaka all such features are aspect, of Vakrata. In the history of the Alankara Sastra, these two words Alankara and Vakrokti have the greatest destiny. It was said by Bhamaha that Alankara was Vakrokti. These two words emphasise two aspects. Alankara emphasises the functional aspect and Vakrokti, the mode of operation, the form and the actual nature of emhellishment. The former found its 'prophet' in Bhoja in Malwa and ahout his time latter found its prophet in Kuntaka in Kashmir.

—Bhoja's Sringara Prakasa, P. 397-398.

रूप में जब भोज ने व्यापक अलंकारवग की कल्पना की है—वक्रोक्ति, स्वाभावोक्ति और रसोक्ति, और जब स्वयं रसोक्ति उक्त अलंकारवर्ग का एक प्रकार मात्र है तो फिर यह कहने का क्या अर्थ है कि दोषहीन तथा गुणालंकार-युक्त रहने पर भी रसावियोग के अभाव में रचना वैसी ही होगी, जैसे यौवनसंपद आदि से युक्त, किंतु प्रेमरहित कोई युवती हो, कि जैसे सर्वांगसुन्दरी के लिए भी प्रेमार्द्र होना ही उसके सौन्दर्य का वास्तविक आधार है, वैसे ही रसार्द्र रचना ही काव्य है ?[1]

वस्तुत: भोज काव्यशास्त्रीय मुद्दों में से किसी एक के समर्थक अथवा विरोधी नहीं हैं। उनकी मतसरणि में काव्यशास्त्रीय सिद्धांत ऐकान्तिक इकाई के रूप में महत्त्वशाली नहीं होकर संसृष्ट रूप में ही ग्राह्य हैं। गुण, अलंकार, रस आदि एक दूसरे से स्वतंत्र रूप में कुछ नहीं हैं, बल्कि वे सभी सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य के अन्योन्याश्रित घटक हैं। फलत: वे सारे सिद्धांत अनेक रूपों में भोज की मतसरणि में विवेच्य हुए हैं।[2] फलत: रस भी कहीं अर्थगुण कांति रूप में, कहीं अर्थगुण और्जित्व, कहीं शब्दगुण प्रेयस तथा भाविक के रूप में, कहीं अलंकारवर्ग के एक घटक के रूप में तो कहीं अहंकार रस के रूप में विवेच्य हुआ है। स्पष्ट है कि गुण, अलंकार और रस को, भोज ने उनके प्रकृत एवं आत्यंतिक सर्वग्राही रूपों में, एक साथ ही विवेच्य बनाया है। फलत: सर्वत्र गुण है, सर्वत्र अलंकार है और सर्वत्र रस भी है। यही कारण है कि संसृष्टि के रूप में उन्हें गुणालंकाररस के संश्लेष की बात कहनी पड़ी।

(ii) रस-संबंधी धारणा की भोजसम्मत सरणि इस प्रकार है—'अहंकार' संस्कारशील लोगों का आत्मस्थित विशेष गुण है। वही रस का मुख्य आश्रय है।

---

1. निर्दोषस्य गुणावतोऽलंकृतस्य च काव्यशरीरस्य कामिनीशरीरस्येव सौभाग्यातिशयनिष्पत्तौ रसावियोग एव प्रकृष्ट उपायो गीयते। यत:

कल्या मूर्ति: कुलममलिनं यौवनं रूपसम्पत्
सौभाग्यर्द्धि: प्रियवचनताशीलवैदग्ध्ययोग:।
शालीनत्वं विनयपरतेत्यङ्गनाभूषणं यत्
तत्प्रेमार्द्रं प्रणयिनि मनो नास्ति चेत् नास्ति किंचित्॥

—श्रृंगार प्रकाश, एकादश प्रकाश, पृ० 429।

2. डॉ० राघवन, भोज, स श्रृंगार प्रकाश, पृ० 420-422।

यह अहंकार आदमी के घमंड का पर्याय नहीं, बल्कि उसके 'स्व' अथवा आत्मशक्ति का पर्याय है, वह उसका संपूर्ण व्यक्तित्व है। अहंकार ही शृंगार हैं। शृंगार का अर्थ भोज ने येन शृङ्गं रीयते लिया है अर्थात् शृंगार व्यक्ति की सर्वोत्कृष्ट सर्वोच्च अवस्थिति है–वह काम अथवा संकल्परूप है। पुरुषार्थ की बुनियाद भी अहंकार या शृंगार या अभिमान है, इसलिए वे अहंकार अथवा शृंगार रस के चार प्रकार मानते हैं—धर्मशृंगार, अर्थशृंगार, कामशृंगार और मोक्षशृंगार। यह अहंकार या शृंगार ही आत्मशक्ति के विकास-विस्तार का आश्रय है, आत्मगुणसंपद के उत्कर्ष का बीज है, जन्मान्तर अर्जित वासना अथवा संस्कार का उत्कर्षकारक है।[1] रस की रसनीयता का मूलरूप यही है। अतः अहंकाररस अथवा शृंगार रस ही एकमात्र रस है। रस की यह पराकोटि है। अन्य काव्यशास्त्रीय रस-प्रकार एवं भावविस्तार इसी मूल अहंकारतत्त्व के विवर्त हैं। शृंगार, वीर, रौद्र, भयानक आदि रस, उन्चास भावसंख्या आदि सभी मूल अहंकारतत्त्व के व्यावहारिक पक्ष हैं, यह रस की मध्यमाकोटि है। इस मध्यमाकोटि के स्थायीभाव, संचारी, सात्विकादि सभी रसदशा प्राप्त कर सकने में सक्षम हैं। ये जब परम उत्कर्ष अथवा परमकाष्ठा प्राप्त करते हैं तब पुनः प्रेमन्‌रस के रूप में एकनिष्ठ हो जाते हैं। यह रस की उत्तरकोटि है। यह प्रेमन्‌रस पुनः अहंकार रस में विलीन हो जाता है। इस-प्रकार सिर्फ एक रस सिद्ध होता है—अहंकार अथवा शृंगाररस। अतः सर्वत्र अहंकार का ही साम्राज्य है।[2]

(iii) उपर्युक्त रसविषयक धारणा में काव्य की रचना एवं आस्वादन प्रक्रिया का स्वरूप भी देखा जा सकता है। यह चर्चा हम पहले भी कर आये हैं कि

---

1. आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य शृङ्गारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः।
तस्यात्मशक्तिरसनीयतया रसत्व युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवादः ॥3॥
सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा जन्मान्तरानुभवनिर्मितवासनोत्थः।
सर्वात्मसंपदुदयातिशयैकहेतुर्जागर्ति कोऽपि हृदि मानमयो विकारः ॥4॥
शृंगार प्रकाश, प्रथम प्रकाश, पृ० 1.

2. एतेन रूढाहङ्कारता रसस्य पूर्वाकोटिः। रत्यदीनामेकोनपञ्चाशतोऽपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्परप्रकर्षाधिगमो रसव्यपदेशार्हता रसस्यैव मध्यमावस्था प्रेयः प्रियतराख्यानमित्युपलक्षणेन यथा रतेः प्रेमरूपेण परिणतिस्तथा भावान्तराणामपि परमपरिपाके प्रमाणरूपेण परिणतौ रसैकायनमिति रसस्य परमाकाष्ठेति प्रतिष्ठितं भवति।········सर्वत्रैवाहङ्कारः प्रतीयते।
—उपरिवत्, एकादश प्रकाश पृ० 444.

काव्यशास्त्रीय चिंतन के तीन प्रस्थानबिंदु हो सकते हैं—कवि, काव्य और सहृदय, दूसरे शब्दों में सर्जनशीलता, सर्जन और आस्वादन। भोज का पक्ष यह है कि तीनों प्रस्थानबिंदु वस्तुतः अहंकार और उसके विवर्त के ही रूप हैं। सर्जनशीलता की बुनियाद अहंकार अथवा आत्मस्थ संस्कार या वासना है, जिसका मूलरूप है आत्मलीनता अथवा आत्मभोग। इसलिए यह तो स्पष्ट ही है कि भोज समस्त सर्जना को 'स्वान्तःसुखाय' या आत्मभोग, प्रकारान्तर से ही सही, मानते हैं। आत्मस्थ अहंकार सर्जना-संकल्प से प्रेरित होकर उद्बुद्ध होता है और तब इसी बिंदु से अभिव्यक्तिरूप अहंकार-विवर्त प्रारंभ होता है, जिसका भाषिक रूप काव्य है। इस अवस्था में कवि का आत्मस्थ अहंकार विभिन्न अनुभवकोटियों से संश्लेश करता हुआ, अनन्त भावरूप में अभिव्यक्त होता है।

कविकर्म की विश्रांति है सर्जना। इस सर्जना में कवि का आत्मशक्तिरूप अहंकार सतत् सक्रिय रहताहै। यह सक्रिय अहंकार काव्यभाषा अथवा भोज के शब्दों में सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य में निहित होता है, जो आस्वादक की संस्कारशीलता अथवा अहंकार के संस्पर्श से पुनः उद्बुद्ध होता है। स्थिति यह होती है कि जब आस्वादक का अहंकार अपने विवर्त्त (विभिन्न अनुभवकोटिक संश्लेष से उत्पन्न अनन्त भावोर्मियाँ) के साथ, सर्जनात्मक रचना के रूप में भाषिक अभिव्यक्तिप्राप्त कवि के अहकार एवं विवर्त के संपर्क में आता है, तब पुनः विवर्तों के संश्लेष एवं विलय की प्रक्रिया शुरु होती है और अन्ततः सहृदय अपने अहंकार के स्तर पर ही काव्यास्वादन करता है। यह सब अचानक नहीं होता बल्कि जैसे कवि का पराकोटिक अहंकार परावाक् की सूक्ष्यता का क्रमशः उत्क्रमण करता हुआ स्थूल वैखरीवाक् में अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार आस्वादक का विवर्तरूप अहंकार भी वैखरीवाक् की स्थूल परतों का क्रमशः भेदन करता हुआ अपने सूक्ष्म पराकोटिक अहंकार में विलयीकृत होता है—यह काव्यास्वादन का परमस्वरूप है। अतः कवि एवं सहृदय दोनों का आत्मस्थ शक्तिरूप अहंकार पराकोटिक है, दोनों के अहंकार-विवर्त मध्यम कोटिक हैं और दोनों की विश्रांति प्रेमन् में होती है—कवि की दृष्टि से अभिव्यक्ति सुख ही विश्रांतिबिंदु है और आस्वादक की दृष्टि से आस्वादन ही विश्रांतिबिंदु है। वस्तुतः जिस पराकोटिक अहंकारबिंदु से कवि की अभिव्यक्तिप्रक्रिया शुरू होती है, 'रचना' के माध्यम से सहृदय के अहंकार को भी उसी बिंदु तक पहुँचना है—काव्यास्वादन का यही परमस्वरूप है। इस समस्त अनुलोम-विलोम (अभिव्यक्तिप्रक्रिया अनुलोम है और आस्वादन की विलोम) प्रक्रिया में 'अहंकार' के वहन, उद्घाटन तथा अभिव्यक्त करने का दायित्व सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य का है। इसीलिए रसावियोग-विवेचन

के क्रम में भोज ने रससिद्धांत की सारी सुपरिचित मुद्राओं एवं मुद्दों, यथा—रस-स्वरूप, रस-निष्पत्ति, साधारणीकरण आदि में से सिर्फ रसस्वरूप का विवेचन किया है और अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संसृष्टि ही रसावियोग का सर्व-श्रेष्ठ आधार है।

(iv) किंचित् चर्चा इस विषय की अपेक्षित है कि भोजसम्मत उक्ति-कल्पना; अलंकारवर्ग तथा सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य का पारस्परिक रिश्ता क्या है। उक्तिकल्पना के संदर्भ में भोज ने वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वाभावोक्ति की चर्चा की है और संसृष्टि के अन्तर्गत इन्हें ही वे अलंकारवर्ग भी कहते हैं। अतः यह सहज ही अनु-मेय है कि 'उक्ति' और अलंकार भोज की दृष्टि में 'सौंदर्य के पर्याय हैं। बात रही सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य की, तो भोज का पक्ष यह है कि उक्ति अथवा अलंकार-सिद्धि वस्तुतः सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य से ही हो पाती है। सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य के चारों तत्त्व, यथा—दोषहान, गुणोपादान, अलंकारयोग तथा रसावियोग त्रिविध अलंकारवर्ग अथवा उक्ति में अनिवार्यतः होने हैं। इनमें दोषाहन निषेधमूलक मूल्य है और शेष विध्यात्मक मूल्य। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भोज-सम्मत त्रिविध उक्ति अथवा अलंकारवर्ग में कोई श्रेष्ठताजन्य तारतम्य नहीं है। भोज ऐसा नहीं मानते कि रसोक्ति श्रेष्ठतम है, स्वाभावोक्ति श्रेष्ठतर और वक्रोक्ति सिर्फ श्रेष्ठ। वे सभी अलंकारवर्ग वस्तुतः सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य के ही कारण 'काव्य' हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए गुणालंकाररस सर्वत्र अपेक्षित हैं, दोषहान भी सर्वत्र अपेक्षित है। स्पष्टतः उनकी प्रधानता के आधार पर वक्रोक्ति स्वाभावोक्ति तथा रसोक्तिरूप में वर्गीकरण है, कोटिक्रम निर्धारण नहीं है।

अतः काव्यगत शब्दचिंतन की दृष्टि से भोज का सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य सम्बन्धी विवेचन, पहला वह अवसर है जब किसी आचार्य ने काव्यता के समस्त उपादान को भाषिक व्यवहार के एक विशिष्ट प्रकार के रूप में देखा है। यहाँ तक कि मानवीय अस्तित्व के बीजरूप अहंकारतत्त्व की काव्यात्मक अभिव्यक्ति को भी भोज ने सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य का विषय बनाया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने इस तथ्य से इनकार नहीं किया है, पर वे भोज की तरह स्वीकार भी नहीं कर पाए हैं।

क्षेमेंद्र

4·14·1. क्षेमेंद्र ने 'औचित्य' और 'चमत्कार' की दृष्टि से काव्यशास्त्रीय मुद्दों पर विचार किया है। काव्यसर्जना में शब्दों की भूमिका पर कोई पृथक विवेचन क्षेमेन्द्र

में नहीं मिलता, फिर भी उनके औचित्य तथा चमत्कार सम्बन्धी विवेचन में काव्य-भाषिकी की पर्याप्त चर्चा उपलब्ध है। इनमें भी अधिक प्रासंगिक चर्चाएँ औचित्य-विचार के क्रम में आई हैं।

4·14·2. काव्य वस्तुत: 'व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्द' (Inevitable words) ही है; इसकी स्थापना आनंदवर्धन ने की थी (ध्वन्यालोक, 1/8) और रसकी संपुष्टि में उन्होंने यह बात भी रखी थी कि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रस इत्यादि के ध्वनि की दृष्टि से, वर्ण से लेकर प्रबन्धतक व्यंजकवर्ग हो सकते हैं। काव्य की काव्यता, रसमयता अथवा चमत्कार सुप् (शब्दविभक्ति), तिङ् (क्रियाविभक्ति), वचन, कारक, कृत् प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय, समास आदि किसी से व्यंजित हो सकता है, बशर्ते उसका प्रयोग 'व्यक्तिसामर्थ्ययोगी' रूप में हुआ हो।[1] यह वस्तुत: कवि की कसौटी है कि वह अपनी विवक्षा के अनुकूल वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक के किसी भी तथा सभी घटकों की चरम एवं परम संभावनाओं को पहचाने और उपयोग करे। अत: भाषा की प्रत्येक संभावना तथा सामर्थ्य का दोहन कवि अपनी विवक्षा अथवा आत्मभाव की अभिव्यक्ति के लिए करे यह जरूरी है और अगर वह वैसा करता है तो वही 'औचित्य' है–यत्किलं यस्याऽनुरूपं तद् उचितमुच्यते, तस्य भावम् औचित्यं कथयन्ति (औचित्य विचार चर्चा, कारिका 7, वृत्ति)।

क्षेमेन्द्र का पक्ष स्पष्ट है। वे मानते हैं कि गुणालंकाररसादि काव्य के नंदतिकतत्त्व वस्तुत: तभी ही क्रियमाण हो पाते हैं जब वे औचित्यसंपन्न हों। आवश्यकता से अधिक या कम या संदर्भहीन अथवा संदर्भच्युत गुणोपादान, अलंकाराधान या रसाक्षिप्तता वस्तुत: काव्यसौंदर्य के लिए हानिकारक ही होंगी, क्योंकि संतुलन-समरस ही सौंदर्य की बुनियाद है,। इसीलिए क्षेमेन्द्र के मत में औचित्य से रहित गुण सिर्फ गुण हैं—काव्यगुण नहीं, अलंकार सिर्फ अलंकार हैं—काव्यालकार नहीं; सिर्फ औचित्य से युक्त गुणालंकार ही रससिद्धि में समर्थ हैं।[2] क्षेमेन्द्र के तर्क को थोड़ा और बढ़ाया जाय तो कहा-जा सकता है कि रस सही माने में काव्यास्वाद बने, इसके लिए भी यह जरूरी होगा कि उसकी योजना औचित्यपूर्ण हो।

---

1. सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभि:।
   कृत्तद्धित समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रम: क्वचित् ॥—ध्वन्यालोक, 3/16।
2. अलंकारास्त्वलंकारा गुण एव गुणा: सदा।
   औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥—औ० वि० च०, 5; संपादक: श्री रामपाल विद्यालंकार, मोतीलाल-बनारसीदास, 1960।

इसी बुनियादी धारणाबिन्दु से क्षेमेंद्र की औचित्य सम्बन्धी खोजयात्रा शुरू होती है और वे वर्ण से लेकर कवि के विचार, प्रतिभा तथा अवस्था आदि तक को औचित्य की कसौटी पर जांचते—परखते हैं।[1] आनन्दवर्धन ने सौंदर्यरहस्य की 'खोजयात्रा व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्द' की तलाश में की थी, क्षेमेन्द्र उन्हीं क्षेत्रों में औचित्य की तलाश करते हैं।

4·14·3. क्षेमेन्द्र ने 'काव्यसौंदर्य के लिए औचित्य' की दृष्टि से कुल 28 बिन्दुओं का विवेचन किया है। विषयक्षेत्र की दृष्टि से उनका वर्गीकरण निम्नांकित है—

मीमांसा— पद, वाक्य और प्रबन्धार्थ

काव्यशास्त्र—गुण, अलंकार और रस

व्याकरणशास्त्र—क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात और काल

लोकशास्त्र—देश, कुल और व्रत

कविव्यक्तित्व —अन्तर्दृष्टि, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम तथा आशीर्वाद।

इनमें से प्रथम तीन वर्गों तथा नामौचित्य का सीधा सम्बन्ध काव्यभाषिकी से है। ध्यातव्य है कि लगभग इन्हीं रूपों में कुन्तक ने वक्रता की तलाश की है। ऐसा नहीं है कि क्षेमेन्द्र वक्रता को ही औचित्य कहते हों, लेकिन यह तथ्य है कि मूल्य की दृष्टि से कुन्तक और क्षेमेन्द्र दोनों ही भाषाप्रयोग के उस वैशिष्ट्य की तलाश कर रहे थे जो सामान्य भाषा को काव्यभाषा बनाता है। इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र विवेचित कतिपय मुद्दों का अध्ययन उपयोगी होगा।

4·14·4. (i) पदौचित्य के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र की धारणा है कि कभी-कभी काव्य की सारी कमनीयता एक पद के सम्यक् विन्यास में सिमट आती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पूरी कविता भी यदि दोषपूर्ण पदविन्यास की हो, तब किसी एक पद

---

1. पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे॥
प्रतिभायाम् अवस्थायां विचारे नाम्नि अथाऽशिषि।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुर् औचित्यं व्यापि जीवितम्॥—औ० वि० च०, 8, 9, 10.

के सम्यक् विन्यास से उसका काव्यसौन्दर्य निखर आएगा। क्षेमेन्द्र का पक्ष यह है कि पूरी कविता में निहित सौन्दर्य कभी-कभी किसी पद विशेष में संकेद्रित एवं उसी से उद्भासित होता है। ऐसी स्थिति ही पदौचित्य का विषय है। कविता में ऐसा पद-प्रयोग जहाँ कविकौशल का उत्कर्ष है, वहीं सहृदय की कसौटी भी कि वह उसे पहचान ले। ऐसा पद गौरवर्णी चंद्रमुखी की ललाट पर कस्तूरी या श्यामा के भाल पर चंदन की बिन्दिया की तरह प्रभविष्णु एवं रमणीय होता है।[1]

(ii) वाक्यौचित्य को क्षेमेन्द्र समस्त काव्यविवेक का आधार मानते हैं—औचित्यरचितं वाक्यं काव्यविवेकविचक्षणानाम् अभिमततमम् (औ० वि० च० 12 वृत्ति)। वाक्यौचित्य से वस्तुतः तात्पर्य है रसानुकूल अर्थसंपदा से युक्त वाक्यविन्यास प्रकारांतर से इसे रसानुकूल पदसंघटना कहा जा सकता है। वाक्य में प्रयुक्त सारे पद रसानुकूल अर्थव्यंजना में परस्परस्पर्द्धी हों, जिससे वाक्यार्थ जीवन्त हो जाय तभी वाक्यौचित्य की स्थिति होगी। वाक्यौचित्य की पहचान है—वाक्यार्थः सजीवऽइव अवभासते अर्थात् जीवन्त स्पन्दनशील वाक्यार्थ।

(iii) ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुण दरअसल काव्यार्थ के समस्त मुद्रा-वैविध्य के वाहक होते हैं। अभिव्यक्त मनःस्थितियों के अनुकूल वर्णसंघटना ही गुणौचित्य है।[2] गुणौचित्य के तीन फल क्षेमेन्द्र ने बतलाये हैं—भव्यता, सौभाग्य और सहृदयसवेद्यता। भव्यता काव्य का उदात्तरूप है, जिसमें प्रस्तुतार्थ एवं वर्ण-संघटना के सम्यक् योग से अद्भुत सौन्दर्यच्छटा निखरती है। 'सौभाग्य' कुन्तक के साक्ष्यानुसार सक्रिय, सजीव, चेतन एवं सर्जनशील शब्द का गुण है। संवेद्य मनः स्थितियाँ दरअसल तभी पाठकीय संवेदना को प्रभावित अथवा उद्वेलित कर पाती हैं जब वे एक मात्र सही शब्दों (inevitable words) में अभिव्यक्त हुई हों—क्षेमेन्द्र का गुणौचित्य इसी तथ्य को संपुष्ट करता है।

(iv) प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप अलंकार का प्रयोग अलंकारौचित्य है। क्षेमेन्द्र के पूर्व ही आचार्यों ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि अलंकार हर हालत में काव्यसौन्दर्य के विधायक या शोभाकारक नहीं होते। दरअसल अलकार के

---

1. तिलकं बिभ्रती सूक्तिर् भात्येकमुचितं पदम्।
चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं, श्यामेव चान्दनम्॥—औ० वि० च०, 11।

2. प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान् गुणः।
स्यन्दतीन्दुरिवानन्दं संभोगाऽवसरोदितः॥ औ० वि० च० 14॥

माध्यम से कवि वर्ण्यवस्तु अथवा प्रतिपाद्य अर्थ के सही स्वरूप की तलाश करता है। अतः इस दृष्टि से वस्तु अथवा अर्थस्वरूप को उद्घाटित करना, उसका जीवन्त चित्रांकन करना ही अलंकारप्रयोग की इतिकर्तव्यता है। क्षेमेन्द्र जब कहते हैं कि अलंकारौचित्य से सूक्ति वैसे ही उद्भासित हो उठती है जैसे पीन स्तनों पर पड़े हार से कोई मृगनयनी[1], तब वे अलंकारप्रयोग की उसी इतिकर्तव्यता को संकेतित कर रहे होते हैं।

(v) गुणादि के उचित संनिवेश के बावजूद यदि वाक्य में प्रयुक्त क्रियापद प्रतिपाद्य अर्थ के अनुकूल व्यंजक न हुआ तो वह वाक्य ही जैसे पंगु हो जाता है। क्षेमेन्द्र का स्पष्ट मत है कि उचित क्रियापद के प्रयोग से ही काव्यगत माधुर्यादि गुण अथवा वृत्ति—अर्थव्यापार तथा छंद सार्थक हो पाते हैं, जैसे गुणयुक्त पुरुष की उचित क्रिया ही उसके चारित्र्य की परिचायिका होती है।[2] तात्पर्य यह है कि सही क्रियापद के प्रयोग से ही काव्यगत अर्थसौन्दर्य उद्भासित हो पाता है या दूसरे शब्दों में कहें कि काव्यार्थ को सही दिशा में सक्रिय करने का दारोमदार क्रियापद पर ही है। दरअसल स्थिति यह है कि किसी भी वाक्य की अर्थव्यंजना ही सही क्रियापद के आश्रित है, व्याकरण भी इसे स्वीकार करता है। इसलिए जब सामान्य भाषाव्यवहार में भी सही क्रियापद के प्रयोग के बिना हम अपने मतव्य प्रेषित नहीं कर पाते तो उचित क्रियापद के अभाव में काव्यार्थ संवेदनीय हो पाये इसका सवाल ही नहीं है।

(v) वाक्यार्थ सही क्रियापद के आश्रित तो है ही, किन्तु सम्यक् क्रियापद-प्रयोग की अन्यतम किंवा अन्तिम कसौटी तक पहुँचने के पूर्व वाक्य की सार्थकता को कारकौचित्य की कसौटी पर भी खरा उतरना है। वाक्य में प्रयुक्त पद वाक्यार्थ-संगति की दृष्टि से कर्तृ, कर्म, करण आदि की अर्थव्यापारगत संगति से जुड़े होते हैं। वाक्य यदि पदावली है तो पदरूप घटकों को अर्थव्यापार की दृष्टि से कारक-गत टाँकों से परस्पर जुड़ा होना होगा, तभी वे वाक्यसंघटक कहे जाएँगे। यह वाक्य की व्याकरणिक शुद्धता का पक्ष है। उचित कारकजन्य अन्वय से वाक्य की अर्थसंपदा अभिवृद्ध होती है। यहाँ प्रश्न सिर्फ वाक्य की व्याकरणिक शुद्धता का

---

1. अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
   पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा॥ औ० वि० च० 15।
2. सगुणत्वं सुवृत्तत्वं साधुता च विराजते।
   काव्यस्य सुजनस्येव यद्यौचित्यवती क्रिया॥ औ० वि० च०, 19

नहीं बल्कि समस्त काव्यार्थ में कारकौचित्य से उत्पन्न चमत्कार का है।[1] अर्थात् काव्यार्थ की दृष्टि से कारकों का शुद्ध प्रयोग ही नहीं, उचित प्रयोग भी अपेक्षित हैं। शुद्धता और औचित्य के अन्तर को समझने के लिए क्षेमेन्द्र के उदाहरण लें--

'देव! शत्रुपत्नियों के अश्रुस्नात, शोकाग्नि में तपते, विमुक्ता (ऽ) हार' स्तनयुग्म जैसे व्रतचर्या में रत हैं।"

और

निराहार, निर्जल, स्त्रियों से अलग ब्रह्मचर्य पालन करता हुआ गुर्जरपति जसे तुम्हारी (मालवपति) कृपा पाने के लिए बालू पर सोता और प्रचण्ड धूप में तपस्या करता है।

दोनों वाक्यों का कथ्य एक है—शत्रु से पराजित होने के बाद की स्थितियाँ किन्तु पहले वाक्य में 'शत्रुपत्नियों' के बदले उनके स्तनयुग्म को कर्त्ता बनाया गया है, फलतः स्तनयुग्म ने अश्रुस्नात होने, शोकाग्नि में तपने तथा आहार (संभोग) हार (आभूषण) से रहित होने से उनके पति की पराजय तो ध्वनित है ही, साथ ही वर्णना भी चित्रात्मक हुई, जबकि दूसरे वाक्य में वही वर्ण्य वक्तव्यवत् आया है।

इसप्रकार कारकौचित्य वक्तव्य तथा काव्यात्मकता का व्यवच्छेदक तत्त्व बन सकता है।

(vi) लिंग का शाब्दिक अर्थ होता है—पहचान। इस दृष्टि से लक्षण को भी लिंग कहा जा सकता है। क्षेमेन्द्र की धारणा है कि प्रस्तुतार्थ के अनुकूल वर्णना में लिंगविन्यास से काव्य में भव्यता आती है—प्रस्तुतार्थोचितेन लिङ्गेन काव्यं भव्यतामुपयाति [औ० वि० च०, २१/वृत्ति]। यहाँ भी प्रश्न लिंगप्रयोग की व्याकरणिक शुद्धता का नहीं, प्रस्तुतार्थ को उत्कर्ष प्रदान करने की दृष्टि से लिंग-विशेष में वर्णना का है। हम देख आए हैं कि कुंतक ने लिंगवक्रता के प्रकारान्तर प्रयोगों की चर्चा की है।

(vii) एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन के प्रयोगान्तर (variative) का उपयोग काव्य में अतिरिक्त चारुता अथवा सौन्दर्यवृद्धि के लिए किया जा सकता

---

1. सान्वयं शोभते वाक्यम् उचितैरेव कारकैः।
कुलाभरणमैश्वर्यम् औदार्यचरितैरिव॥ औ० वि० च०, 20।

है।[1] एकवचन के बदले बहुवचन अथवा इसके विपरीत प्रयोग से विशेष अर्थगौरव अथवा अभिप्रायविशेष की समर्थ व्यंजना की जा सकती है।

इसीप्रकार विशेषणौचित्य से काव्यार्थ की रमणीयता, उपसर्गौचित्य से काव्यार्थ का विस्फार तथा निपातौचित्य से काव्यार्थ की संगति में वैशिष्ट्य आता है।[2] वैसे ही अनेक पर्यायवाची नामों में से कर्मानुसार किसी नाम का चयन एवं प्रयोग वस्तुत: सार्थक शब्दप्रयोग की एक माकूल कसौटी है, क्योंकि इससे काव्य के गुणदोष का तत्काल पता चल जाता है—नाम्ना कर्मानुरूपेण ज्ञायते गुण-दोषयो: काव्यस्य .. (औ० वि० च०, ३८)।

4·14·5. पद, रस, प्रतिभा आदि जिन २८ विन्दुओं से क्षेमेन्द्र ने औचित्य की चर्चा की है, उनका प्रतिफलन होगा काव्यसौन्दर्य में, जिसे वे चमत्कार कहना चाहेंगे। इस दृष्टि से औचित्य वस्तुत: चमत्कार का हेतु है। अत: काव्यसौन्दर्य की अगली खोजयात्रा क्षेमेन्द्र ने चमत्कार [प्रतिफलित औचित्य] बिन्दु से प्रारंभ की है।

(i) चमत्कार अथवा रमणीयता संबंधी चर्चाएँ कविकंठाभरण में आई हैं। कविकंठाभरण कविशिक्षाग्रंथ है। चमत्कार पर विचार करने के पूर्व क्षेमेन्द्र ने कहा है कि आगे की शिक्षा (चमत्कार की शिक्षा) भाषा पर अबाध अधिकार पाये शिष्य के लिए है—प्राप्तगिर: कवे: शिक्षास्तावदाह।[3] प्राप्तगिर: शिष्य वह है जिसकी अधानोद्धरणप्रज्ञा (कवि० कं०, 2. 12) जाग्रत हो चुकी हो अर्थात् जिसका उचितानुचित शब्दविवेक प्रखर हो चुका हो तथा जो प्रसादपूर्ण शब्दविन्यास, संदर्भोचित अर्थयोजना, वर्ण्यानुकूल रसाभिव्यक्ति; युक्ति, व्यास-समास में पटु सिद्ध कवि हो।[4] उपर्युक्त लक्षण में 'युक्ति' शब्द ध्यातव्य है। 'युक्ति' की व्याख्या

---

1. उचितैरेव वचनै: काव्यमायाति चारुताम्।
अदैन्य-धन्यमनसां वदनं विदुषामिव।। औ० वि० च०, 22।

2. (i) विशेषणै: समुचितैर् विशेष्योऽर्थ: प्रकाशते।
(ii) योग्योपसर्गसंसर्गैर् निरर्गलगुणोचिता।
सूक्तिर् विवर्धते संपत् सन्मार्गगमनैरिव।।
(iii) उचितस्थान—विन्यस्तैर् निपातैरर्थसंगति:।।
—औ० वि० च०, 23, 24, 25।

3. कविकंठाभरण, सं० प्रो० वामन केशव लले, पृ० 63, मोतीलाल-बनारसीदास, 1967 ई०।

4. सप्रसादपदन्यास: ससंवादार्थसंगति:।
निर्विरोधरसव्यक्तिर्युक्तिव्याससमासयो:।। कवि कंठाभरण, 2/21।

में अग्निपुराणकार कहता है कि—वाच्य (वर्ण्य) और वाचक (शब्द) में (लौकिक अनुभवों से) अयुक्तता होते हुए भी उनमें सम्बन्ध की मौलिक योजना, सर्जना, निर्मिति अथवा कल्पना ही युक्ति है।[1] इस सर्जना का आधार शब्द है, इसीलिए क्षेमेन्द्र ने कवि के लिए भाषा पर अबाध अधिकार होने की बुनियादी शर्त रखी है।

(ii) क्षेमेन्द्र यह मानते हैं कि सुकवि मूलतः काव्य में सौंदर्यातिशय के लिए प्रयत्नशील होता है। इस सौंदर्यातिशय की खोज में, वाक् चमत्कृति के लोभ से प्रेरित वह आकर्षक वस्तु (वर्ण्य), सुन्दर (उचित) शब्द तथा रमणीय अर्थ की वैसी ही तलाश अथवा अनुसरण करता है जैसे वसन्त ऋतु में आस्वादप्रिय भ्रमर सद्यः विकसित फूलों से रमणीय बने उपवन की ओर दौड़ता है।[2] सुकवि अतिशयार्थी होता है। अतिशय से क्षेमेन्द्र का तात्पर्य 'सौन्दर्य का उत्कर्ष' ही प्रतीत होता है। आगे वे स्पष्ट करते हैं कि सुन्दर वर्णो से युक्त तथा सर्वथा निर्दोष काव्य भी चमत्कृति-उत्पादक शब्दों के अभाव में रमणीय नहीं होता। काव्य की रमणीयता की दृष्टि से चमत्कृति-उत्पादक शब्द का वही मूल्य है जो सर्वाङ्गसुन्दरी युवती के संदर्भ में लावण्य का।[3]

अतः प्राप्तगिरः कवि के लिए जिस भाषिक प्रौढ़ि की बात क्षेमेन्द्र ने की है, उसका अर्थ निश्चय ही भाषागत पांडित्य नहीं, बल्कि सौंदर्य के उत्कर्ष अथवा अतिशय की दृष्टि से वर्ण्यवस्तु अथवा कवि के संवेदनात्मक उद्देश्य के अनुकूल चमत्कृति-उत्पादक शब्द की सही पहचान है। शब्द वस्तुतः रमणीय अथवा अरमणीय नहीं होते, बल्कि वस्तु अथवा संवेदनात्मक उद्देश्य की दृष्टि से उचित अथवा अनुचित होते हैं, जिसका अर्थ यह है कि शब्द में अन्तर्निहित रमणीयता की पहचान, उद्घाटन तथा प्रयोग ही औचित्यदृष्टि है। इसी औचित्यदृष्टि से वस्तुतः चमत्कृति-

---

1. अयुक्तयोरिव मिथो वाच्यवाचकयोर्द्वयोः।
योजनायं कल्पमाना युक्तिरुक्ता मनीषिभिः॥ —अग्निपुराण का काव्य शास्त्रीय भाग, 6/29

2. सुकविरतिशयार्थी वाक्चमत्कारलोभादभिसरति मनोज्ञे वस्तुशब्दार्थसार्थे।
भ्रमर इव वसन्ते पुष्पकान्ते वनान्ते नवकुसुमविशेषामोदमास्वादलोलः॥
—कवि कंठाभरण, 3/1

3. एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनानाम्॥
—कवि कंठा० 3/2

उत्पादक शब्दों की योजना हो पाती है। स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र की औचित्यदृष्टि तथा चमत्कार में कोई तात्त्विक भेद नहीं, भेन बल्कि अतिशयार्थ अथवा रमणीयार्थ की उपलब्धि में निहित प्रक्रियागत क्रम का अन्तर मात्र है।

अजितसेन

4·15·1. अजितसेनकृत अलकार चिन्तामणि नवीन खोज है।[1] काव्यगत शब्द-चिंतन की दृष्टि से अजितसेन की कई उद्भावनाएँ महत्त्वपूर्ण एवं विचार्य हैं, यों यह स्पष्ट है कि अजितसेन के सामने कोई नाभिक योजना अथवा धारणा नहीं है कि उसके चतुर्दिक वे चिन्तन के तानेबाने बुनते जैसा कि क्षेमेन्द्र आदि आचार्यों ने किया है। फिर भी कुछ चर्चाएँ ऐसी अवश्य हैं, जिनमें पर्याप्त ताजगी है।

4·16·2. अपने समन्वयात्मक काव्यलक्षण में भी अजितसेन ने शब्द के विविध काव्यगत संदर्भों का सविशेषण संकेत किया है—

शब्दार्थालंकृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामम्।
व्यंग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यम्।
लोको द्वन्द्वोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्रयं सुखार्थी।
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम्॥

—अलंकार चिंतामणि, 1/7

उपयुक्त काव्यलक्षण में शब्द के छह काव्यगत संदर्भों की चर्चा है—अलंकार, नवरस, रीति, व्यंग्यादि अर्थ, दोषहान और गुण। इनमें 'अलंकृति' के साथ 'इद्धं' प्रत्यय है जिसका तात्पर्य है अनुविद्ध होना। 'कलित' विशेषण का प्रयोग 'नवरस' तथा 'रीति' के साथ आया है, जिससे रस और गुण दोनों का अवियोग इष्ट है। 'रीति' को विशेषण अभिराम है, जिसके दोनों अर्थ लिए जा सकते हैं—सुन्दर और सम्यक्। नेतृसद्वर्णन काव्यवस्तु हो सकता है, लेकिन स्वयंकाव्य तो अलंकृत, रसाप्लुत, सम्यक् रीति, गुणकलित तथा व्यंग्यार्थादि समन्वित निर्दोष शब्दार्थ ही है। स्पस्ट है कि वस्तु का सद् असद्रूप काव्यता का निर्धारक तत्त्व नहीं, बल्कि शब्द के काव्यगत संदर्भवैविध्य ही काव्यता के नियामक हैं।

---

1. अलंकार चिंतामणि का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ से सन् 1973 ई० में हुआ है—संपादक हैं डां० नेमिचन्द्र शास्त्री। अलंकार चिंतामणि का रचनाकाल सन् 1250-60 के मध्य माना गया है। अतः यह ग्रंथ पंडितराज के पूर्वरचित एक महत्त्वपूर्ण संदर्भग्रंथ सिद्ध होता है।

4·16·3. अलंकारों का अजितसेन शब्दार्थाश्रित मानते हैं। गुण और अलंकार दोनों चारूत्वहेतु हैं, दोनों काव्य के भाषिक संदर्भ हैं; अन्तर यह है कि गुण पद-संघटना के आश्रित हैं और अलंकार शब्दार्थाश्रित।[1] अब चूँकि अजितसेन ने यह मान्यता दी है कि काव्यगत शब्दार्थ-व्यंग्यार्थ आदि अर्थ से समन्वित होते हैं, अतः यह जरूरी था कि व्यंग्यार्थादि–संदर्भ में वे अलंकारों की व्याख्या करते। उन्होंने वैसा किया भी।

क. शब्दालंकार के चार प्रकार बतलाए गये हैं—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक। उनमें चित्रालकार अद्भुततत्त्व अथवा विस्मयवृत्ति के परिपोषण के लिए नियोजित होते हैं।[2] शब्द और अर्थ की भंगिमा अथवा वैशिष्ट्य के कारण प्रस्तुत अर्थ से, वक्र अभिप्राय के कारण, अपर अर्थ का संकेत वक्रोक्ति है। अथवा यों कहें कि वक्राभिप्राय युक्त (प्रस्तुत से भिन्न) अर्थान्तरसंकेत वक्रोक्ति है।[3] अनुप्रास और यमक सम्बन्धी धारणाएँ पारंपरिक हैं।

(ख) अर्थालंकारविवेचन के क्रम में उनकी प्रतीयमानक्षमता तथा मूलत्व का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। प्रतीयमानतारतम्य की दृष्टि से अर्थालंकृति के चार भेद बतलाए गये हैं -[4]

(i) प्रतीयमान-रस-भाव इत्यादि रूप : प्रेयस्, रसवद्, ऊर्जस्वी, समाहित और भाविक

(ii) स्फुट प्रतीयमान के अभावरूप : उपमा, विनोक्ति, विरोध, अर्थान्तरन्यास आदि

(iii) प्रतीयमान वस्तुरूप : व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति आदि

---

1. चारुत्वहेतुतायां च गुणालकारयोरपि।
गुणः संघटनाश्रितया शब्दार्थाश्रित्यलङ्क्रिया ॥—अ० चि०, 4/2

2. धीरोष्ठ्यबिन्दुमद्बिन्दुच्युतकादित्वतोऽद्भुतम्।
करोति यत्तदत्रोक्त चित्रं चित्रविदा यथा ॥ अ० चि०, 2/2

3. शब्दार्थभङ्गतो यत्र प्रस्तुतादपरं वदेत्।
वक्राभिप्रयातो वाच्यं वक्रोक्तिरिति सोदिता ॥ अ० चि० 3/1

4. प्रतीयमानशृङ्गाररसभावादिका मता।
स्फुटा प्रतीयमानाऽन्या वस्त्वौपम्यतदादिके ॥ अ० चि०, 4/4

(iv) प्रतीयमान औपम्य आदि रूप : परिणाम, संदेह, रूपक, भ्रान्तिमान्, उल्लेख आदि । यह प्रतीयमान तारतम्य सादृश्य-साधर्म्य के आधार पर दिया गया है । इसके अतिरिक्त—अर्थालंकार के निम्नांकित मूलतत्त्व भी बतलाए गये हैं—[1]

(i) अध्यवसायमूलकत्व : अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा
(ii) विरोधमूलकत्व : विषम, विशेषोक्ति, विभावना आदि
(iii) वाक्यन्यायमूलकत्व : परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प आदि
(iv) लोकव्यवहारमूलकत्व : उदात्त, विनोक्ति, स्वभोवोक्ति आदि
(v) तर्कन्यायमूलकत्व : अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग आदि
(vi) शृंखलावैचित्र्यमूलकत्व : दीपक, सार, कारणमाला आदि
(vii) अपह्नवमूलकत्व : वक्रोक्ति, व्याजोक्ति आदि
(viii) विशेषणवयित्र्यमूलकत्व : परिकर और समासोक्ति

उपयुक्त स्थापनाओं के सम्बन्ध में डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री का निष्कर्ष यह है कि अजितसेन ने बुनियादी तौर पर चमत्कार को अलंकृति का मूल माना है। सादृश्य, अध्यवसाय, विरोध, वैचित्र्य आदि कवि की विभिन्न मुद्राएँ हैं जिनके अनुकूल वह किसी तथ्य, अनुभूति, घटना या चरित्र की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति करता है—साम्य, विरोध आदि उक्तिवैचित्र्य दरअसल कवि की वस्तु-अनुरूप विभिन्न मुद्राओं के ही प्रकार हैं। शब्दाश्रित अलंकृति के चमत्कार के आधारवैविध्य ही वस्तुतः उनके वर्गीकरण के मूलकत्व के रूप में आए हैं।[2]

4·16 4. काव्यसामग्री के अन्तर्गत अजितसेन ने रीति, गुण, शय्या, वृत्ति और पाक की चर्चा की है (अ० चिं०, 5/144)।

(1) गुणसंश्लिष्ट शब्दौघसंदर्भ को रीति कहा गया है—गुणसंश्लिष्ट-शब्दौघसंदर्भो रीतिरिष्यते (अ० चिं०, 5/134)। रीति अजितसेन की दृष्टि में भी गुणयुक्त पदरचना ही है, लेकिन संदर्भ के लिए शब्दौघ विशेषण से कुछ अतिरिक्त व्यवस्था भी आई है। औघ का अर्थ समूह भी होता है और द्रुतनृत्य भी।[3] अतः शब्दौघ का अर्थ न सिर्फ शब्द-समूह है, बल्कि द्रुत नृत्यरत शब्दसमूह भी। द्रुत नृत्य में जो ताल,

---

1. अलंकारचिंतामणि, पृ० 114।
2. उपरिवत्, प्रस्तावना, पृ० 11, 75।
3. शब्दस्तोममहोदधि ।

संतुलन, लयात्मकता तथा ध्वनन है वह सारा कुछ जब रचना या संदर्भ में होता है, तभी गुणयुक्त पदावली को रीति कहा जाता है, यह अजितसेन का पक्ष है।

(ii) गुण संघटनाश्रित होते हैं, इसका प्रतिपादन अजितसेन ने अलंकार के संदर्भ में किया है। उद्भट के साक्ष्यानुसार संघटना सामासिक पदयोजना है। ध्यातव्य यह है कि रससिद्धांत को स्वीकार करते हुए भी, अजितसेन रसवादी गुणधारना को स्वीकार नहीं कर पाते और वे 24 काव्यगुणों की चर्चा करते हैं, रसवादसम्मत माधुर्य, ओज, प्रसाद की त्रिपुटी नहीं। दरअसल हुआ यह है कि मम्मट के बाद रसध्वनिवाद पूर्ण प्रतिष्ठित अवश्य हुआ और रस को भी सर्वमान्य स्वीकृति मिल गयी, लेकिन रसवाद से जुड़ी अन्य कई अतिवादी मान्यताओं को स्वीकृति नहीं मिली। मम्मट के बाद के संग्राहक आचार्य गुणविवेचन के क्रम में गुणत्रयवाद को अस्वीकार तो नहीं करते, किन्तु दण्डी, वामन, भोज आदि की परंपरा वाले गुणानन्त्यवादी भाषिक समीक्षापद्धति को भी मान्यता देते चलते हैं। विशेषतः दाक्षिणात्य आचार्यों ने ऐसा ही किया है। इस दृष्टि से कश्मीरी रसवादी और दाक्षिणात्य भाषिक समीक्षापद्धति के बुनियादी अन्तर को समझा जा सकता है।

(iii) पदों की गुणात्मक मैत्री शय्या है और अर्थगांभीर्य पाक (अ० चिं० 5/139)। इन धारणाओं को विकसित नहीं किया गया है, शायद इसलिए कि ये, विशेषतः पाक सिद्धांत यथेष्ट प्रसिद्ध रहा है और संभवतः राजशेखर ने इसके (पाकसिद्धान्त) विधिवत् व्यवस्थापन का प्रयत्न भी किया था।

(iv) वृत्तियाँ रचनाश्रित मानी गयी हैं। वृत्तियाँ रससंदर्भ हैं अर्थात् रचना में रसविशेष की स्थिति का बोध वृत्तियों से होता है—ये चार हैं :

कैशिकी : करुण और श्रृंगार : कोमल प्रकृति

आरभटी : बीभत्स और रौद्र : उद्धत प्रकृति

सात्वती : भयानक और वीर : प्रौढ़ प्रकृति

भारती : शान्त और अद्भुत : सुकुमार प्रकृति

वस्तुतः जैसा कि हमने भरत के संदर्भ में दिखलाया है कि वृत्तियाँ भावावेग-विशेष के परिणामस्वरूप उच्चरित अथवा व्यक्त विशिष्ट भाषिक रूप हैं। 'वृत्ति' दरअसल व्यापार है; चित्तवृत्ति के अनुकूल भाषावृत्ति प्रकट होती है (रीति) और

प्रकट भाषावृत्ति के आधार पर चित्तवृत्ति (वृत्ति) तक पहुँचा जा सकता है। रीति तथा वृत्ति का यही रससंदर्भ है।

4·16·5. काव्यभाषा की दृष्टि से प्रत्येक वर्ण का महत्त्व है। आनंदवर्धन ने प्रतीयमानता की, कुंतक ने वक्रता की और क्षेमेन्द्र ने औचित्य एवं चमत्कार की खोज काव्यभाषा के प्रत्येक वर्ण तक में की थी। दाक्षिणात्य आचार्यों ने भी काव्य-सौंदर्य की तलाश प्रत्येक वर्ण में की है, लेकिन भिन्न दृष्टि से। भोज के बाद एक नयी परंपरा की शुरुआत वर्णों के शुभाशुभ-विवेचन के रूप में होती है। वर्णों में दिव्यशक्ति की कल्पना मूलतः तंत्रशास्त्र की देन है, इसकी चर्चा हम प्रथम अध्याय में कर आये हैं। तंत्रमत के अनुसार सरस्वती को 'मातृकावर्णरूपिणी' कहा जाता है और महाकाली के मुंडमाल के पचास मुंडों को पचास मातृकावर्णरूप भी कहा जाता है।

वर्णों के शुभाशुभ फलदायी मानने के साथ ही छन्दःशास्त्रीय गणों को भी शुभाशुभ मानने की परंपरा जुड़ी हुई है। साथ ही गुणों के दैवतनिर्धारण की परंपरा भी बड़ी पुरानी है। छंदःशास्त्र में गणों की शुभाशुमविषयक धारणा का विकास इस्वी सन् 1000 से 1400 के बीच होता है। दैवत सम्बन्धी धारणाएँ संभवतः वैदिक-पौराणिक परंपरा का प्रतिफलन है। डॉ० शिवनन्दन प्रसाद का विचार है कि 'हो सकता है, गणविधान में इन अलौकिक तत्त्वों के समावेश में उस वातावरण का भी हाथ हो, जो बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि धार्मिक आंदोलनों के फलस्वरूप समस्त भारत में निर्मित हो चुका था और जिसके प्रभाव से जीवन और जगत् की प्रत्येक वस्तु पर पुराणोन्मुख आध्यात्मिकता का रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी।"[1]

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर अजितसेन ही पहले काव्यशास्त्री हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ में वर्णसमय (शुभाशुभ रूढ़ियाँ, दैवत आदि) का समावेश किया है। अजितसेन भी दाक्षिणात्य हैं और वहाँ विशेषतः तेलुगु क्षेत्र के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में वर्ण-गणसमय का समावेश एक विशिष्ट परंपरा है।[2]

अतः अजितसेन ने भी कवि को निदेश दिये हैं कि वह वर्णों की प्रकृति तथा फलाफल को भलीभाँति जानकर काव्यरचना प्रारंभ करें (अ० चिं० 1/84,85)।

---

1. मात्रिक छंदों का विकास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् 1964, पृ० 27।
2. अन्यविवरण के लिए देखें : चमत्कारचंद्रिका, भूमिका भाग, डॉ० (श्रीमती) पंडिरी सरस्वती मोहन, पृ० 73, मेहरचंद लक्ष्मणदास, 1972।

इस निदेश का व्यावहारिक पक्ष इतना ही है कि भाषा की प्रकृति की सही पहचान कवि के लिए जरूरी है।

विद्यानाथ

4·17·1. लगभग अजितसेन ने समकालीन विद्यानाथ ने प्रतापरुद्रीय[1] में समस्त काव्यसंपद को एक केन्द्रीय धारणा—चरित अनुबन्ध, के इर्दगिर्द व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है। विद्यानाथ की स्पष्ट धारणा है कि काव्य गुणालंकार-विलास के आश्रित है। गुणालंकारों का विलास अथवा स्फुरण या तो शब्दाश्रित होता है, या अर्थाश्रित अथवा उभयाश्रित। शब्दार्थाश्रित गुणालंकारों का यह स्फुरण रस-समन्वित होकर सहृदयानन्द का सर्जन करता है और यदि उसके साथ पुण्यश्लोक चरित्र का भी योग हो तो काव्य का सही उन्मेष होता है–यह उन्मेष ही काव्य का उदात्तरूप है; परममधुर, अमृतमय एवं सुन्दर :

गुणालंकाराणां रसमहृति काव्ये विलसितं
स्फुरच्छब्दार्थाभ्यां तदपि हृदयानन्दि भवति।
तयोरप्युन्मेषः स्रवदमृतमाधुर्यसुभगः
परं पुण्यश्लोकं चरितमनुबन्धन् विजयते॥

—प्रतापरुद्रीय, 1/60.

काव्योत्कर्ष संबंधी उपर्युक्त योजना में विद्यानाथ ने एक निश्चित क्रम बतलाया है—

(i) शब्दस्फुरण, अर्थस्फुरण, शब्दार्थस्फुरण > गुणालंकार
(ii) गुणालंकारविलास > काव्यचारुत्व
(iii) काव्यचारुत्व + रस > सहृदयानन्द सृष्टि
(iv) काव्यचारुत्व + रस + पुण्यश्लोक चरित > परम अमृतमय, परम मधुर, परम सुंदर।

इस अनुक्रम में बुनियादी तथ्य यह है कि काव्यचारुत्व मूलतः शब्दार्थस्फुरण की ही परिणति है, जिसका विकास सहृदयहृदयानन्द के स्तर तक होता है। स्पष्ट है कि सामान्य भाषिक व्यवहार का शब्दार्थव्यापार किसप्रकार गुण, अलंकार, रस तथा पुण्यश्लोक चरित के योग से काव्यानन्द में परिणत होता है, यही विद्यानाथ का मुख्य विवेच्य विषय है।

---

1. संपादक, डॉ० वेङ्कटेश राघवन, द संस्कृत एजुकेशन सोसायटी, मद्रास, 1970.

4·17·2. उपर्युक्त विवेच्य विषय की व्याख्या तथा स्थापना में विद्यानाथ ने समस्त काव्यसंपद का काव्यपुरुष कल्पना के साथ संश्लेष उपस्थित किया है। ध्यातव्य है कि काव्यपुरुष संबंधी विद्यानाथ की कल्पना और राजशेखर की कल्पना पूर्णतया भिन्न है। विद्यानाथ की काव्यपुरुष की कल्पना इस प्रकार है :[1]

शब्द और अर्थ	: शरीर
व्यंग्यवैभव	: जीवित
उपमादि अलंकार	: हार आदि आभूषण
श्लेषादि गुण	: शौर्यादिवत्
रीति	: उत्कर्षप्रदायक अथवा वैशिष्ट्य प्रतिपादक चारित्र्य
वृत्ति	: आचरण, जिससे चारित्र्य और भी निखरता है।
शय्या (पदानुगुण्य)	: सम्यक् विश्रामस्थल
पाक (रसास्वाद प्रभेद)	: सुस्वादु, स्वस्थकर भोजन

शब्द, अर्थ, शक्ति, अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, शय्या और पाक ये काव्यसंपद की सामग्री हैं। कविप्रतिभा इन्हीं के सम्यक् उपयोग से काव्यसर्जना करती है। विद्यानाथ की इस योजना का वैशिष्ट्य यह है कि किसी भी मुद्दे पर अनावश्यक बल अथवा किसी की उपेक्षा नहीं है। काव्यसंपदपरीक्षण अथवा काव्यसमीक्षा के प्रति यह संतुलित भाषिक दृष्टि है, जिसे एकप्रकार से संग्राहक आचार्यों, विशेषतः दाक्षिणात्यों का वैशिष्ट्य कहा जा सकता है।

---

1. शब्दार्थौ मूर्तिराख्यातौ जीवितं व्यङ्ग्यवैभवम्।
हारादिवदलंकारास्तत्र स्युरुपमादयः॥
श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादय इव स्थिताः।
आत्मोत्कर्षावहास्तत्र स्वभावा इव रीतयः॥
शोभामाहार्यिकीं प्राप्ता वृत्तयो वृतयो यथा।
पदानुगुण्यविश्रान्तिः शय्या शय्येव संमता।
रसास्वादप्रभेदाः स्युः पाकाः पाका इव स्थिताः।
प्रख्याता लोकवदियं सामग्री काव्यसंपदः॥

—प्रतापरुद्रीय, 2/2-5.

4·17·3. (i) शब्द और अर्थ की पारंपरिक स्थापना की गयी है, वाचक-वाच्य, लक्षण-लक्ष्य और व्यंजक-व्यंग्य। विद्यानाथ का वैशिष्ट्य यहाँ यह है कि वे तात्पर्यार्थ को भी व्यंग्यार्थ मानते हैं, कोई पृथक् अर्थव्यापार नहीं और इसप्रकार शब्दशक्तियाँ सिर्फ तीन ही हैं अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना–तात्पर्यार्थोऽपि व्यङ्ग्यार्थ एव, न पुनः पृथग्भूतः। अभिधालक्षणाव्यञ्जनाख्यास्तिस्त्रः शब्दवृत्तयः (प्रतापरुद्रीय, पृ० 29-30)। इसका अर्थ यह हुआ कि विद्यानाथ तात्पर्यार्थ को शब्दार्थव्यापार में तीसरी प्रावस्था भी मानने को तैयार नहीं, जैसा कि पूर्वाचार्यों ने किया था। डॉ० राघवन इसे व्यंजना-सिद्धि में महत्त्वपूर्ण धारणा मानते हैं।[1]

(ii) वृत्तिधारणा का प्रयोग विद्यानाथ ने दो संदर्भों में किया है-काव्यवृत्ति और रचनावृत्ति। अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना काव्यवृत्तियाँ हैं। कैशिकी, आरभटी आदि को रचनाश्रित एवं रसावस्थासूचक कहा गया है।[2] काव्यगत शब्दचिंतन की दृष्टि से विद्यानाथ की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि रचना ही रसव्यंजक होती है—रचनाया अपि रसव्यञ्जकत्वं प्रसिद्धम्। (प्रतापरुद्रीय, पृ० 32)। इस प्रकार वृत्तियाँ रचना में रसावस्थान की सूचक मानी गई हैं और इसीलिए उन्हें अर्थसंदर्भ भी कहा गया है [3]

कैशिकी : सुकुमार अर्थसंदर्भ
आरभटी : उद्धत अर्थसंदर्भ
भारती : ईषत् मृदु अर्थसंदर्भ
सात्वती : ईषत् प्रौढ़ अर्थसंदर्भ
मध्यम कैशिकी : मृदु अर्थ, अनतिप्रौढ़बंध
मध्यम आरभटी : प्रौढ़ अर्थ, अनतिमृदुबंध

(iii) रचना का अर्थसंदर्भ वृत्ति है तो, अर्थ का रचनासंदर्भ रीति होना चाहिए, किंतु आचार्यों की दृष्टि प्रायः इस अन्योन्याश्रित शब्दार्थसंबंध की ओर जाती ही नहीं। इसीलिए 'गुणाश्लिष्ट संघटना' को विद्यानाथ 'रीति' तो कहते हैं, किंतु उसे अर्थविशेषनिरपेक्ष भी मान लेते हैं। रस-ध्वनिसरणि की यह आग्रहवादिता

---

1. प्रतापरुद्रीय, भूमिका, पृ० 22; भोजस शृंगार प्रकाश, पृ० 159-160,
2. कैशिक्यारभटी सात्वती भारती चेति रचनाश्रित्वेन रसावस्थानसूचकाश्चतस्रो वृत्तयः। प्रतापरुद्रीय, पृ० 31-32,
3. प्रतापरुद्रीय, 2/15-24।

रही है, फलतः एक छोटी से बात उनकी पकड़ में नहीं आ पाता कि अर्थनिरपेक्ष रचना का काव्यसंदर्भ ही क्या होगा ? और अगर 'अर्थनिरपेक्ष रचना' रीति हो तो क्या 'रचनानिरपेक्ष अर्थ' वृत्ति मानी जाएगी ?

(iv) पदों की मैत्री 'शय्या' है, जिसका लक्षण यह भी है कि पदों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। अर्थगांभीर्य को 'पाक' कहा गया है (प्रतापरुद्रीय, पृ० 45)।

(v) काव्यभाषिकी की दृष्टि से गुणविवेचन के क्रम में विद्यानाथ ने कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ दी हैं। पहली बात तो यह है कि वे रस-ध्वनिसरणि के गुणत्रयवाद को स्वीकार नहीं करते—यह भी दाक्षिणात्य आचार्यों की विशिष्ट स्थिति है। दूसरी बात यह कि उन्हें गुणों के शब्द तथा अर्थगत वर्गीकरण भी स्वीकार नहीं, वे उद्भट की तरह गुण को संघटनाश्रित मानते हैं। इसके पूर्व विद्यानाथ ने 'गुणाश्लिष्ट किंतु अर्थविशेषनिरपेक्ष संघटना' को रीति कहा है। तो क्या यह मान लिया जाय कि गुण भी अर्थविशेषनिरपेक्ष होंगे, क्योंकि 'अर्थविशेषनिरपेक्ष गुण' से ही 'अर्थविशेष निरपेक्ष (गुणाश्लिष्ट) संघटना उत्पन्न हो सकती है। यदि 'गुण' अर्थविशेष सापेक्ष रहे तो 'अर्थविशेषनिरपेक्ष संघटना' का आधार वे नहीं बन सकते। और तब विद्यानाथ की यह मूल स्थापना कि श्लेष आदि गुण शौर्यादि मानवीय गुणों की तरह काव्य में स्थित होते हैं, भी अनुपपन्न रह जाती है। अतः गुण यदि संघटनाश्रित हैं और जैसा कि विद्यानाथ की मान्यता है कि माधुर्य, प्रसाद तथा ओज ही सिर्फ संघटना धर्म नहीं हैं (आनंदवर्धन), बल्कि चौबीस काव्य-गुण ही संघटनाधर्म हैं, तब न तो गुण ही अर्थविशेषनिरपेक्ष होंगे और न रीति।

गुण के संबंध में विद्यानाथ की तीसरी महत्त्वपूर्ण मान्यता वर्गीकरण से संबद्ध है। विद्यानाथ को दोष के संदर्भ में गुणवर्गीकरण मान्य है। विद्यानाथ सम्मत चौबीस गुणों में कुछ ऐसे हैं कि जिनका अस्तित्व दोषपरिहार की दृष्टि से है; जैसे श्रुतिकटुत्व दोष के विपरीत 'सौकुमार्य' गुण है। ये गुण एतद्संबंधी मूलधारणा को पुष्ट करते हैं कि गुण दोष के विपर्यस्त रूप हैं।[1] ऐसे गुणों में विद्यानाथ ने सौकुमार्य, कांति, अर्थव्यक्ति, संमितत्व, उदात्त, औजित्व, रीति, प्रसाद, उक्ति, सौशब्द्य, समता और प्रेयान् की गणना की है; जिनका प्रयोग क्रमशः श्रुतिकटुत्व, ग्राम्य, अपुष्टार्थ, न्यूनाधिकपदत्व, अनुचितार्थ, विसंधि, पतत्प्रकर्ष, क्लिष्टता, अश्लीलता, च्युतसंस्कार, प्रक्रमभङ्ग और परुषता के परिहार के लिए होता है।

---

1. एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिता :
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः'—नाट्यशास्त्र, 17/94.

यों दोषविपर्यस्तरूप गुण भी उत्कर्षकारक होते ही हैं, लेकिन शेष गुणों का तो उत्कर्षकारक होना सहज धर्म ही है, अतः चारूत्वातिशय की दृष्टि से इनकी स्थिति श्रेष्ठतर हैं।[1] गुणविवेचन के इतिहास में विद्यानाथ की मान्यता का महत्त्व इस दृष्टि से है कि गुण को संघटनाश्रित मानने, सिर्फ शब्दाश्रित मानने, सिर्फ रसाश्रित मानने तथा भाव-अभावरूप मानने के पीछे आचार्यों के मतभेदों तथा उनकी अयथार्थ स्थितियाँ उजागर हो जाती हैं। 'गुण' काव्यभाषिकी का एक उत्कृष्ट पक्ष है, इसे अधिकांश आचार्य पकड़ नहीं पाये—दण्डी, वामन, भोज आदि अपवाद हैं।

(vi) अलंकार को चारुत्वहेतु मानना और गुणों से भेद लाते हुए इसे शब्दार्थाश्रित स्वीकारना परंपराभुक्त धारणा है, लेकिन विद्यानाथ जब शब्दालंकार और अर्थालंकार में भेद तथा क्रम स्थापित करते हैं, या मिश्रालंकार का निरूपण करते हैं, तो कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत भी देते प्रतीत होते हैं। प्रश्न यह है कि शब्दार्थोभिय अलंकारों में शब्दालंकार ही पहले क्यों निरूपित हों? विद्यानाथ का मत है कि अर्थप्रतीति, शब्दप्रतीति के बाद ही होती है; अतः शब्दप्रतीति की ही बुनियादी प्रधानता है, इसीलिए शब्दालंकार का विवेचन अर्थालंकारों से पहले होता है—शब्दार्थयोर्मध्ये शब्दस्यार्थप्रतीत्यन्तरङ्गत्वात् प्रथमं शब्दालंकारा निरूप्यन्ते (प्रतापरुद्रीय, पृ० 230)। विद्यानाथ की यह व्याख्या काव्यभाषिकी में वर्णसंघटना की बुनियादी महत्ता को रेखांकित करती है।

मिश्रालंकारविवेचन के क्रम में विद्यानाथ ने 'कटककेयूरवत् अलंकृति' की पारंपरिक रसवादी धारणा में थोड़ा संशोधन किया है। आलंकारिकों के सामने यह प्रश्न रहा है कि काव्यालंकार सचमुच में कटककेयूरवत् होते हैं या अलंकारों को आहार्य (बाह्य) मानते हुए भी ठेठ 'कटककेयूरवत् स्थिति' की अपेक्षा उनमें कुछ वैशिष्ट्य भी बतलाया जा सकता है? यह प्रश्न वस्तुतः सामान्य भाषा एवं काव्यभाषा में अन्तर के स्वरूप को पहचानने से जुड़ा हुआ है। विद्यानाथ स्थिति को थोड़ा स्पष्ट करते हैं कि मणि और कांचन पृथक् रूप में भी सौन्दर्यहेतु होने के साथ ही जैसे अन्योन्य संबंध से चारूत्वातिशय के उत्पादक होते हैं, वैसे ही रूपकादि अलंकार भी पृथक् रूप में सौंदर्यहेतु हैं; किन्तु संसृष्ट रूप में सौंदर्यातिशय किंबा चारूत्वातिशय उत्पादक होते

---

1. एषां मध्ये केषांचिद् दोषपरिहारकत्वेन गुणत्वम्। केषांचित् स्वत एवोत्कर्षहेतुत्वाद् गुणत्वम्। तत्र ये स्वत एवं चारुत्वातिशयहेतवस्तेपरमुत्कृष्टाः—प्रतापरुद्रीय, हैं० 216।

हैं।[1] स्पष्ट है कि विद्यानाथ ने सौन्दर्य और सौन्दर्यातिशय के बीच सूक्ष्म अन्तर दिखलाने का प्रयत्न किया है। सिर्फ स्वर्णाभूषण और स्वर्ण तथा मणि के योग से बने आभूषण में निश्चय ही अन्तर है। मणि-कांचन में सौंदर्यातिशय है और यह सौंदर्यातिशय मणि और कांचन के पारस्परिक अन्योन्याश्रित योग का ही परिणाम होगा। उसी प्रकार रूपकादि अलंकार स्वतंत्ररूप में स्वर्णाभूषण के सदृश, विद्यानाथ की सम्मति में, मान्य होंगे; लेकिन संकर-संसृष्टि अथवा संयोग-समवाय रूप से संसृष्टि अलंकार-प्रयोग पारस्परिक अन्योन्याश्रित रूप में सौन्दर्यातिशय के उत्पादक होंगे। काव्यभाषा की अलंकृति प्रायः संयोग-समवायरूप में होती है और यदि भोज का साक्ष्य मानें, तब यह स्वीकार करना होगा कि काव्यभाषा वस्तुतः ससृष्ट अलंकृति की ही भाषा होती है। स्पष्ट है कि विद्यानाथ की धारणा से प्रश्न का पूरा समाधान तो नहीं हो पाता, किंतु रसवादी कटककेयूरवत् रूपसंप्रत्यय की तुलना में स्थिति निश्चय ही बेहतर बनती है।

विजयवर्णि

4·18·1. विजयवर्णि ने अपने ग्रंथ शृंगारार्णवचंद्रिका[2] में कोई नयी बात नहीं कही है और न कोई नयी व्यवस्था दी है। अन्य दाक्षिणात्य आचार्यों की तरह विजयवर्णि ने भी दोष से रहित, गुणयुक्त, रीति, वृत्ति, शय्या तथा रस से समन्वित, सालंकार,

---

1. यथा लौकिकानामलंकाराणां हिरण्मयानां मणिमयानां च पृथक् सौन्दर्यहेतूना-मन्योन्यसंबन्धेन चारुत्वातिशयोदृश्यते; तथैव काव्यालंकाराणां रूपकादीनां मिथः संबन्धेन सौन्दर्यातिशयः प्रतीयते। प्रतापरुद्रीय, पृ० 319।

2. विजयवर्णि नयी खोज हैं। इनका ग्रंथ शृंगारार्णवचंद्रिका, एक साफ सुथरा कविशिक्षा ग्रंथ है। विजयवर्णि कर्नाटक के बंगवाड़ी राज्य के राजा कामि-राज के आश्रित थे। कामिराज सन् 1264 ई० में गद्दी पर बैठे और शृंगा-राणवचंद्रिका की रचना उन्हीं के आदेश पर हुई। अतः इसका रचनाकाल 13वीं शती के अन्तिम चुतर्थांश में कभी माना जा सकता है। शृंगारार्णवचंद्रिका और प्रतापरुद्रीय तथा अमृतानंदयोगीकृत अलंकारसंग्रह में काफी विषयगत साम्य है। फलतः रचनाकाल के विषय में बहुत निश्चयपूर्वक निर्णय दे पाना कठिन है। विशेष विवरण के लिए देखें, शृंगारार्णवचंद्रिका, संपादकः डॉ० वामन महादेव कुलकर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, 1969, पृ० 3-5।

सपाक शब्दार्थ की उत्तम रचना को काव्य कहा है।[1] जिन्हें विद्यानाथ ने काव्य-संपद-सामग्री कहा है, उनसब के समेकित रूप से विजयवर्णि काव्यलक्षण बनाते हैं। कोई मौलिक मुद्दा अथवा कोई नाभिकीय योजना नहीं है; किन्तु दोष, गुण आदि के क्रम में विजयवर्णि ने कतिपय सूक्तियाँ दी हैं, जो काव्यभाषिकी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, व्यंजक हैं।

4·18·2. विजयवर्णि ने सात प्रकार के कवि बतलाए हैं और सारे प्रभेद वस्तुतः काव्यभाषा के प्रयोगवैविध्य के द्योतक है:[2]

रौचिक कवि : जबतक रुचि के अनुकूल शब्द न मिल जाय, तबतक जो शब्दों को ग्रहण तथा त्याग की प्रक्रिया से गुजरता रहे, अर्थात् शब्दचयन में सावधान कवि,

वाचिक कवि : शब्दाडम्बर प्रिय,

अर्थ कवि : अर्थवैचित्र्य प्रिय,

शिल्पिक कवि : शब्द तथा अर्थ से बिम्बयोजना में पटु

मार्दवानुग कवि : मृदुशब्दार्थ योजक,

विवेकी कवि : वाच्य-वाचक संबंध तथा गुण-दोषविवेक में प्रवीण, शास्त्रज्ञानी, महाकवियों के मार्ग का अनुसरण करने वाला।

भूषणार्थीकवि : अलंकारों की दिव्य योजना में प्रवीण।

ध्यातव्य है कि कवियों के उपर्युक्त प्रकार एतद्विषयक राजशेखर के वर्गीकरण से बिलकुल भिन्न है। कवि किसप्रकार अपनी अभिव्यंजना को संवारता है, वह किसप्रकार सामान्य भाषा के शब्द को ही अपनी गहन अनुभूति

---

1. अदोषः सगुणो रीतिवृत्तिशय्यारसान्वितः,
सालंकारः सणाकश्च शब्दार्थरचनोत्तमः, शृं० चं०, 1/23

2. त्यज्यते गृह्यते शब्दोऽर्थो वा तावत्पुनः पुनः। येन यावद्रुचिः स्वस्य रौचिकः स कविर्भवेत्, ॥3॥ शब्दाडम्बरमात्रार्थी वाचिकः कविरुच्यते। अर्थवैचित्र्यमात्रार्थी सोऽयमार्थः कविर्भवेत् ॥4॥ शब्दार्थद्वयचित्रार्थी शिल्पिकः कविरुच्यते। शब्दार्थमृदुताकारीमार्दवानुगनादयाक्, ॥5॥ वाच्यवाचकसंबन्धिगुणदोषविदां वरः। महाकवीनां मार्गज्ञो नानाशास्त्रार्थकोविदः ॥6॥ विवेकीति कविः प्रोक्तो दिव्यालंकारयोजने। तत्परो भूषणार्थीति नाम्ना कविरुदाहृतः ॥7॥
शृंगारार्णवचंद्रिका, 2/3-7।

को अभिव्यक्त करने के लिए चेतनशील बनाता है, वह किसप्रकार अपनी भावभूमि के अनुकूल वस्तुतः नयी भाषा गढ़ता है; दरअसल ये ही आधार हैं विजयवर्णि कृत वर्गीकरण के। आज के मनोविद् समालोचक डॉ० देवराज उपाध्याय जब कहते हैं कि कवि के संबंध में कोई विशेषण अगर लगाया जा सकता है तो वह क्रांतिकारी ही हो सकता है और क्रांतिकारी कवि वह नहीं जो 'बीते कल की भाषा में' नये समाज की कल्पना करता हैं; बल्कि वह है जो 'भाषा को नूतन भावभंगी से समन्वित' करता है,[1] तब वे उसी आचार्य परंपरा को पुष्ट कर रहे होते हैं, विजयवर्णि जिसकी एक कड़ी हैं और जिसमें भावसंपदा के बजाय भाषा-संपदा को कवि की निजी एवं सही पहचान माना जाता है।

4·18·3. रस, गुण आदि से संबद्ध सूक्तियाँ भी अध्येय हैं, उनसे कतिपय महत्त्वपूर्ण संकेत मिलते हैं:

(क) रस : काव्यास्वाद में रसकी भूमिका, विजयवर्णि के अनुसार, भोज्य पदार्थों में लवण के सदृश है।[2] भोज्य पदार्थों में लवण का कार्य उनके आस्वादन में वृद्धि लाना है। लवण से भोज्य पदार्थों की गुणवत्ता अथवा पौष्टिकता में कोई परिवर्तन नहीं होता, लेकिन खाने वालों की तृप्ति की मात्रा में वृद्धि अवश्य होती है; किन्तु इसके लिए यह भी आवश्यक है कि लवण का मिश्रण संतुलित मात्रा अथवा अनुपात में हो, अन्यथा आस्वादकता की हानि ही होगी। उसी प्रकार काव्य भी शुभ वर्ण-गुण तथा साधु शब्दार्थ से युक्त होने पर भी, रसके कारण ही विशिष्ट-रूपेण आस्वाद्य होता है। मानलीजिए काव्य में पूरी रस-सामग्री नहीं हो, तो क्या स्थिति होगी? विजयवर्णि का पक्ष यह है कि उससे काव्य की गुणवत्ता में विशेष अन्तर नहीं आएगा। हाँ, वह सहृदय के लिए उतना तृप्तिकारक नहीं होगा। यह धारणा भरतसम्मत 'न हि रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते' से बिलकुल भिन्न है; क्योंकि यहाँ, विजयवर्णि की दृष्टि से अर्थप्रवर्तन तो होगा ही, किन्तु इसके अभाव में विशिष्ट आस्वादकता नहीं आ पाएगी। वस्तुतः विजयवर्णि रस के सार्वभौम एवं सर्वग्राही रूप के कायल नहीं हैं। इसके कारण काव्य में विशिष्ट आस्वादकता

---

1. 'कविता: एकदृष्टि' शीर्षक लेख, साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० 23; एस० चाँद एण्ड कंपनी, 1964।
2. निरवद्यवर्णगणयुतमपि काव्यं निर्मलार्थशब्दयुतम्।
निर्लवणशाकमिव तन्न रोचते नीरसं सतां मनसे"—शृं० चं०, 3/1

आती है, यही उसकी काव्यगत भूमिका है, उसके न्यूनाधिक होने की अवस्था में काव्य की आस्वादकता की हानि होगी, स्वयं काव्यता की नहीं।

(ख) रीति : विजयवर्णि की धारणा है कि प्रसादादि शब्दाश्रित गुण वशिष्ट्य से संघटित रीति ही काव्यस्वरूप का निर्णायक होता है और रीतिशून्य रचना काव्य के रूप में वैसे ही मान्यता प्राप्त नहीं कर पाती जैसे सुगुण तथा सम्यक् आचरण से रहित कोई लड़की कन्या के रूप में मान्य नहीं होती।[1] कन्या का अर्थ है कौमार्ययुक्त अनूढ़ा। आचरणहीनता अथवा सामाजिक मर्यादा से रहित (मार्गरहित, रीतिशून्यता) होने की स्थिति कौमार्यावस्था के विपरीत है, अतः रीतिशून्य लड़की 'कन्या' के रूप में मान्य नहीं हो सकती। उसीप्रकार रीतिशून्य काव्यता की कल्पना भी नहीं की जा सकती, विजयवर्णि का पक्ष यही है; क्योंकि काव्यस्वरूप का निर्धारण भी उनके अनुसार रीति के आश्रित है।

(ग) शय्या एवं पाक : गुणानुकूल पदमैत्री को विजयवर्णि 'शय्या' मानते हैं और अर्थगांभीर्य को पाक।[2] ये लक्षण पारंपरिक हैं, प्रतापरुद्रीय के अनुकूल ही, लेकिन एतद्विषयक सूक्तिरूप प्रतिपादन से कुछ विशेष भी व्यंजित होता है। शय्या के लिए विजयवर्णि ने बतलाया है कि जैसे बिना उपयुक्त शय्या के कामकेलि आनंद-दायक नहीं होती और न आधारहीन कीर्ति ही लोक में शोभित अथवा प्रभावकारी होती है उसीप्रकार 'शय्यारूप आनुगुण्य पदमैत्री" के बगैर काव्य भी सुशोभित नहीं होता।[3] स्पष्ट है कि 'शय्या' को विजयवर्णि काव्यसौंदर्य का एक अनिवार्य हेतु मानते हैं। यह सही है कि बगैर उपयुक्त शय्या के भी कामकेलि की जा सकती है, लेकिन यह भी सही है कि उपयुक्त शय्या आवश्यक कामोद्दीपक उपकरण है। इस संदर्भ में 'शय्या' काव्यसौंदर्य की अतिरिक्त उपकरण है। दूसरे संदर्भ में 'शय्या' को साधार कीर्ति के समान कहा गया है। आधारहीन कीर्ति कुछ देर के लिए लोक को अवश्य चमत्कृत कर सकती है, लेकिन उसमें स्थायीत्व नहीं हो सकता। वैसे ही शय्या-

1. रीतिशून्या यथा कन्या न मान्या धरणीतले,
तथा काव्यं रीतिशून्यं न मान्यं रसिकैर्जनैः ।।
शब्दाश्रित प्रसादादिगुणवैशिष्ट्यसंभवात्,
रीतेः काव्यस्वरूपत्वं निश्चितं कविपुङ्गवैः, शृं० चं० 6/1,5 ।

2. शृंगारार्णवचंद्रिका, 8/2,5 ।

3. अशय्या कामकेलि वा कृतिर्लोके न शोभते ।
यतस्ततो बुद्धैर्वाच्यं शय्यालक्षणमुत्तमम् ।। शृं० चं०, 8/1 ।

विहीन काव्यसौंदर्य अस्थायी ही रहेगा, यह विजयवर्णि का पक्ष प्रतीत होता है। इस संदर्भ में 'शय्या' काव्यसौन्दर्य का अनिवार्य उपकरण मानी जाएगी।

पाकसम्बन्धी सूक्ति को लीजिए। विजयवर्णि कहते हैं कि अपूर्व दिव्य भोज्यपदार्थ भी बिना पकाए रुचिकर नहीं होते, वैसे ही अपक्व काव्यबंध भी रुचिकर नहीं होते।[3] यह सही है कि अनेक भोज्यपदार्थों को बिना पकाए ही खाया जा सकता है, लेकिन अधिकांश खाद्यपदार्थ ऐसे ही हैं कि जिन्हें भलीभाँति पकाकर ही खाया जाता है। आस्वादकता के लिए परिपूर्ण पाकक्रिया आवश्यक है। काव्य-बन्ध के संदर्भ में पाक का अर्थ, समस्त काव्यसामग्री के एक रासायनिक प्रक्रिया के रूप में, समंजित एवं सामत्यीकृत (assimilated) होना है, जिससे अपूर्व आस्वादकता आती है। 'पाक' के माध्यम से इसीलिए विजयवर्णि ने चतुर्विध अर्थगांभीर्य की अनिवार्यता बतलायी है—चतुर्विधानामर्थानां गाम्भीर्यं पाक उच्यते (शृं० चं० 8/5) वे चतुर्विध अर्थ हैं—मुख्य, लक्ष्य, गौण और व्यंग्य, जो चतुर्विध शब्दशक्ति—अभिधा लक्षणा, गौणी और व्यंजना के अर्थव्यापार हैं।[4] अब यह भिन्न प्रश्न है कि शब्द-शक्तियाँ तथा उनके अर्थव्यापार को चतुर्विध स्वीकार किया जाय अथवा नहीं, लेकिन विजयवर्णि के इस प्राख्यान में निश्चय ही यथेष्ट बल है कि कविप्रयुक्त वाक्य की सार्थकता वस्तुतः चतुर्विध अर्थप्रवर्तन में ही है—कविप्रयुक्तवाक्यानां चतुर्धार्थः प्रवर्तते (शृं० चं०-2/8) और जब यह अर्थप्रवर्तन गंभीर होता है, तब उसे पाक कहते हैं।

(घ) अलंकार के संबंध में यह धारणा कि चूँकि निरलंकृत स्त्री सुशोभित नहीं होती, अतः कविता-कामिनी के लिए भी नानालंकारसंग्रह जरूरी है (शृं० चं० 9/1), ठेठ अलंकारवादी धारणा है; किन्तु यह कहना कि शब्दार्थ के परिपक्व रूप ही चित्र, उपमादि अलंकार कहे जाते हैं—काव्याङ्गभूतौ शब्दार्थौ श्रिताश्चित्रो-पमादयः (शृं० चं० 9/2) निश्चय ही विशिष्ट प्रत्यय है। विजयवर्णि यह भी कहते हैं कि काव्य में प्रयुक्त शब्दार्थों के समालंबन से ही अलंकार काव्यशोभाकर धर्म के

---

3. अपूर्वं भोज्यमप्यत्र निःपाकं नैव रोचते।
अपाककाव्यबन्धोऽपि ततः पाको निरूप्यते॥ शृं० चं० 8/4

4. मुख्यार्थो लक्ष्यनामापि गौणाख्यो व्यङ्ग्यनामकः।
महाकवीन्द्रैः सत्काव्ये प्रयुक्तोऽर्थश्चतुर्विधः॥
अभिधा लक्षणा गौणी व्यञ्जना च चतुर्विधा।
शब्दानां शक्तिरित्युक्ता पुरातनकवीश्वरैः॥ शृं० चं० 2/9, 26।

रूप में स्वीकृत किये जाएँगे।[1] इस प्राख्यान (assertion) से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जहाँ प्रयुक्त शब्दार्थ का समालम्बन न हो, वहाँ अलंकार-तत्त्व नामधारी तो हो सकता है, शोभाधर्मी नहीं। अतः शब्दार्थ का परिपक्व रूप ही समालंबन का लक्षण है और हमने देखा है कि 'पाक को विजयवर्णि समस्त काव्यसामग्री का समंजित एवं सामत्यीकृत रूप मानते हैं। अतः परिपक्व शब्दार्थ को शोभाधर्मी काव्यालंकार मानना निश्चय ही काव्यभाषा के वैशिष्ट्य की सटीक व्याख्या है।

विश्वेश्वर

4·19·1. चमत्कारचंद्रिका[2] की रचना के पीछे विश्वेश्वर की केन्द्रीय योजना है, समस्त काव्यांगों की 'चमत्कार' की दृष्टि से व्याख्या करना। हम जानते हैं कि 'चमत्कार' काव्यचारुत्व के पर्यायरूप में बहुप्रचलित पारिभाषिक शब्द है। विश्वनाथ के पूर्वज भट्ट नारायण ने चमत्कार को चित्तविस्ताररूप रसका सारतत्त्व माना था।[3] आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त और कुन्तक ने भी चमत्कार की चर्चा प्रसंगवशात् की है। क्षेमेन्द्र ने बाजाप्ता दशविधचमत्कार का विवेचन किया है। किन्तु चमत्कार को नाभिक बनाकर उसीके वृत्त में समस्त काव्यांगों अथवा काव्यशास्त्रीय मुद्दों को समेटने का योजनाबद्ध प्रयत्न विश्वेश्वर ने ही किया है। बाद में हरिप्रसाद (1729 ई०) ने तो 'चमत्कृति' को विशिष्ट शब्दप्रयोग का परिणत रूप मानते हुए उसे काव्यात्मा ही घोषित कर दिया है।[4] हमने यह भी देखा है कि किसप्रकार पंडित-राज ने भी चमत्कार को अपने काव्यचिंतन की धुरी बनाया है। पर ये दोनों विश्वेश्वर से परवर्ती आचार्य हैं, अतः योजनाबद्ध चमत्कार-विवेचना का श्रेय प्रथमतः विश्वेश्वर को ही है।

4·19·2. (क) विश्वेश्वर ने 'चमत्कार' की द्विविध व्याख्या की हैं, स्वरूप और कारणतत्त्व की दृष्टि से। स्वरूप की दृष्टि से चमत्कार काव्यास्वादकता से संबद्ध

---

1. काव्यशोभाकरः काव्यधर्मोऽलंकार उच्यते।
काव्यप्रयुक्तशब्दार्थान्समालम्ब्य प्रवृत्तिमान्॥ शृं० चं०, 9/3।
2. रचनाकालः सन् 1380 से 1400 ई०, चमत्कारचन्द्रिका, संपादिका— डॉ० पंडिरी सरस्वती मोहन, भूमिका, पृ० 11, मेहरचंद-लक्ष्मणचंद, 1972।
3. चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयपर्यायः……
रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते, साहित्यदर्पण, विमलाटीका, पृ० 49, मोतीलाल-बनारसीदास, 1956 ई०।
4. डॉ० व्यंकटेश राघवन, सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ अलंकारशास्त्र, पृ० 296।

है। काव्य के पठन-पाठन-श्रवण से सहृदय में जो आनन्द की सतत् स्फुरणा होती है, वही चमत्कार है; चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत् (च० चं०, पृ० 2)। विश्वेश्वर की इस धारणा में भट्टनारायण सम्मत चित्तविस्ताररूप चमत्कार की धारणा निहित है; क्योंकि आनन्दस्फुरणा वस्तुतः सहृदय के चित्तविस्तार का ही परिणाम होती है। प्रश्न हो सकता है कि क्या विश्वेश्वर 'चमत्कार' को रसका पर्याय मानते हैं? स्पष्ट ही ऐसा नहीं हैं; क्योंकि उनकी योजना के अन्तर्गत रस, चमत्कृति का एक हेतु है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि विश्वेश्वर इसको गौण महत्त्व दे रहे हों। वे इसकी आपेक्षिक गुणवत्ता तथा मूल्य के कायल है। कविता को वे रम्य उक्ति तथा अर्थ से उज्ज्वल, रसमयप्राण, गुणों से उल्लसित कामिनी की तरह मानते हैं।[1] रस की तुलना वे कर्पूर से करते हैं। अत्यल्प मात्रा में होने की स्थिति में भी कर्पूर वातावरण को सुगंधापूरित कर देता है, वैसेही (गुणालंकार-प्रधान अवस्था में भी) अत्यल्प रससंस्पर्श से ही वास्तविक काव्यसौंदर्य उभर आता है।[2] स्थिति यह है कि विश्वेश्वर रस को रसवादी संदर्भ में स्वीकार नहीं करते, अतः सहृदयानंद का एकमात्र कारण भी उसे नहीं मानते। विश्वेश्वर का पक्ष यह है कि काव्यास्वाद एक यौगिक प्रक्रिया है और रस उक्त प्रक्रिया के घटकों में सर्व-प्रमुख घटक।

(ख) कारणतत्त्व की दृष्टि से विश्वेश्वर ने चमत्कार के सात आधार बतलाए हैं; गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या और अलंकार।[3] चमत्कार के ये कारणतत्त्व काव्यशास्त्र के बहुचर्चित मुद्दे हैं और विश्वेश्वर ने उनके पारंपरिक विशेषतः भोज-सम्मत स्वरूप को ही स्वीकार भी किया है। यों उन मुद्दों के स्वच्छ विवेचन के लिए भी विश्वेश्वर को श्रेय दिया जा सकता है; किन्तु उनका वास्तविक महत्त्व सावयविक काव्यसिद्धांत के रूप में चमत्कार को प्रतिष्ठित करने तथा गुण, रीति आदि को उसके अवयवरूप व्यवस्थापन में है। विश्वेश्वर का चमत्कार-सिद्धांत वस्तुतः ध्वनि-सिद्धांत तथा वक्रोक्ति-सिद्धांत की तरह ही सावयविक काव्यसिद्धांत है। आनंदवर्धन

---

1. रम्योक्त्यर्थतनूज्ज्वला रसमयप्राणा गुणोल्लासिनी। ····· कामिनीव कविता··· ······
च० चं० पृ० 1।
2. अलं रसोक्तिरल्पापि काव्ये कल्पयितुं श्रियम्।
वस्तु कर्पूरलेशोऽपि सुगन्धीकुरुते परम् ॥ च० चं० पृ० 108।
3. गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलङ्कृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रूवते बुधाः ॥—च० चं०, पृ० 2।

की 'काव्यस्यात्मा ध्वनि', तथा कुंतक की 'सालंकारकाव्यता' के समकक्ष ही विश्वेश्वर की 'सचमत्कारो काव्यं' अवधारणा को मान्यता मिलनी चाहिए। संपुष्टि के लिए कुछ विमर्श प्रस्तुत हैं :

(i) प्रश्न हो सकता है कि गुण, रीति आदि चमत्कार के सात कारणतत्त्व पृथक्-पृथक् चमत्कार के हेतु हैं या दो-चार मिलाकर या सभी सावयविक रूप में चमत्कारसर्जन करते हैं? विश्वेश्वर के विवेचन से स्पष्ट है कि वे उन कारणतत्त्वों के एकांशरूप को चमत्कारहेतु नहीं मानते और न ही दो-चार के समावेश को। वामन, दण्डी आदि आचार्यों का उल्लेख एकांशरूप चमत्कारहेतु माननेवाले आचार्य के रूप में हुआ है और भोज का उल्लेख 'गुणालंकाररस' त्रिपुटि मानने वाले आचार्य के रूप में; और ये दोनों ही स्थितियाँ विश्वेश्वर को स्वीकार नहीं। 'काव्य' की तुलना वे 'साम्राज्य' से करते हैं। सार्वभौम साम्राज्य के सात अनिवार्य अंग होते हैं—स्वामी, आमात्य, सुहृद, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सैन्यबल। इनमें से किसी भी अंग के अभाव अथवा दुर्बल होने पर साम्राज्य भी उसी मात्रा में अभावग्रस्त तथा दुर्बल अथवा विकलांग होगा। उसीप्रकार काव्य में भी गुण, रीति आदि सप्तविध चमत्कारहेतुओं का सावयविकयोग अनिवार्य है।[1] इस सावयविकयोग को विश्वेश्वर गुण, रीति आदि का 'साधर्म्ययोग' कहते हैं। काव्य में किसी तत्त्वविशेष का, अन्य की तुलना में अतिरिक्त महत्त्व विश्वेश्वर को स्वीकार नहीं, उनका स्पष्ट मत है—सप्ताङ्गसङ्गतं काव्यं।

(ii) काव्य मूलतः शब्दार्थ है, इससे न तो इनकार किया जा सकता है और न विश्वेश्वर वैसा करते ही हैं; बल्कि भोज ने जैसे समस्त काव्यतत्त्वों की व्याख्या शब्दार्थ-साहित्य तथा सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य के संदर्भ में की थी, वैसे ही विश्वेश्वर भी समस्त काव्यतत्त्व का विवेचन 'सचमत्कार वागर्थ' के संदर्भ में करते हैं। वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं (च० चं०, पृ० 3) उनकी स्पष्ट अवधारणिक घोषणा है। उपर्युक्त सूत्र में 'वागर्थ' सामान्य

1. एकाङ्गतैव काव्यस्य कथिता कुब्जकादिभिः।
गुणभूषारसानस्य त्रीण्यङ्गान्याह भोजराट्॥
सप्ताङ्गसङ्गतं काव्यं साम्राज्यमिव भासते।
लक्ष्यते तदिदं साङ्गं मया कृतधियां मुदे॥ —च० चं०, पृ० 2-3।

भाषाव्यवहार है और 'सचमत्कार वागर्थ' काव्यगत भाषाव्यापार। इस अवधारणा की प्रकारान्तर व्याख्या यह हो सकती है कि काव्य में गुण, रीति आदि के साधर्म्य अथवा सावयविक योग से, सामान्य भाषा-व्यवहाररूप शब्दार्थ में गुणात्मक तत्त्वान्तरण आता है। चमत्कार, जिसे विश्वेश्वर आनंदपरिवाहकृत कहते हैं, वस्तुतः शब्दार्थ में इसी गुणात्मक तत्त्वांतरण को लक्षित करता है कि जिसके कारण 'शब्द' रूपात्मक यथास्थिति के बावजूद नामात्मक (शक्ति) दृष्टि से सर्जनशील, जीवंत, स्पन्दनशील, प्रदीप्त और दृशावाहक हो जाते हैं। उदाहरण के लिए—

तुम कौन धौं पाटि पढ़े हो कहा,
मन लेत पै देत छटांक नहीं।

पंक्ति में पदों की रूपगत संरचना सामान्य भाषाव्यवहार की है, किन्तु उनके साधर्म्ययोग के कारण जो गुणात्मक तत्त्वान्तरण आया है और उससे जो शक्तिपात होता है, उनके कारण सहृदय का चित्तविस्तार होता है और वह पंक्ति से व्यंजित प्रेमातिरेकजन्य उपालंभ में डूबता-उतराता है। यह काव्य है, विश्वेश्वर के शब्दों में 'वागर्थौ सचमत्कारौ।"

4·19·3. चूँकि विश्वेश्वर 'वागर्थौ सचमत्कारौ' को काव्य मानते हैं, इसलिए वागर्थ तथा चमत्कार के घटकों की पुनर्व्यवस्था वे करते, यह जरूरी था। इस प्रस्तावित पुनर्व्यवस्था का संकेत विश्वेश्वर ने चमत्कारचन्द्रिका के प्रारंभ मे ही दिया है :[1]

सामान्य भाषाव्यवहार : त्रिविध वाक्—वर्ण, पद और वाक्य

---

1. वाग्देवी वदने मम स्फुरतु या ध्वन्यात्मनोल्लासिनी
वर्णव्यक्तिमुपागता च तदनु स्थानप्रयत्नादिभिः।
भावानां पदसंज्ञया विदधती त्रेधा समुल्लेखना—
न्यानन्दाननुसन्दधाति विदुषां प्राप्ता महावाक्यताम् ॥
रम्योक्त्यर्थतनूज्ज्वला रसमयप्राणा गुणोल्लासिनी
चेतोरञ्जकरीतिवृत्तिकलिता पाकं वयो बिभ्रती ॥
नानलङ्करणोज्ज्वला रसवती (?) सर्वत्र निर्दोषताम्।
शय्यामञ्चति कामिनीव कविता कस्यापि पुण्यात्मनः ॥ च० चं०, पृ० 1

काव्यभाषाव्यापार : रम्य उक्ति, उज्ज्वल अर्थ, रसमय, गुणोल्लसित, रीतिरंजित, वृत्तिकलित, परिपक्व (आस्वाद्य), अलंकृत, निर्दोष तथा शय्या (गुणानुरूप पदमैत्री) से समन्वित शब्दव्यापार।

इस संदर्भ में विश्वेश्वर का व्यवस्थाजन्य वैशिष्ट्य यह है कि सामान्य भाषाव्यवहार के अन्तर्गत त्रिविध शब्दशक्ति का विवेचन आया है। वर्ण के अंतर्गत प्रत्येक वर्ण में निहित, परंपरया मान्य शक्ति तथा शुभाशुभरूप की व्यवस्था की गयी है। पद, वाक्य और अर्थ का विवेचन काव्यदोष के क्रम में आया है और इसी संदर्भ में प्रसंगवशात् वाचक, लक्षक तथा व्यंजक पद एवं वाक्य और वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थ का अन्तर्भाव कर लिया गया है। यह पुनर्व्यवस्था निश्चय ही अपारंपारिक है। इस पुनर्व्यवस्था में विश्वेश्वर का पक्ष संभवतः यह है कि शब्दशक्तियों का अन्तर्भाव सामान्य भाषाव्यवहार में ही किया जाना चाहिए; क्योंकि इनका उपयोग सिर्फ काव्यसंदर्भ में ही नहीं सामान्य भाषाव्यवहार में भी होता है। शब्दशक्ति का विवेचन मूलतः भाषा का व्याकरणिक संदर्भ है और काव्यगत शब्दचिंतन का क्षेत्र बुनियादी अथवा व्याकरणिक शब्दचिंतन के बाद शुरु होता है। शब्दचिंतन का इसप्रकार क्षेत्रनिर्धारण शायद अधिक व्यावहारिक और एतद्विषयक इतिहास के अनुकूल है। निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि विश्वेश्वर ने शब्दचिन्तन के स्पष्ट ही दो प्रकार निर्धारित किये :

—सामान्य शब्दचिन्तन, जिसके अन्तर्गत वर्ण, पद, वाक्य तथा शब्दशक्तियों का विवेचन हो और

—काव्यगत शब्दचिंतन, जिसके अन्तर्गत विधिपक्ष से गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या और अलंकार का विवेचन हो तथा निषेधपक्ष से पद, अर्थ एवं वाक्यगत दोष का विवेचन।

यों कहा जा सकता है कि शब्दचिन्तन का एवंविध क्षेत्रनिर्धारण भोज ने ही किया था और विश्वेश्वरसम्मत काव्यगत शब्दचिन्तन वस्तुतः भोज के सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य—दोषहान, गुणोपादान, अलंकारयोग तथा रसावियोग का ही प्रकारांतर रूप है; फिर भी विश्वेश्वर का यह श्रेय तो है ही कि उन्होंने एक अन्य संभावित वर्गीकरण का स्पष्ट प्रस्ताव किया है।

4.19.4. (क) सचमत्कार वागर्थ को काव्य मानने के कारण यह भी आवश्यक था कि विश्वेश्वर चमत्कार को धुरी बनाकर तदनुकूल काव्य का पुनः वर्गीकरण करते। विश्वेश्वर के वर्गीकरण में विचार चमत्कार की मात्रा का नहीं, चमत्कार की अवस्थिति का है। उनकी योजना में चमत्कार की मात्रा का प्रश्न उठता भी नहीं है; क्योंकि वे तो गुण, रीति आदि के सावयविक योग के परिणत आस्वाद्य रूप को ही चमत्कार मानते हैं। चमत्कार की अवस्थिति या तो वाक् (वाचक-लक्षक-व्यंजक-रूप वर्ण, पद तथा वाक्य) में होगी या अर्थ (वाच्य-लक्ष्य-व्यंग्यरूप वर्णार्थ, पदार्थ तथा वाक्यार्थ) में अथवा दोनों में। इन्हीं आधारों पर विश्वेश्वर ने काव्य का नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया :[1]

(i) **चमत्कारि** : जहाँ चारुत्व अथवा चमत्कार शब्द के रूपगत सौष्ठव पर आधारित हो

(ii) **चमत्कारितर** : जहाँ चारुत्व अथवा चमत्कार शब्द के अर्थगत सौष्ठव पर आधारित हो। गुणीभूत व्यंग्य के समस्त भेद अन्तर्भुक्त।

(iii) **चमत्कारितम** : ध्वनिप्रधान काव्य।

---

1. (i) शब्दार्थरूपं तदिदं काव्यं शब्दार्थकोविदैः।
त्रैविध्येन चमत्कारि चमत्कारितरं यथा॥
चमत्कारितमं चेति प्रविविच्य निदर्शितम्।
शब्दचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारीति कथ्यते॥
वाच्यचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारितरं मतम्। च० चं० पृ० 73
व्यङ्ग्यस्य च गुणीभावे तदेवाहुर्मनीषिणः च० चं० पृ० 74
प्रत्येयार्थस्य चारुत्वे चमत्कारितमं मतम्। च० चं० पृ० 77

(ii) चमत्कारचंद्रिका की संपादक डॉ० पी० सरस्वती मोहन यह मानती हैं कि चमत्कारि, चमत्कारितर तथा चमत्कारितम के रूप में वर्गीकरण ध्वनिसम्मत अधम, मध्यम तथा उत्तम के अनुसार किया गया है। देखें : चमत्कारचंद्रिका, भूमिका, पृ० 176। पर तथ्य यह नहीं प्रतीत होता। जैसा कि हमने पहले ही संकेतिक किया कि काव्य-वर्गीकरण में दृष्टि चमत्कार की मात्रा पर नहीं, चमत्कार की अवस्थिति पर है।

इस संदर्भ में एक अन्य मत्त्वपूर्ण संकेत ध्यातव्य है। चमत्कारि-चमत्कारितर-चमत्कारितम के निर्धारण में विश्वेश्वर इस बात पर बल देते हैं कि कवि-तात्पर्य की विश्रांति शब्दरूप में हैं अथवा अर्थ में या ध्वनि में, यह तय किया जाना आवश्यक है। कहीं कविप्रयत्न की विश्रांति अनुप्रासादि निर्वहण मात्र में होती है, कहीं अर्थनिर्वहण में और कहीं प्रत्येयार्थ (ध्वनि) निर्वहण में। इसप्रकार शब्दप्रयोग तथा कविप्रयत्नविश्रांति के आधार पर चमत्कार की अवस्थिति का निर्धारण किया जा सकता है। प्रश्न हो सकता कि यदि शब्दप्रयोग और कविप्रयत्नविश्रांति में सामंजस्य न हो तो, क्या होगा ? स्पष्ट है कि वैसी स्थिति 'चमत्कार' के अनुकूल नहीं होगी और उसे काव्यदोष में परिगणित किया जाएगा, और यह दोष वर्ण, पद अथवा वाक्य कहीं भी हो सकता है।

(ख) विश्वेश्वर के उपर्युक्त काव्यवर्गीकरण को डॉ० पी० सरस्वती मोहन ने अर्थचित्र को शब्दचित्र से पृथक् स्वीकारने संबंधी पंडितराज की मान्यता की मूलप्रेरणा कहा है।[1] यदि ऐसा है तो निश्चय ही विश्वेश्वर विशष श्रेय के अधिकारी होंगे।

विश्वनाथ देव

4·20·1. विश्वनाथ देव ध्वनिमार्गी संग्राहक आचार्य हैं। इधर उनका ग्रंथ 'साहित्य-सुधासिंधु' प्रकाश में आया है।[2] साहित्यसुधासिंधु का रचनाकाल संवत् 1649 वि० अथवा सन् 1592 ई० है।[3] यह स्थिति विश्वनाथ देव के विशेष महत्त्व की सूचक हैं, क्योंकि तब साहित्यसुधासिंधु का रचनाकाल पंडितराज के रसगंगाधर से लगभग 25 से 50 वर्ष पूर्व सिद्ध होता है।[4] पंडितराज की कई धारणाएँ, विशेषत: काव्यगत शब्द संबंधी विवेचना, साहित्यसुधासिंधु में भी विवेचित हैं। पंडितराज 'शब्द ही काव्य है' संबंधी धारणा के लिए साहित्यसुधासिंधु के ही ऋणी हैं, ऐसा तो दो टूक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बहुत संभव है कि 'उन शतकों और दशकों में साहित्यशास्त्र के

---

1. चमत्कारचंद्रिका, भूमिका, पृ० 176।
2. साहित्यसुधासिंधु, संपादक डॉ० रामप्रताप, प्रकाशक-भारतीय विद्या प्रकाशन, 1978.
3. उपरिवत्, भूमिका, पृ० 29.
4. डॉ० पांडुरंग वामन काणे ने पंडितराज की साहित्यिक गतिविधि का काल सन् 1620 से 1665 ई० माना है। देखें-हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 324.

अनेक परिष्कार निश्चित पदावली में पण्डितमण्डली में प्रसिद्ध रहे हों, जिन्हें सभी ग्रंथकारों ने समान रूप से यथावत् अपना लिया हो"[1] और साहित्यसुधासिंधु तथा रसगंगाधर का यह साम्य वैसे ही किसी समान स्रोत से गृहीत होने का परिणाम हो; किंतु इतना स्पष्ट है कि इस संबंध में विमर्श प्रस्तुत करने का पहला श्रेय विश्वनाथ देव को ही प्राप्त होगा, यद्यपि यह भी तय है कि इससे पंडितराज की महत्ता कम नहीं होती।

4·20·2. 'शब्द' शब्द का प्रयोग विश्वनाथ देव ने व्यापक अर्थ में किया है। 'शब्द' से उनका तात्पर्य पद, पदार्थ, वाक्य और वाक्यार्थ है। वे 'शब्द' और 'अर्थ' को पृथक् भी नहीं मानते। उनकी धारणा है कि 'शब्द' और 'अर्थ' को पृथक् मानने पर 'शब्दकाव्य' और 'अर्थकाव्य' का व्यवहार होने लगेगा और तब एक ही कविता में दो-दो काव्य मानना होगा। इसीप्रकार 'शब्दार्थ' में काव्य मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि काव्यसंदर्भ में 'शब्द' और 'अर्थ' न तो पृथक् होते हैं और न 'शब्दार्थ' के रूप में संयोगी। काव्य एक सर्जना है और वह सर्जना अर्थ की नहीं होती, क्योंकि अर्थरूप कामिनी, चंद्र-चांदनी आदि का स्रष्टा तो ब्रह्मा हैं। कवि तो शब्दों द्वारा नयी सृष्टि करता है, इसलिए काव्य यदि सर्जना है तो वह शब्दसृष्टि ही है—कविनिर्वाह्यं काव्यम्। न ह्यर्थः कविना निर्वाह्यते, कामिनी-चन्द्रचन्द्रिकादीनां ब्रह्मणैव निर्वाहितत्वात्। अपितु कविनिर्वाह्या पदगुम्फना। सैव काव्यम्।(सा० सु० सि०, पृ० 12)

विश्वनाथ देव के मत में 'शब्दार्थयोग' भी काव्य नहीं है, क्योंकि काव्यत्व 'अखंड कल्पनीय' है[2] और 'योग' अखण्ड नहीं होता। काव्य अखंडकल्प है, सर्जना है, अतः वह शब्दसर्जना है; 'शब्द', 'अर्थ' अथवा 'शब्दार्थ' की रचना नहीं। अतः जिस वाक्य को सुनने से ही श्रोता अखंड आनंद की अवस्था में पहुँच जाता है, वही वाक्य काव्य है।[3] शब्दाखंडवादी शब्ददर्शन से प्रेरित अखंड आस्वाद की परिकल्पना यद्यपि अतिवादी धारणा है, लेकिन विश्वनाथ देव अपनी इस बीज-भूत मान्यता के अनुसार ही अन्य काव्यशास्त्रीय मुद्दों की व्याख्या करते हैं, इसलिए इसी संदर्भ में अन्य धारणाओं का अध्ययन उपयोगी रहेगा :

---

1. डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, साहित्यसुधासिंधु, भूमिका, पृ० 10.
2. वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयं ···, सा० सु० सि० पृ० 17।
3. जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते, सा० सु० सि०, 1/4.

[क] अखंडवादी होने के कारण विश्वनाथ देव काव्य का उत्तमादि वर्गीकरण का खंडन करते हैं। उनकी धारणा है कि 'वाक्य' यदि वस्तुतः काव्य है तो उसमें उत्तम, मध्यम, अधम का तारतम्य बतलाना गलत है, 'काव्य' काव्य है—न इससे कुछ अधिक न इससे कुछ कम। ध्वनिसम्मत काव्यविभाजन का प्रत्याख्यान करते हुए वे कहते हैं कि काव्य का प्रतिपाद्य है रस। इसलिए स्थिति दो ही हो सकती है—रसादि प्रतीति अथवा रस का अभाव। काव्यत्व वहीं होगा जहाँ रसादि प्रतीति हो, रसादि प्रतीति के अभाव में काव्यत्व का अभाव भी होगा, अतः वह काव्य ही नहीं है—उत्तम (रसध्वनि) और अधम (चित्रकाव्य) होने का प्रश्न ही नहीं है। इसीप्रकार जिसे ध्वनिवादियों ने मध्यम काव्य कहा है, इस आधार पर कि उसमें व्यंग्यार्थ गौण होता है (गुणीभूत व्यंग्य), यह भी अनुपपन्न है; क्योंकि मूल प्रश्न है कि अन्ततः चमत्कारप्रतीति (रसप्रतीति) होती है या नहीं और यदि पार्यन्तिक चमत्कारप्रतीति होती है, तब यह सवाल निहायत बेमानी है कि व्यंग्यार्थ गौण था या प्रधान।

उत्तमादि वर्गीकरण का तीसरा विकल्पाधार है—रसादि परिकल्पना में रसाभास, भावाभास आदि अवर रसदशा की प्रतीति; तो यह भी अमान्य है; क्योंकि रसप्रतीति अखंडप्रतीति है, उसमें बढ़िया या घटिया का प्रश्न ही नहीं उठता।

चौथा विकल्पाधार यह हो सकता है कि गुणीभूत काव्य में गुणों और अलंकारों के चमत्कार के सामने रस-चमत्कार गौण हो जाता हो। विश्वनाथ देव इसे भी स्वीकार नहीं करते; क्योंकि उनकी दृष्टि में गुणालंकार 'रस' के प्रतिबंधक नहीं उद्बोधक तथा उत्कर्षकारक हैं।[1] महिमभट्ट के साक्ष्य पर वे मानते हैं कि

1. वस्तुतस्तु अनुचितोऽयं ध्वनित्वादिना विभागः। तथाहि एतेषु त्रिषु रसादिकं न प्रतीयते प्रतीयते वा। नाद्यः तदा काव्यत्वविरहपत्तेः। अथ प्रतीयते तदा कथं ध्वनित्वादिना विभागः।
न च मध्यमे आन्तरालिकव्यङ्ग्यस्याप्राधान्याद् विभाग इति वाच्यम्। आन्तरालिकव्यङ्ग्यस्याप्राधान्येऽपि तस्याकिञ्चित्करत्वेन पार्यन्तिकचमत्कारापेक्षया-सर्वेषां ध्वनित्वसम्भवात्। अथा चित्रे गुणालङ्काराहितचमत्कारेण रसस्तिरोधीयत इति चेत्, न अनवबोधात्। तिरोधानं रसप्रतिबन्धो विलम्बेन प्रतिपत्तिर्वा। नाद्यः तदा काव्यत्वविरहापत्तेः। नान्त्यः गुणालङ्कारा हि रसोद्बोधकास्तथा च तज्ज्ञाने तदाहितचमत्कारानन्तरं रसोद्बोधो युज्यत कथं न ध्वनित्वम् ?—सा० सु० सि० पृ० 26-27.

रसबंध ही कविकर्म की अभिप्रेरणा है, अलंकारच्छटा दिखलाना नहीं,[1] अतः जहाँ रसबंध नहीं वहाँ काव्य भी नहीं।

इस प्रकार विश्वनाथ देव के अनुसार काव्य अखंडकल्प है, उत्तमादि कोटि-क्रम नहीं होता।

[ख] विश्वनाथ देव शब्दशक्ति की विवेचना भी अखंडवादी प्रत्यय के आधार पर करते हैं। इस दिशा में वे क्रमशः अपने प्रत्यय को संपुष्ट करते हैं :

(i) पहले तो वे 'शब्द' का अपारंपरिक लक्षण निर्धारित करते हैं। आकांक्षा और योग्यता से युक्त तथा तात्पर्य एवं आसत्ति से समन्वित शब्दजन्य अनुभव जो व्यक्त करे वह 'शब्द' है।[2] मनुष्य के अनुभव के अनगिनत स्रोत एवं आधार हैं। उनमें से परिणत ज्ञानरूप अनुभव 'शब्द' का क्षेत्र है, वैयाकरणों ने इसे पहले ही सिद्ध किया है। भर्तृहरि का सिद्धवाक्य भी है कि शब्द से परे कोई ज्ञान नहीं है। परिणत ज्ञानरूप अनुभव 'शब्द' के विषय हैं, लेकिन वैसे ही शब्द के, जो आकांक्षा और योग्यता से युक्त तथा तात्पर्य एवं आसत्ति से समन्वित हों। स्पष्ट है कि सिर्फ शब्दसमूह परिणत ज्ञानरूप अनुभव का स्रोत या आधार नहीं हो सकता।

(ii) पारंपरिक रूप में शब्द के तीन प्रकार वाचक, लक्षक तथा व्यंजक बतलाए गये हैं और तदनुकूल तीन अर्थ वाच्च, लक्ष्य तथा व्यंग्य। शाब्द-बोध में अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना तीन शब्दव्यापार कहे गये हैं। विश्वनाथ देव को इन धारणाओं से मौलिक मतभेद है। वे मानते हैं कि शब्द तो मूलतः एक ही है, शेष सभी उपाधिरूप व्यापार हैं।[3] अर्थात् वाचकादि शब्द, वाच्यादि अर्थ तथा अभिधादि व्यापार वस्तुतः उपाधिरूप हैं, मूल शब्द का रूपान्तर अथवा प्रकारातर नहीं होता; बल्कि अभिधादि व्यापार के कारण एक ही शब्द प्रसंगवशात् वाच्चार्थ लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ बतलाता है। विश्वनाथ देव का पक्ष यह है कि जैसे एक ही व्यक्ति अपने विविध व्यापार के कारण पिता, पुत्र, भाई, अफसर, नेता आदि

1. निष्पत्तयेऽर्थस्य काव्यक्रियारम्भः कवेः न त्वलङ्कारनिष्पत्ते।
च चालङ्कारनिष्पत्त्यै रसबन्धोद्यतः कवि॥ व्यक्तिविवेक, 2/75.

2. आकाङ्क्षायोग्यतायुक्तस्तात्पर्यादिसमन्वितः
शब्दानुभवकारी यः स शब्दः परिकीर्तितः॥—सा० सु० सि०, 2/8.

3. त्रिधेति। अयोपाधीनामेव त्रित्वं न तु उपाधेयस्य अन्यथा एकस्यैव गङ्गाशब्दस्य त्रिरूपत्वानुपपत्तेः। सा० सु० सि०, पृ० 32

के रूप में क्रियाशील होता है, वैसे ही शब्द उपाधिमूलक व्यपार के कारण वाचक, लक्षक तथा व्यंजक के रूप में क्रियाशील नजर आता है। अतः वाचकादि रूप-वैविध्य दरअसल 'शब्द' का प्रकार नहीं, बल्कि उपाधि या व्यापार का प्रकार है। यदि ऐसा न हो तो एक ही गंगा आदि शब्द के तीन प्रकार मानने होंगे और ऐसा है नहीं।

यहाँ 'शब्द' और उसके व्यापार में तात्त्विक अन्तर बतलाया गया कि शब्द अखंड सत्ता है, जबकि वाचकादि प्रकार, वाच्यादि अर्थप्रयोग तथा अभिधादि व्यापार उपाधि मात्र हैं।

(iii) अपनी इस धारणा को विश्वनाथदेव व्यंजना के प्रसंग में और स्पष्ट करते हैं। व्यंजना विरोधियों की ओर से यह सुझाव आया कि अभिधा, लक्षणा से अतिरिक्त व्यंजना व्यापार मानने की अपेक्षा लक्षणा, व्यंजना को भी अभिधा का ही व्यापार मान लेने में अधिक लाघव है, अतः व्यंजना एक अनावश्यक विस्तार है। व्यंजना विरोधियों की इस धारणा को विश्वनाथ देव भ्रांतिमूलक मानते हैं; क्योंकि उनके मत में अन्त में होने वाली अर्थप्रतीति को व्यंजना कहा भर जाता है, वह वस्तुतः कोई पृथक् अथवा अतिरिक्त पदार्थ है ही नहीं, इसलिए लाघव और गौरव का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अलावा एक अवधारणा यह भी है कि शब्द का एकमात्र व्यापार व्यंजना ही है। व्यंजना अन्ततः है क्या ? शब्दप्रतिपाद्य वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों की क्रमशः चरमप्रतीति का उत्पादक व्यापार ही तो ? अतः सर्वत्र व्यंजना-व्यापार ही क्यों न माना जाय ? अभिधा और लक्षणा का अन्तर्भाव भी इसमें हो जायेगा, जबकि शब्दशक्ति की स्वरूप-निर्मापिका के रूप में नैयायिक भी व्यंजना को स्वीकार करते ही हैं।[1]

व्यंजना का यही रूप अर्थात् 'शब्दानिरूपितार्थबोधजनकत्वम् व्यञ्जकत्वम्' विश्वनाथदेव का पक्ष प्रतीत होता है। प्रश्न हो सकता है कि यदि व्यंजना का यही स्वरूप मान्य हो कि शब्द-निरूपित अर्थ जो कुछ भी है, व्यंजना है तब शास्त्रों में अभिधा, लक्षणा आदि का व्यवहार क्यों होता है ? विश्वनाथ देव की दृष्टि मे

1. नहि पदार्थान्तरं किञ्चिद् व्यञ्जना नाम। किंतु चरममपरार्थोपस्थितिः शैत्यपावनत्वादीनां वा तस्या व्यञ्जनेति नाम स्थाप्यते। केचित्तु अननेदं नोक्तमपितु व्यञ्जितमिति प्रतीत्योर्वैलक्षण्यादभिधातो व्यञ्जना पृथक्। ...सा०सु०सि०, पृ० 67

यह प्रश्न बनता ही नहीं; क्योंकि अभिधादि शास्त्रव्यवहार शब्द की अर्थद्योतन प्रक्रिया का परिणाम है। शब्द की मूलप्रकृति ही है अर्थव्यंजना और जब अर्थव्यंजना संकेतग्रह के कारण होती है तब उसे अभिधा कहा जाता है और जब संकेतग्रह बाधित होने के कारण कोई अन्य संबद्ध अर्थव्यंजना होती है तब लक्षणा कहा जाता है। अतः अभिधादि त्रिविध शास्त्रव्यहार व्यावहारिकता के कारण होता है, तत्त्वतः नहीं।[1] शब्दवृत्ति संबन्धी विश्वनाथ देव की उपर्युक्त धारणा पूर्णतः अपारंपारिक है, साथ ही काव्यगत शब्दचिंतन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी।

(iv) व्यंजना ही शब्द की मूल प्रकृति है, इस अवधारणा का सही संदर्भ काव्य है। क्योंकि काव्य ही शब्द का चरम दोहन करता है, तथा उसकी समस्त संभावनाओं को समेटकर कवि अपने मनोजगत को अभिव्यक्त करता है। अतः कहा जा सकता है कि भौतिक सृष्टि तथा शब्दसृष्टि में विभेद का आधार यही है कि भौतिक सृष्टि तत्त्वों का व्यंजित रूप है तो शब्दसृष्टि 'शब्द' का व्यंजित रूप। विश्वनाथ देव सम्मत व्यंजना तथा अन्य व्यंजनावादियों के व्यंजना सम्बन्धी प्रत्यय में बुनियादि अन्तर यह है कि विश्वनाथ देव तो शब्द की मूलप्रकृति ही व्यंजना मानते हैं, जिसमें अभिधा (संकेतग्रहमूलक रूपगत अर्थ) तथा लक्षणा (संबद्ध अन्य अर्थ) का अन्तर्भाव है, जबकि अन्य आचार्य व्यंजना को एक पृथक् व्यापार मानते हैं, जहाँ अभिधा-लक्षणा तथा व्यंजना में आधार-आधेय सम्बन्ध होता है। इस दृष्टि से विश्वनाथ देव की धारणा काव्यभाषा की अधिक संश्लिष्ट व्याख्या है।

4·20·3. अपनी अखंडवादी धारणा के अनुकूल ही विश्वनाथ देव ने पारंपरिक काव्यशास्त्रीय मुद्दों को किंचित् पुनर्व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है :

(i) रसकी दृष्टि से काव्यगुण वे तीन ही मानते हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। यह रसध्वनिवादी धारणा है। गुण रसोत्कर्ष के हेतु हैं और अलंकार भी। दोनों में अन्तर बतलाते हुए वे कहते हैं कि गुण का रस से सम्बन्ध समानाधिकरण अर्थात् प्रत्यक्ष है और अलंकार का शब्दार्थ के माध्यम से।

---

1. कथं तर्हि शास्त्रे अभिधादिव्यवहार इति वाच्यं यदा सैव व्यञ्जना अनुशासनेन अनुशिष्यते तदाभिधेति व्यवह्रियते। यदा च मुख्यार्थबाधान्तरमन्यार्थप्रतिपत्तिस्तदा लक्षणेति व्यवहारः। यदा च बाधितार्थबोधिका तदा व्यञ्जनेत्याश्रयणात्।
-सा० सु० सिं० पृ० 68

मूल प्रश्न हैं रसोत्कर्ष होने का। रसोत्कर्ष का अर्थ है, रत्यादि से युक्त चैतन्य के आनन्दांश पर पड़े हुए आवरण का उच्छेद होना'—उत्कर्षश्च रत्याद्यवच्छिन्नस्य चैतन्यस्य आनन्दांशे आवरणस्य सम्यगुच्छेदः (सा० सु० सि०, पृ० 317-318)।[1] इस भग्नावरण चित्त 'रूप रसोत्कर्ष में गुण भी हेतु हैं और अलंकार भी। गुण को विश्वनाथ देव रसाश्रित मानते हैं और अलंकार को शब्दार्थाश्रित।

गुण को रसाश्रित माना जाय या वर्णादि संघटनाश्रित, यह काव्यशास्त्र का बहुत पुराना विवाद हैं। विश्वनाथ देव का श्रेय यह हैं कि वर्णादि संघटनाश्रित गुण मानने का वे पूर्ण निषेध नहीं करते, बात सिर्फ इतनी है कि वैसा मानने में अनावश्यक रूप से विस्तार का गौरव होगा, रसाश्रित मानने से आश्रयत्व का अनावश्यक विस्तार नहीं होता, अतः लाघव है[2]। यों उपचार से ही सही, गुण के व्यंजकरूप में वर्ण, समास और रचना उन्हें स्वीकार है ही—वर्णाः समासो, रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः (सा० सु० सि० पृ० 324)। और इसीलिए वे वामन के दस-दस शब्दार्थगुणों के भी कायल हैं। फलतः वे मम्मट की इस धारणा से सहमत नहीं कि वामनसम्मत शब्दार्थगुणों का अन्तर्भाव रसाश्रित गुणत्रय—माधुर्य, ओज और प्रसाद में हो जाता है।[3]

वस्तुतः विश्वनाथ देव के सामने समस्या यह रही होगी कि रसोत्कर्ष रूप गुणधारणा (रसध्वनिसरणि) और शब्दार्थधर्मरूप गुणधारणा (दंडी, वामन की सरणि) में संश्लेष कैसे किया जाय? वे कोई संश्लेष तो नहीं प्रस्तुत कर सके; किंतु रसोत्कर्ष के संदर्भ में समानाधिकरण से माधुर्य, ओज और प्रसाद तथा गौणरूप रूप में दंडी, वामन के शब्दार्थधर्मी गुणों के महत्त्व को स्वीकार कर लेते हैं। निश्चय ही यह कोई समाधान नहीं है, किंतु अतिवाद से बेहतर स्थिति अवश्य है।

---

1. ध्यातव्य है कि विश्वनाथ देव के परवर्ती आचार्य पंडितराज जगन्नाथ ने भी साधारणीकरण का अर्थ भग्नावरणचित्त माना है। विश्वनाथ देव 'भग्नावरणचित्त' को रसोत्कर्ष किंवा काव्योत्कर्षमात्र का स्वरूप मानते हैं।
2. रसापेक्षया वर्णाः समासो रचनाश्चातिप्रभूततरा इति लाघवसहकृतप्रमाणेन माधुर्यादीनां रसवृत्तित्वकल्पनात्। सा० सु० सि०, पृ० 318
3. यत्तु कैश्चिदुक्तम्—केचिदन्तर्भावन्त्येष्विति तन्न। शब्दार्थधर्माणां गुणानां रसधर्मेषु तेष्वन्तर्भावाभावात्। सा० सु० सि० पृ० 357।

(ii) अलंकारस्वरूप की व्याख्या में स्पष्टलक्ष्यता निश्चय ही विश्वनाथ देव के अतिरिक्त श्रेय का प्रमाण है। शब्दार्थालंकार क्रमशः शब्दाश्रित तथा अर्थाश्रित होते हैं, ऐसा तो प्रत्येक आचार्य ने कहा है; लेकिन शब्दाश्रित तथा अर्थाश्रित होने का तात्पर्य क्या है, इसे सिर्फ विश्वनाथ देव स्पष्ट करते हैं।

शब्द की शोभा बढ़ाकर रसोत्कर्ष में योगदान, शब्दालंकारत्व है और अर्थ-सौंदर्य के माध्यम से रसोपकार अर्थालंकारत्व।[1] अलंकारों के पारस्परिक सम्बन्ध से उत्पन्न चारुत्वप्रकर्ष संसृष्टि और संङ्कर का विषय है।[2] इस अवधारणा से कई बातें निकलती हैं :

—अलंकार मूलतः शब्द और अर्थ के धर्म हैं,
—शब्दसौंदर्य के माध्यम से रसोपकार शब्दालंकारत्व है,
—अर्थसौंदर्य के माध्यम से रसोपकार अर्थालंकारत्व है,
—शब्द और अर्थालंकार के अन्योन्य संबंध से उत्पन्न अतिशय चमत्कार मिश्रालंकारत्व है, तथा
—अलंकारत्व की सार्थकता रसोपकारक होने में है।

अनुप्रासादि शब्दालंकार पहले शब्द को चमत्कारपूर्ण बनाते हैं, वसे ही उपमादि अर्थालंकार पहले अर्थ में चारुत्व लाते हैं। अलंकृत शब्द तथा अर्थ का चारुत्व अथवा चमत्कार रसोत्कर्ष का हेतु है, अर्थात् अलंकारों से रसोत्कर्ष, विश्वनाथदेव के मत में संक्रमित चमत्कार या चारुत्व का फलरूप है। एकाधिक शब्दालंकार, अर्थालंकार अथवा शब्द तथा अर्थालंकार जब अन्योन्यसंबंध से युक्त होते हैं, तब विशेष सौंदर्य उत्पन्न होता है; यह चारुत्वप्रकर्ष जब रसोत्कर्ष में संक्रमित होता है, तब 'भग्नावरण चित्त' की प्रक्रिया भी उतनी ही तीव्र, गहन एवं व्यापक होती है। संसृष्टि में चारुत्वप्रकर्ष की धारणा मूलतः भोज की है, किंतु प्रक्रिया तथा स्पष्ट-लक्ष्यता विश्वनाथदेव की।

निष्कर्ष

4·21·1. काव्यगत शब्दचिंतन के विकास की तृतीय प्रावस्था में कई महत्त्वपूर्ण समीकरण प्राप्त होते हैं। जैसा कि प्रारंभ में ही हमने संकेत दिया है कि इस

---

1. तत्र शब्दालङ्कारत्वं शब्दमङ्कृत्य रसोपकारकत्वम्। 7/165, अर्थालङ्कारत्व-मर्थमुपकृत्य रसोपकारकत्वम्। 8/191 सा० सु० सिं०, क्रमशः, 359, 397।
2. एवं निरूपितेष्वलङ्कारेषु तेषामन्योन्यसम्बन्धे चारुत्वप्रकर्षदर्शनात्संसृष्टिसङ्क-रादीनां पृथगलङ्कारत्वम्। —सा० सु० सिं०, पृ० 529।

प्रावस्था की केन्द्रीय समस्या है--काव्यसंदर्भ में शब्दव्यापार और उसके लक्ष्य अथवा इतिकर्त्तव्यता का निर्धारण। उपलब्ध समीकरण उपर्युक्त केन्द्रीय समस्या के विविध पक्षों तथा प्रकारान्तरों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उन समीकरणों के साररूप निम्नांकित हैं :

क. रससमर्पणक्षम शब्द > व्यंजकत्व व्यापार > ध्वनि : आनदवर्धन

ख. शब्द > गुंफन > काव्यपाक : राजशेखर

ग. शब्द > कविव्यापार (प्रत्यक्षकल्प संवेदन) > आस्वाद : भट्टतौत

घ. अभिधा > भावना > भोगीकरण
अभिधा > भावकत्व > भोजकत्व } : भट्टनायक

ङ. बंध (शब्दार्थ-साहित्यविच्छित्ति) > कविव्यापार (मनः संवादोहृदय-संवेदनं स्वानुभवगोचरतया प्रतिभासः) > वक्रोक्ति (सालंकार काव्यता) : कुंतक

च. शब्द > अभिधाव्यापार (रस, गुण, अलंकार, उक्ति का विभावादि रूप) > रस : अभिनवगुप्त

छ. रत्यादि प्रतिपादक शब्द > तात्पर्य > रस : धनिक और धनंजय

ज. शब्दार्थव्यापार (संघटना, विभावादि निबंधन, अर्थान्तरप्रक्रिया) > अनुमान > रस : महिमभट्ट

झ. सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य < संसृष्ट वाक्यावस्था < उक्ति : भोजराज

ञ. शब्द > औचित्य > चमत्कार : क्षेमेंद्र

ट. कविविवक्षा > (शब्द—गोप्यमानता--अर्थस्वरूप, तत्त्वान्तरण) → कविविवक्षा : रुय्यक

ठ. शब्द > संदर्भ वैविध्य (गुणालंकारादि) > काव्यता : अजितसेन

ड. स्फुरणा (शब्द, अर्थ, शब्दार्थ) > गुणालंकार विलास > काव्यचारुत्व → रस : विद्यानाथ

ढ. वागर्थ (शब्द) > चमत्कार (गुण, रीति आदि सप्तांगसंगत चारुत्व) → काव्य : विश्वेश्वर

ण. शब्द > व्यंजना (वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्यार्थ के अन्तर्भावसहित) → शब्दसर्जना : विश्वनाथदेव

त. प्रतिपादक शब्द > भावना > रमणीयता : पंडितराज

4·21·2. उपर्युक्त समीकरणों की व्याख्या तत् तत् प्रसंगों में की गयी है। स्पष्ट है कि आचार्यों की विवेचनाओं का नाभिक शब्द अथवा शब्दव्यापार है। काव्य

मूलतः शब्द है—शब्दसर्जना इसका स्पष्ट प्रतिपादन विश्वनाथदेव ने किया। शब्द से शब्दसर्जना की विकासयात्रा अर्थात् काव्यता-स्वरूपनिर्णय संबंधी विभिन्न दृष्टियाँ ही अनेक मत-मतान्तरों की हेतु रही है। आनंदवर्धन का रससमर्पणक्षम-शब्द पंडितराज तक आते-आते प्रतिपादक शब्द बन गया हैं, जो सांप्रत्ययिक विकास का निश्चित प्रमाण है। भोज जब रस की व्याख्या सम्यक् शब्दार्थ-साहित्य की परिणति के रूप में कर रहे थे, तो वे काव्यसंदर्भ में रसवादी अतिरेक का विनम्र प्रत्याख्यान ही करते हैं। विजयवर्णि, विश्वेश्वर आदि दाक्षिणात्य आचार्य 'सप्तांगसंगतं काव्यं, की बात करते हैं। काव्यभाषा तथा समान्य व्यवहार की भाषा में सुनिश्चित अन्तर निर्धारित किये गये हैं—जिन्हें विश्वेश्वर ने चमत्कार के माध्यम से, तो पंडितराज ने रमणीयता के माध्यम से, कुंतक ने साहित्यविच्छित्ति के माध्यम से तो भोज ने सम्यक् साहित्य के माध्यम से रेखांकित किया है। इसीप्रकार शब्द व्यापार को आचार्यों ने व्यंजकत्व व्यापार, गुंफन, कविव्यापार, भावना, अभिधा-व्यापार, तात्पर्य व्यापार, अनुमान व्यापार, व्यंजना व्यापार, संसृष्ट वाक्यावस्था औचित्यनिवेश, अर्थस्वरूप तत्त्वान्तरण आदि कहा है, जो वस्तुतः काव्य में शब्द-व्यापार के विशिष्ट रूप की पहचान की ही विविध दृष्टियाँ हैं। शब्द और शब्द-व्यापार के मूल्यपक्ष की, आचार्यों ने ध्वनि, काव्यपाक, आस्वाद, भोजकत्व, वक्रोक्ति, रस, उक्ति, चमत्कार, सर्जना, रमणीयता आदि के रूप में व्याख्या की है। ध्यातव्य है कि गुण, अलंकार, रीति आदि काव्यशास्त्रीय मुद्दों की विवेचना भी काव्यगत शब्दव्यापार के विशिष्ट गुणात्मक पक्ष के संदर्भ में ही की गयी है, विशेषकर दाक्षिणात्य एवं परवर्ती आचार्य इस संबंध में बहुत ही स्पष्ट हैं। कुलमिलाकर आचार्यों के सारे काव्यशास्त्रीय चिंतन वस्तुतः काव्यसंरचना (रूप एवं अन्तस्) के विविधसंदर्भीय विश्लेषण के ही भगीरथ प्रयत्न हैं।

●

आधुनिक भारतीय भाषाओं का मध्यकाल

5·1·1. संस्कृत काव्यचिंतन को सर्वजनसुलभ बनाने का कार्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में लगभग 11 वीं-12 वीं शताब्दी से ही शुरु हो गया था। हम देख आए हैं कि तमिल में काव्यचिंतन की एक निजी परंपरा थी—संस्कृत काव्यशास्त्र से पृथक्, तोलकाप्पियम् की परंपरा; किन्तु तमिल का परवर्ती काव्यचिंतन भी संस्कृत साहित्यशास्त्र से पूर्णतः आक्रांत रहा। इसकी शुरुआत 10 वीं शदी में 'दण्डि अलंकारम्' से होती है, जो स्पष्ट ही आचार्य दंडी के काव्यादर्श पर आधारित है। डॉ० न० व० राजगोपालन के अनुसार 10वीं शती के बाद तोलकाप्पियम् की चिंतन-परंपरा क्रमशः क्षीण होती गयी।[1]

5·1·2. मध्यकालीन कन्नड में कुल नौ काव्यशास्त्रीय ग्रंथ (रीतिग्रंथ) उपलब्ध हैं।[2] किवराजमार्ग (9वीं शती), काव्यावलोकन (12वीं शती), उदयादित्यालंकार (12वीं शती) श्रृंगार रत्नाकर (1200 ई०), रसरत्नाकर (13वीं शती), शारदा विलास (13वीं शती), अलंकार रस संग्रह (1600 ई०), अप्रतिमवीरचरित (17वीं शती) और नरपति चरित (19वीं शती)। इनके निरूपण के आधार संस्कृत ग्रंथ ही हैं; यत्र-तत्र कन्नड की निजी आवश्यकताओं के अनुरूप स्थापनाओं में किंचित् परिवर्तन भी किये गये हैं। जैसे कविराजमार्ग के अनुसार पलगन्नड अर्थात् प्राचीन कन्नड के कुछ शब्द साहित्यिक भाषा में उपादेय नहीं हैं, वैसे ही कन्नड और संस्कृत का स्वेच्छापूर्वक मिश्रण भी दोष है। इन्हें वैरस्यकारी कहा गया। एकाधिक उल्लेखों का ऐतिहासिक महत्त्व भी है। जैसे 9 वीं शताब्दी में ही कविराजमार्ग 'नवविध विकल्पया रसमार्गम्' की धारणा स्थिर करता है, जबकि संस्कृत काव्यचिंतन में भी उस समय तक रससिद्धांत स्थापित नहीं हो सका था। इसीप्रकार अलंकारविवेचन के अंत में 'ध्वनि' अलंकार की चर्चा भी चौंका देने वाली है। श्री ती० नं० श्रीकंठय्या ने इसमें शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की संभावना मानी है। काव्यावलोकन में नागवर्मा

---

1. तमिल और हिंदी के काव्यशास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 44।
2. विशेष विवरण के लिए देखें : 'कन्नड के काव्यशास्त्रीय ग्रंथ' शीर्षक निबंध, डॉ० वि० कृष्णस्वामि अय्यंगर, मानसी, मैसूर वि० वि० का शोधपत्र, सन् 1965 ई०।

रीति को काव्यशरीर मानते हैं और रस को काव्यात्मा। यह भी चौंकाने वाला उल्लेख है; क्योंकि नागवर्मा विश्वनाथ से प्राचीन हैं। इसी प्रकार अन्य उल्लेख भी हैं।

5·1·3. मराठी की स्थिति थोड़ी भिन्न है। संतकवियों ने एक पृथक् काव्यशास्त्र के निर्माण का प्रयास किया है। डॉ० श्रीधर व्यंकटेश केतकर के अनुसार संतकवियों की रचनाओं में संस्कृत-साहित्यशास्त्र की परंपरा से भिन्न अनेक नवीन काव्यतत्त्वों का प्रतिपादन है।[1] डॉ० मा० गो० देशमुख का स्पष्ट मत है कि "संतकवियों की रचनाओं की पृष्ठभूमि में संस्कृत-साहित्यशास्त्र की अपेक्षा प्रत्येक विषय में अधिक परिणत और बहुलांश में स्वतंत्र साहित्यशास्त्र की सुनिश्चित प्रतीति होती है।"[2] डॉ० वाटवे इसे 'अधिक से अधिक संतकवियों के पारमार्थिक काव्य का साहित्य-शास्त्र' मानते हैं।[3] जो भी हो, मराठी संतों की यह प्रवृत्ति मध्यकालीन हिंदी भक्तकवियों की प्रवृत्ति से मिलती-जुलती है; उन्होंने भी अपने काव्यसंप्रत्यय को अनौपचारिक रूप में प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए संतकवि रामदास की अवधारणा द्रष्टव्य है :

"कवित्व असावें निर्मल। कवित्व असावें सरल। कवित्व असावें प्रांजल। अन्वयाचें 1/36॥ मृदु मंजुल कोमल। भव्य अद्भुत विशाल। गौल्प माधुर्य रसाल। भक्तिरसे ॥40॥ "जेणें अनुताप उपजे। जेणें लौकिक लाजे। जेणें ज्ञान उपजे। या नाव कवित्व ॥48॥ जेणें देहबुद्धि तुटे॥ जेणें भवसिंधु आटे। जेणें भग-वंत प्रगटे। या नाव कवित्व ॥50॥ (दशक 14, समास 3)[4]

अर्थात् काव्य को निर्मल (दोषरहित), सरल (सहज अर्थबोध), प्रांजल (प्रसादपूर्ण, उदात्त) होना चाहिए। (उसका भाषिक रूप) मृदु, कोमल और सुन्दर हो तथा (अर्थतत्त्व) भव्य, उदात्त और विराट हो। मधुर रस से समन्वित हो। (वह काव्य तभी सफल है, जब उससे) अनुताप (ईश्वरप्राप्ति की आग) उत्पन्न हो, जिससे लौकिक वासनाओं (देहाभिमान) का नाश हो और ईश्वरस्वरूप की प्राप्ति हो। वही काव्य है।

---

1. डॉ० मनोहर काले कृत 'आधुनिक हिंदी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन' से उद्धृत, पृ० 645।
2. उपरिवत्, पृ० 646।
3. उपरिवत्, पृ० 646।
4. उपरिवत्, पृ० 647।

जाहिर है कि संतकवियों की दृष्टि में काव्य की इतिकर्तव्यता ईश्वरप्राप्ति के साधन के रूप में है। सामाजिक के ब्रह्मानंदसहोदर रूप रसास्वाद संबंधी काव्यशास्त्रियों की अवधारणा और ईश्वरप्राप्ति संबंधी संतों की अवधारणा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं प्रतीत होता। दृष्टिभेद अवश्य है और तब प्रक्रियाभेद भी होगा ही।

5·1·4. बंगा में 18 वीं शती तक किसी प्रौढ़ काव्यशास्त्रीय चिंतन का विकास नहीं हो सका था। वैसे वहाँ 16 वीं शती के प्रारंभ में वैष्णव अलंकारिकों ने, पहले संस्कृत में और फिर बंगला में साहित्यालोचन का समारंभ अवश्य किया था; किंतु उनकी मूल चेतना 'धर्मचेतना' थी, फलत: वे अधिक-से-अधिक भक्तिरस की ही व्याख्या कर सके।[1] कृष्णदास कविराज ने चैतन्य चारितामृत में, रूपगोस्वामी के 'हरिभक्तिरसामृतसिंधु' को उपजीव्य बनाकर भक्तिरस का विस्तृत निरूपण किया। वृंदावनदास रचित 'चैतन्य भागवत' और कृष्णदास बाबा जी रचित 'श्रीभक्तमाल' आदि ग्रंथों में भी भक्तिरस के सूत्रों की व्याख्या मिलती है, जो मूलत: वैष्णव अलंकारिकों की विषयवस्तु का ही बंगला भाषा में प्रस्तुतीकरण है।[2]

5·1·5. स्पष्टत: जिसप्रकार हिंदी में रीतिग्रंथों के रूप में कव्यशास्त्रीय चिंतन का विकास एवं विस्तार मिलता है, वैसा अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं। रीति-कालीन काव्यचिंतन के पूर्व भी, अधिकांश भक्तकवियों में काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं के प्रति एक सतर्क मोह तथा आकर्षण रहा है। स्वयंभू, विद्यापति, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, केशवदास, नंददास आदि में वह सतर्क मोह तथा आकर्षण देखा जा सकता है। इनमें केशवदास तथा नंददास ने तो बाज़ाप्ता रीतिग्रंथ ही लिखे, लेकिन रीतिग्रंथकार न होते हुए भी स्वयंभू और तुलसीदास कम मुखर नहीं हैं।

और जहाँतक रीतिग्रंथकारों का प्रश्न है, उन्होंने तो संस्कृत काव्यचिंतन की प्राय: समस्त उपलब्धियों को 'भाषा' में प्रस्तुत कर दिया है, यद्यपि यह भी सही है कि रीति-आचार्यों का काव्यशास्त्रीय विमर्श किसी प्रकांड साहित्यिक चिंतन के रूप में नहीं, बल्कि कविशिक्षाशास्त्रीय संग्राहकविमर्श के रूप में प्रस्तुत हुआ

---

7. डॉ० इंद्रनाथ चौधुरी, आधुनिक हिंदी तथा बंगला काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन, रंजन प्रकाशन, आगरा, 1967, पृ० 44-45।

8. पूर्ववत्, पृ० 46।

है ।[1] परिणामतः वे भाषा अथवा किसी अन्य संदर्भ में काव्य के व्यवच्छेदक तत्त्व की तलाश के बजाय परंपराप्राप्त चिंतनों के आधार पर काव्यस्वरूप के विमर्श में अधिक रुचि लेते हैं। फिर भी काव्यगत शब्दचिंतन की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र अवश्य उपलब्ध होते हैं। आगे इसी संदर्भ से कवियों तथा रीति आचार्यों के काव्यचिंतन, विशेषतः शब्द की काव्यगत भूमिका संबधी चिंतन का अध्ययन प्रस्तावित है।

स्वयंभू

5·2·1. स्वयंभू ऐसे कवि हैं जिन्हें भरत नाट्यशास्त्र तथा भामह, दंडी के अलंकार-ग्रंथों का स्पष्ट ज्ञान था, तथा जो समस्त काव्यशास्त्रीय परंपराओं से गहरे परिचित ही नहीं, गंभीर रुचि रखने वाले भी थे। वे अपने को कुकवि सिद्ध करते हुए कहते हैं कि मैंने व्याकरण को न जाना, न ही वृत्तियों और सूत्रों की व्याख्या की। प्रत्याहारों में भी मैंने संतोष प्राप्त नहीं किया। संधियों के ऊपर मेरी बुद्धि स्थिर नहीं। सात विभक्तियाँ भी नहीं सुनीं और न छह प्रकार की समास-प्रवृत्तियाँ ही। छह कारक और दस लकार नहीं सुने। बीस उपसर्ग और बहुत से प्रत्यय भी नहीं सुने। बलाबल धातु, निपातगण, लिंग, उणादि वाक्य और वचन भी नहीं सुने। पाँच महाकाव्य नहीं सुने, और न भरत का सब लक्षणों से युक्त गेय सुना। पिंगल-शास्त्र के प्रस्तार को नहीं समझा और न दंडी-भामह के अलंकार हो जाने; तो भी मैं अपना व्यवसाय नहीं छोड़ूँगा, बल्कि रड्डबद्ध शैली में कविता करता हूँ। संप्राप्त सामान्य भाषा में कोई आगम युक्ति को गढ़ता हूँ। ग्राम्यभाषा के प्रयोगों से रहित मेरी भाषा सुभाषित हो।"[2]

---

1. विशेष विवरण के लिए देखें : लेखक का 'रीति साहित्येतिहास का नवीन संदर्भ : रीति-साहित्य को बिहार की देन 'शीर्षक ग्रंथ, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1972 ई०।

2. वुहयण सयम्भु पईं विण्णवइ। मईं सरिसउ अण्णु णाहिँ कुकई॥
वायरणु कयावि ण जाणियउ। णउ वित्ति-सुत्तु वक्खाणियउ॥
णउ पच्चाहारहों तत्ति किय। णउ संधिहेँ उप्पारि बुद्धि थिय॥
णउ णिसुअउ सत्त विहत्तियउ। छव्विहउ समास-पउत्तियउ॥
छक्कारय दस लयार ण सुय। वीसोवसग्ग पच्चय बहुय॥
ण वलावल धातु णिवाय गणु। णउ लिङ्गु उणाइ वक्कु वयणु॥
ण णिसुणिउ पञ्च-महाय-कव्वु। णउ भरहु गेउ लक्खणु विसव्वु॥
णउ बुज्झिउ पिङ्गल-पत्थारु। णउ भम्मह-दण्डि अलङ्कारु॥
ववसाउ तो विणउ परिहरमि। वरि रड्डावद्धु कव्वु करमि॥
सामण्ण भास छुडु सावडउ। छुडु आगम-जुत्ति का वि छडउ॥
छुडु होन्तु सहासिय-वयनइँ। गामिल्ल-भास-परिहरणाइँ॥
—पउमचरिउ, 5/3, ज्ञानपीठ प्रकाशन, भाग-1, पृ० 8।

स्वयंभू के उपर्युक्त आत्मगोपन में भी एक सुनिश्चित क्रम है :

(i) वृत्ति, संधि, धातु, आदि व्याकरण भाषारूप,

(ii) भरतसम्मत 36 लक्षणों तथा दंडी-भामहसम्मत गुणालंकार से युक्त काव्यभाषा,

(iii) काव्य की लयात्मक संरचना अर्थात् छंदः शास्त्र,

(iv) कविकर्म,

(v) लोकसिद्धि के अनुकूल भाषा में, ग्राम्य प्रयोगों से रहित सूक्ति काव्य। उपर्युक्त क्रम में भाषाशुद्धि के लिए व्याकरण, भाषा-अलंकृति के लिए काव्यशास्त्र तथा काव्याभिव्यक्ति के लिए कविकर्म की दुर्निवारता स्पष्टतः व्यंजित है। कविकर्म के लिए सिर्फ भाषासंस्कार ही काफी नहीं, भाषा की अलंकृति भी जरूरी है। स्वयंभू मानते हैं कि व्याकरण भाषा की पूर्ण सामर्थ्य एवं संभावनाओं की व्याख्या नहीं कर सकता। स्थिति यह है कि कवियों की वाणी, जो भाषा की सामर्थ्य एवं संभावनाओं का पूर्ण दोहन करती है, नित्यप्रति व्याकरण के लिए नयी चुनौतियाँ उपस्थित करती है और परिणामतः व्याकरण का विस्तार होता है।[1]

5·2·2. स्पष्ट है कि प्रतिभाप्रेरित कविकर्म की ग्राम्य प्रयोगों से रहित सूक्तिसर्जना को स्वयंभू काव्य मानते हैं। अपनी इस धारणा की अनेकविध व्याख्या उन्होंने की है :

(क) रामकथा-सरित का परिचय देते हुए वे कहते हैं—

अक्खर-वास-जलोह-मनोहर। सु-अलङ्कार–छन्द-मच्छोहर॥
दीह समास-पवाहावङ्किय। सक्कय-पायय-पुलिणालङ्किय॥
देसीभासा-उभय-तड्डुज्जल। कवि दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल॥
अत्थ-बहल-कल्लोलानिट्ठिय। आसासय-समतूह परिट्ठिय॥
एह रामकह-सरि सोहन्ती।·········

पउमचरिउ, 1/2, भाग-1, पृ० 6

रामकथा-सरित अक्षरों के विस्तार के जलसमूह से सुन्दर है। सदलंकृति और छन्द ही मछलियाँ हैं। दीर्घ सामासिक भाषा वक्र जलप्रवाह की तरह हैं। संस्कृत और प्राकृत से उक्त सरिता के दोनों किनारे अलंकृत हैं, जिसके दोनों तट देशीभाषा से

1. विवरिज्जन्तु कईहिं, वायरनु गन्थु जित वड्ढई॥

—पउमचरिउ, भाग–1, पृ० 32।

उज्ज्वल हैं। कवियों के लिए भी दुष्कर, घने शब्दरूपी शिलाएँ भी हैं और अर्थ-प्राचुर्य रूपी तरंगें भी। वह अश्वासकों (सर्गों) रूपी तीर्थों से युक्त है।

सुभाषित अथवा सूक्तिरूप काव्य की व्याख्या में स्वयंभू ने काव्यभाषिकी का पूरा खाका प्रस्तुत कर दिया है—

(i) अक्षरों का परस्पर संश्लिष्ट—संपृक्त प्रसार,
(ii) सदलंकृति
(iii) लयात्मकता
(iv) सामासिक वक्रता
(v) सघन शब्दयोजना
(vi) अर्थगांभीर्य एवं अर्थ-आनन्त्य

काव्यात्मक शब्दविधान की इतनी समर्थ व्याख्या वस्तुत: विरल है। ध्यातव्य है कि स्वयंभू ने यद्यपि 'तीर्थों' का उल्लेख करके काव्यगत विषय की उदात्तता की ओर संकेत किया है; किन्तु काव्यसर्जना विषयगत नहीं शब्दगत होती है, इसका अत्यन्त स्पष्ट प्रतिपादन भी वे करते हैं।

(ख) एक अन्य प्रसंग में कविता-वनिता की सुख्यात रूपक-योजना के माध्यम से स्वयंभू ने पुन: काव्य की भाषिक संरचना को स्पष्ट किया है :

सुकइ-कहव्व सु-संधि सु-सन्धिय।
सु-पय सु-वयण सु-सद्द, स-वद्दिय"

—पउमचरिउ, 38/3, भाग-2, पृ० 284।

सीता के सौंदर्यवर्णन का प्रसंग है। वे सुकवि की कथा की तरह सुन्दर संधियों से जुड़ी हुई थीं, सुन्दर पद (चरण और पद), सुवचन (सुन्दर बोली और वचन), सुशब्द (सुन्दर शब्दों वाली और सुबद्ध) थीं। सीता की बात छोड़ दीजिए, तो कविकर्म से सृजित कथा की तकनीकी एवं भाषिक संरचना का अच्छा संकेत है। कथा का संधियों से युक्त होना उसका तकनीकी पक्ष है। भाषिक संरचना के संबंध में चार संकेत हैं—

(i) सुन्दर पद : चारु रीतिरचना
(ii) सुवचन : चारु अर्थयोजना
(iii) सुशब्द : सौशब्द्य तथा
(iv) सुबद्ध : बंधसौंदर्य।

(ग) स्वयंभू ने काव्य तथा काव्यतत्त्वों को उपमान के रूप में बड़े सटीक प्रयोग किये हैं और तथा प्रसंगौचित्य के कारण वैसे प्रयोग उनके दृष्टिकोण एवं धारणा के पूर्ण स्पष्टीकरण में सक्षम होते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

(i) मल्लयुद्ध में भरत और बाहुबलि भिड़ गये मानो सुबन्त-तिङन्त शब्द आपस में भिड़ गये हों :

ओवग्गिय पुणु क्रिय वाहु-सद्द।
णं भिडिय सुवन्त-तियन्त सद्द ॥

पउमचरिउ, 4/11, भाग-1 पृ० 72

सुबंत-तिङन्त शब्दों का मल्लों की तरह गुंथ जाने के प्रसंगोद्भूत संकेत हैं—शब्दगुंफन तथा परस्परस्पर्द्धित्व।

(ii) णिय-णिय थाणेहि णिवद्ध मञ्च।
महकवि कव्वालाव व सु-सच्च। पउमचरिउ, 7/2, भाग-1, पृ० 116।

राजसभा में स्थान-स्थान पर मंच बने थे, जो महाकवि के काव्यवचन की तरह सुनिर्मित थे। इसका प्रसंगोद्भूत संकेत है—अलंकृत पदसंघटना।

(iii) णिउण-समासिय सुकइ-पचाइं व ।।—पउमचरिउ, 14/13, भाग-1, पृ० 230।

जल में गिरते यंत्रों का वर्णनप्रसंग है। वे यंत्र सुकवि के पदों की तरह निपुण समास (सुंदर समास, दूसरे पक्ष में काठ की कलशियों से रचित) हैं। इसका प्रसंगोद्भूत संकेत है काव्य में सामासिक वक्रता।

(iv) 'किं कन्तएँ णेह-विहूणियएँ। किं कित्तिए वइरिहिं जाणियएँ ॥
किं सु-कहएँ णिरलङ्कारियए। किं धीयएँ लञ्छण-गारियएँ ॥

—पउमचरिउ, 19/5, भाग–1, पृ० 308

कोई राजा क्रुद्ध होकर अपने मंत्री से कह रहा है कि, स्नेहहीन पत्नी से क्या? शत्रु की कीर्ति से क्या? अलंकारविहीन काव्य (सुकथा) से क्या? कलंक लगाने वाली पुत्री से क्या?"। स्पष्ट है कि स्वयंभू की दृष्टि में अनलंकृत काव्य प्रीति-रहित पत्नी, शत्रु की कीर्ति तथा कलंकिनी पुत्री की तरह अनुतापकारी होता है। अतः प्रसंगोद्भूत संकेत है—सदलंकृति।

(v) दिण्णु विलेवणु दिण्णइँ देवङ्गइँ वत्थइँ।
सालङ्करइँ णं सुकइ–कियइँ सुईसत्थइँ"–पउमचरिउ, 26/19, भाग—2, पृ० 106

(स्नानादि के बाद राम और लक्ष्मण को) दिव्य विलेपनसामग्री तथा वस्त्र

दिये गये। दिव्यवस्त्र ऐसे थे मानो कवि द्वारा रचे गये सालंकार श्रुतिशास्त्र हों। तात्पर्य यह है कि श्रुतिशास्त्र भी सदलंकृत होकर दिव्य काव्यसौंदर्य अर्जित कर सकते हैं, अर्थात् सदलंकृति से शास्त्रगत शुष्कता नष्ट हो जाती है। प्रसंगोद्भूत संकेत है—शास्त्र तथा काव्य के व्यवच्छेदक तत्त्व के रूप में सदलंकृति; सालंकार काव्यता संकेत भी लिया जा सकता है।

(vi) णिच्छिद्दइँ कइ-कव्व-पचाइँ व। --पउमचरिउ, 26/17, भाग 2, पृ० 108।

यह भी पूर्वोद्धरण के क्रम में दिव्यवस्त्र की वर्णना का प्रसंग है। वस्त्र कवि द्वारा रचित पदों की तरह, छिद्र से रहित थे। प्रसंगोद्भूत संकेत है--दोषहान।

(vii) तें पढम भिडन्तें भग्गु बलु।

णावइ अवसद्धें कव्व-दलु॥--पउमचरिउ, 68/9, भाग 4, पृ० 196।

पहली ही भिड़न्त में शत्रु की सजी-सजाई सेना भाग चली, जैसे अपशब्द से काव्यबंध (का सारा सौंदर्य) बिखर जाता है। स्पष्ट है कि स्वयंभू ग्राम्यप्रयोगों को काव्यवैरस्य का मुख्यहेतु मानते हैं।

(viii) दिण्णइँ पुणु तिम्मणइँ मणिट्ठइँ।

अहिनव-कइ-वयणा इव मिट्ठइँ॥

—पउमचरिउ, 34/13, भाग 2, पृ० 230।

भोजन का प्रसंग हैं। अनेक भोज्य पदार्थों के साथ राम को मनपसंद कढ़ी दी गयी, जो अभिनव कवि के वचनों के समान मीठी थी। विद्यापति सम्मत 'देसिल बयणा सब जन मिट्ठा' 'का बीजरूप यहाँ देखा जा सकता है। प्रसंगोद्भूत संकेत है—माधुर्य गुण।

(ix) महु-कव्व-णिवन्धु व सद्द गहिरू। पउमचरिउ, 69/3, भाग 4, पृ० 204।

समुद्र का वर्णन प्रसंगप्राप्त है। सागर वैसा ही गंभीर था, जैसा महाकवियों की रचना शब्दों से गंभीर होती है। प्रसंगोद्भूत संकेत है—शब्दप्रौढ़ि।

(x) पसरइ सु-कइहें कव्व जिह, मेह-जालु गयणङ्गणे तावेंहिं"

--पउमचरिउ 28/1, भाग 2, पृ० 128

मेघजाल, सुकवि के काव्य की तरह आकाश में फैलने लगता है। प्रसंगोद्भूत संकेत है—प्रसाद गुण, वैसे कवि के यशः प्रसार का सकेत भी लिया जा सकता है।

(xi) कव्व-वन्धो व्व वहु-वण्ण-वण्णब्भुओ। पउमचरिउ, 66/8, भाग 4, पृ० 158।

रावण का अर्द्धचंद्र बाण का वर्णन प्रसंगप्राप्त है। बाण, काव्यबंध की तरह बहुवर्णक्रम से युक्त था। प्रसंगोद्भूत संकेत है—सुन्दर वर्णयोजना अथवा शय्या।

(xii) विरइउ एम वू हु णिच्छिद्दउ।

णं सु-कइन्द-कव्वु घण सद्दउ"–पउमचरिउ, 67/13, भाग 4, पृ. 182।

सुग्रीव ने अपनी सेना की व्यूहरचना ऐसी की कि उसमें सुराख न मिल सके मानो वह सघन शब्दों से रचित किसी सुकवि का काव्य हो। प्रसंगोद्भूत संकेत है–निर्दोष प्रगाढ़बंध।

(xiii) महकइ-कव्वेहिँ व सुघडिएहिँ। पउमचरिउ, 69/2, भाग 4 पृ० 202

एक विमान का वर्णन प्रसंगप्राप्त है। विमान महाकवि के काव्य की तरह सुगठित था। प्रसंगोद्भूत संकेत है – प्रगाढ़ संरचना।

(xiv) कव्वं पिव छंद-सद्द-गहिरु"—पउमचरिउ, 30/6, भाग 2, पृ० 160।

नृत्यरत राम का वर्णन प्रसंगप्राप्त है। नृत्यरत राम ऐसे लग रहे थे जैसे छंद (लयात्मकता) और शब्दगांभीर्य से युक्त काव्य हों। प्रसंगोद्भूत संकेत है—लय एवं प्रौढ़ि।

(xv) महकइ-कव्वु व लक्खण-वन्तउ"—पउमचरिउ, 70/6, भाग 4 पृ० 236।

दूत का वर्णन है जो महाकवियों के लक्षणयुक्त काव्य की तरह लगता था। लक्षण से प्रसंगाद्भूत संकेत, स्पष्ट ही, भरतसम्मत छत्तीस काव्यलक्षण है।

(xvi) पुणु फल-णिवहेण सुसोहिएण।

कव्वेण व संव्व-रसाहिएण॥

—पउमचरिउ, 71/10, भाग 4: पृ० 260।

जिनवर की पूजा का प्रसंग है। जिन फलों से जिनवर की पूजा की गयी, वे काव्य की तरह सब रसों से पूरित थे। प्रसंगोद्भूत संकेत है—रससिद्धि।

(xvii) रेहइ सूर-विम्बु उग्गन्तउ।

णावई सुकइ-कव्वु पह-वन्तउ॥

—पउमचरिउ, 23/12, भाग 2, पृ० 44।

उगता हुआ सूर्यबिम्ब सुकवि के प्रभायुक्त काव्य की तरह शोभाशाली था। उगते हुए सूर्यबिम्ब का वर्णक्रम, विकीर्ण प्रभा, जीवन्तता, चारुत्व आदि काव्य के संदर्भ में प्रतीकित हैं।

5·2·3. काव्य एवं काव्यतत्त्वों के उपमानवत् प्रयोगों से स्पष्ट है कि स्वयंभू काव्य को मूलतः शब्दरचना मानते हैं। स्वयंभू की काव्यविषयक अवधारणा स्पष्ट है—

शब्द ही काव्य है। रही बात व्यावहारिक शब्दव्यवहार तथा काव्यगत शब्दव्यापार के व्यवच्छेदक तत्त्वों की, तो स्वयंभू की स्पष्टलक्ष्यता इस संदर्भ में भी श्रेण्य है। अलंकृत पदसंघटना, सामासिक वक्रता, सुन्दर वर्णरचना, लयात्मकता तथा लक्षणों से युक्त प्रौढ़ शब्दयोजना; दोषरहित तथा रसयुक्त प्रगाढ़बंध, यह है स्वयंभूसम्मत काव्यस्वरूप। स्वयंभू के लिए काव्य 'सूक्ति' है—सौशब्द्य काव्यता तथा सालंकार काव्यता का संश्लिष्ट रूप। सुकवि के काव्य को स्वयंभू उदीयमान सूर्यबिम्ब की तरह मानते हैं। भारतीय मनीषा की आत्मलीन एकतानता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि स्वयंभू के सहस्रावधि वर्ष बाद महर्षि अरविंद के काव्य-चिन्तन में भी वही अनुगूंज सुनायी पड़ती है। जब अरविन्द कहते हैं कि हमारा अभीष्ट आंतःप्रज्ञात्मक काव्य वह है जो सत्य, सौंदर्य, आनंद, प्राण और आत्मा की शाश्वत पंचमहाशक्तियों की चरम समरसता को वाणी दे। ये पंचमहाशक्तियाँ वस्तुतः महत्तर जीवनादर्श हैं, प्रकाशपुंज हैं—काव्य के पाँच सूर्य की तरह विभापूर्ण।[1], तब लगता है कि कालप्रवाह आत्मप्रवाह को बाधित नहीं कर सका।

तुलसीदास

5.3.1 तुलसीदास यद्यपि समस्त काव्यरीति से परिचित हैं,[2] फिर भी वे अपने को काव्यविवेक से अनभिज्ञ मानते हैं।[3] उनकी दृष्टि में रामचरित ही सर्वोपरि है और राम नाम ही समस्त काव्यवैदग्ध्य तथा रस का सार, इसलिए मानस में जो कुछ है सब राम नाम के ही कारण :

भनिति विचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारि ।।

---

1. An intuitive revealing Poetry of the kind which we have in view would voice a supreme harmony of the eternal powers, Truth, Beauty, Delight, Life and the Spirit. These are indeed the five greater ideal lamps or rather the five Suns of Poetry. The Future Poetry, Sri Aurobindo Ashram, 1953, P. 286.
2. आखर, अरथ, अलंकृति नाना। छंद-प्रबन्ध अनेक बिधाना।
भावभेद रसभेद अपारा। कबित-दोष-गुन बिबिध प्रकारा।।
—मानस, सं० पंडित सीताराम चतुर्वेदी, पृ० 21
3. कबित-बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।।
—पूर्ववत्, पृ० 21

सब गुन-रहित कुकबि कृत बानी । राम-नाम-जस-अंकित जानी ।।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही । मधुकर-सरिस संत गुन ग्राही ।।
जदपि कबित रस एकौ नाहीं । राम प्रताप प्रगट यहि माँही ।।[1]

प्रकारान्तर संकेत से ही सही तुलसीदास ने काव्य के संदर्भ में भणिति-वैचित्र्य, वर्णयोजना, अर्थयोजना, छंद, बंधविधान, भाव, रस, गुण और दोष की चर्चा की है । उनकी दृष्टि में काव्य का वास्तविक सौंदर्य राम नाम में निहित है । तुलसीदास की धारणा के अनुसार काव्य में वास्तविक मूल्य विषयगत उदात्तता का है, उसकी संरचना का नहीं ।

5·3·2 स्वयंभू की ही तरह तुलसीदास ने भी काव्य के समस्त रचनातत्त्वों को मानसरोवर के रूपक के माध्यम से प्रस्तुत किया है—

राम-सीय जस सलिल सुधा सम । उपमा बीचि बिलास मनोरम ।।
पुरइनि सघन चारु चौपाई । जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई ।।
छंद सोरठा सुन्दर दोहा । सोइ बहुरंग-कुल सोहा ।।
अरथ अनूप, सुभाव, सुभासा । सोई पराग, मकरंद, सुबासा ।।
धुनि अवरेव कवित गुन जाती । मीन मनोहर ते बहु भाँती ।।
नवरस जप तप जोक बिरागा । ते सब जलचर चारु तड़ागा ।।

—मानस, बालकांड, पृ० 53-54

मानस का रूपक बाँधा गया है । मानस के सात कांड ही जैसे मानसरोवर की सात पैड़ियाँ हैं । राम-सीता यश (विवाहादि) ही उसका अमृततुल्य जल है । इसमें जो उपमाएँ दी गयीं हैं, वे ही जल की तरंगों की लहरें हैं । सुन्दर चौपाइयाँ ही छाई हुई पुरइन के पत्ते हैं । नयी-नयी काव्योक्तियाँ तथा चमत्कारयोजनाएँ ही मोती उपजानेवाली सीपियाँ हैं । इसमें जो मनोहर छंद, सोरठे और दोहे हैं वे ही रंगबिरंगे कमल हैं, अनुपम अर्थ ही उनके पराग, भाव-संपदा ही मकरंद और सौशब्द्य ही सुगन्ध है । इस कविता में ध्वनि (व्यंजना), वक्रोक्ति तथा सहज काव्यगुण ही मानसरोवर की मछलियाँ हैं । जप, तप, योग, वैराग्य तथा काव्यरस ही इस सरोवर के जलचर जीव हैं ।

मानसरोवर के उपर्युक्त रूपक में तुलसीदास ने अलंकार, सघन शब्द-योजना (पुरइन), छंदोयोजना, उक्ति-चमत्कार, अर्थ एवं भावसंपदा, सौशब्द्य (सुभासा), ध्वनि (व्यंजना), वक्रोक्ति (अवरेव), गुण तथा रस की स्पष्ट चर्चा की है ।

---

1. पूर्ववत्, पृ० 22

5.3.3 'सियाराम मैं सब जग जानी' तथा 'राम नाम बिनु गिरा न सोहा' के संदर्भ में वाणी जब मुखर होती है, तब काव्यसर्जन में न तो 'सीय' अलग रह जाती है और न 'राम' ठीक वैसे ही जैसे न 'अर्थ' अलग रहता है और न 'शब्द'। काव्यपरम्परा में कालिदास की वह बहुप्रचलित उक्ति है, जिसमें शिव-पार्वती के परमाद्वैत को वागर्थ के परमाद्वैतसंदर्भ में स्पष्ट किया गया है[1] तुलसीदास ने भी सीय-राम के परमाद्वैत को वागर्थ तथा जलवीचि के परमाद्वैत संदर्भ में देखा है :

गिरा अरथ जल-बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीताराम पद, जिन्हहिँ परम प्रिय खिन्न॥

—मानस, बालकांड, पृ० 34।

अलंकार, उक्ति, गुण, रस आदि काव्यसंपदा का परम सार्थक अभिव्यक्ति-रूप यदि 'सीयाराम जस' है तो निश्चय ही वह वाक् एवं अर्थ के परमाद्वैत-आश्रय से ही निष्पन्न हो सकता है। और इसीरूप में अभिव्यक्त काव्यसंपदा के लिए तुलसीदास ने एक अन्य उक्ति दी है—उपजहि अनत अनत छबि लहहिँ (मानस, बालकांड पृ० 24)। प्रसंगप्राप्त अर्थ यह है कि कविता अन्यत्र (कवि के मानस में) उत्पन्न होती है और अन्यत्र (सुधिजनों के द्वारा) प्रशंसित; किंतु उपर्युक्त अर्द्धाली को इस उक्ति के संदर्भ में देखा जाय कि—

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिँ सुजाना
जौं बरखैं बर बारि बिचारू। होहिँ कबित मुकता मनि चारू॥
जुगति बेधि पुनि पोहियहि, रामचरित बर बाग।
पहिरहिँ सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥

—बालकांड, पृ० 24

तो मूल प्रसंगप्राप्त अर्थ के अलावा यह अर्थ भी व्यंजित होता है कि कविहृदय में कवितारूपी मोती की सृष्टि अनंत छवि, अनंत सौंदर्य एवं चारुत्व की जननी भी होती है। तुलसीदास ने काव्य कि पूरी सर्जना तथा आस्वादन-प्रक्रिया को बखूबी स्पष्ट कर दिया है। अनंत भावसंपदाशाली कविहृदय (हृदयसिंधु) में प्रतिभा (मति) की स्फुरणा से (अलंकृति, गुण, रस, उक्ति, बंध, शब्दयोजना, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि के माध्यम से) सीपी में मोती के निर्माण की तरह काव्यसर्जना होती

1. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ रघुवंश, 1/1

है। पुनः सुधिजन काव्यसंरचना के विविध परतों के वेध कर (जैसे मोतियों को छेदकर हार में पिरोया गया हो) कवि के मूल संवेद्य आत्मभाव तक पहुँचते हैं। सर्जना की दिशा आत्मभाव (तुलसीदास के संदर्भ में राम नाम अथवा यश) से भाषिक संरचना की ओर है और आस्वादन की दिशा भाषिक संरचना से कवि के आत्मभाव की ओर। तुलसीदास का पक्ष यह है कि दोनों ही प्रक्रियाएँ मूलतः वागर्थ-परमाद्वैत का आश्रय लेकर चलती हैं।

केशवदास

5·4·1. (i) केशव के काव्यसंप्रत्यय के संबंध में विद्वानों के बीच बड़ा भ्रम है। प्रायः सभी ने केशव के इस दोहे को उनके काव्य-संप्रत्यय का पर्याय मान लिया है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुबृत।
भूषन बिनु न बिराजही, कबिता बनिता भित्त ॥—कविप्रिया 5/1

किंतु बात ऐसी नहीं है। केशवदास ने अन्यत्र भी अपने काव्य-संप्रत्यय को स्पष्ट किया है, जैसे रसिकप्रिया में और वहाँ वे 'रस' पर बल देते हैं—

ज्यों बिनु डीठि न सोभिजै, लोचन लोल बिसाल।
त्यों ही केशव सकल कबि, बिनु बानी न रसाल ॥
तातें रुचि सों सोचि पचि, कीजै सरस कबित्त।
केसव स्याम सुजान को, सुनत होई बस चित्त ॥

—रसिकप्रिया, 1/12,13

तरुणी के विशाल चंचल नेत्र में सरसता तब आती है, जब उसमें भावधर्मी कटाक्ष होते हैं, केशवदास की उपर्युक्त धारणा ठेठ रसवादी तो नहीं; किंतु 'रसिकवादी' अवश्य है।

(ii) केशवदास को अलंकारवादी मान लेना दरअसल एक बड़े भ्रम का परिणाम है। अलंकार-धारणा और अलंकारवादी धारणा, दोनों में बड़ा फर्क है। अलंकार धारणा का संबंध वामन के सौंदर्यवाद से है और अलंकारवादीधारणा का संबंध उद्भट की 'अलंकार-सार-धारणा' से। डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि "उद्भट ने उपमादि को अलंकार न कहकर अलंकार-सार कहा था और वामन ने उसी समय अलंकार को सौंदर्य।...यह सत्य है कि सौंदर्य के बिना काव्य, काव्य ही नहीं होगा; जिसे वामन सौंदर्य कहते हैं उसी को आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट आदि चमत्कार। यह जिन तत्त्वों से काव्य में आता है वे केवल उपमादि नहीं हैं। वे पदयोजना की सांगीतिक विशेषताएँ भी हैं, जिन्हें वृत्ति और रीति के नाम से

पुकारा गया। उपमा आदि उनसे और अधिक प्रभावकारी तत्त्व हैं, किन्तु कुल मिलाकर हैं तो ये सभी सौंदर्यजनक। सौंदर्य ही है अलंकार। तब कैसे हो सकता है काव्य अलंकार से रहित और कैसे माना जा सकता है उपमादि को सौंदर्यरूप अलंकार ?"[1]

केशव जब 'भूषन बिनु न बिराजही' की बात करते हैं, तब उनकी धारणा वस्तुतः सौंदर्यवादी ही रहती है। भाववैविध्य, लक्षणों (भरत के काव्यलक्षणों) से युक्त, सौशब्द्य, सरस तथा सुंदर छंदोयोजना के बावजूद यदि काव्य सौंदर्य-उत्सर्जन नहीं करता, तब केशव उसे यथार्थ काव्य मानने को तैयार नहीं हैं।

(iii) कविता-वनिता का रूपक भी कविसिद्ध रूढ़ि है, जिसे आचार्य परंपरा में भी स्वीकृति मिली है। केशवदास भी इसका आश्रय लेते हैं, अपनी काव्य-सौंदर्य-धारणा के प्रतिपादन में। जैसे भाववैविध्य, लक्षणादि से युक्त रचना में, सौंदर्य के अभाव में काव्यता नहीं होती, वैसे ही सुगठित देहयष्टि, लक्षणवती, गौरांग, रसवती वनिता भी सौंदर्य, लावण्य, चारुत्व अथवा चमत्कार के अभाव में रमणीय अथवा चित्ताकर्षक नहीं, होती, यह केशवदास का पक्ष है। इसमें कोई अलंकारवाद नहीं बल्कि अनुभूत यथार्थ है। इस संबंध में कवीन्द्र रवीन्द्र का कथन देखिए;

"स्त्रियों का काम हृदय का काम है। उन्हें हृदय देना पड़ता है और हृदय का आकर्षण करना पड़ता है, इसीलिए उनके नितान्त सरल, सीधी-सादी, छोटी बनने से काम नहीं चलता। पुरुषों को यथापथ होना आवश्यक है, परन्तु स्त्रियों को सुन्दर होना चाहिए। पुरुषों का व्यवहार हरप्रकार से सुस्पष्ट होना ही अच्छा है, परन्तु स्त्रियों के व्यवहार में अनेक आवरण, आभास-इङ्गित रहने चाहिए।

साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल करने के लिए अलंकार का, रूपक का, आभास का, इङ्गित का आश्रय ग्रहण करता है। दर्शन-विज्ञान की भाँति अलङ्कार-हीन होने से उसका काम नहीं चलता।"[2]

केशवदास की धारणा की अनुगूंज स्पष्ट है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को तो 'अलंकारवादी' कहकर तिरष्कृत नहीं किया जाता और न किया जा सकता है, तो फिर केशवदास ने कौन-सा अपराध किया है! दरअसल केशवदास विप्रतिपत्ति

---

1. साहित्यसुधासिंधु की भूमिका, पृ० 13।
2. 'साहित्य का तात्पर्य' शीर्षक लेख, अनुवादक : राजेश दीक्षित, साहित्य, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1973, पृ० 8.

(Misunderstanding) के शिकार हुए हैं और इस क्षेत्र में भी वे हिंदी के सर्वाधिक चर्चित कवि-आचार्य हैं।

(iv) केशवदास वस्तुतः कुंतक की तरह 'सालंकार काव्यता' के पक्षधर आचार्य हैं और भोज की तरह काव्य के त्रिविध अलंकारवर्ग—स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति भी उन्हें मान्य है। इसी धारणा के अनुकूल वे अलंकार के दो प्रकार बतलाते हैं—साधारण अलंकार और विशिष्टालंकार।[1] साधारण अलंकार के अन्तर्गत वर्ण (रंग), वर्ण्य (वर्णनीय पदार्थ), भू(पृथ्वी, प्रकृति), राजश्री (राज्य के सप्तांग तथा राजाओं के दैनन्दिन कार्यक्रम), का निरूपण किया गया है और विशिष्टालंकार के अन्तर्गत उपमा, रूपकादि अलंकार-साररूप अलंकृतिविधान। साधारण अलंकार की केशवसम्मत धारणा पर पुनः हिंदी के विद्वानों की बक्रदृष्टि रही है।[2] साधारण अलंकार को कुंतकसम्मत गुणधारणा के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। कुंतक के प्रसंग में हमने देखा है कि वे गुण के दो प्रकार मानते हैं—सामान्यगुण और विशिष्टगुण। सौभाग्य और औचित्य को कुंतक ने सामान्यगुण कहा है। काव्य कही जाने वाली रचना में तथा मार्गत्रय में इन सामान्यगुणों का होना दरअसल काव्य का अस्तित्ववाची है। माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य विशिष्टगुण हैं, मार्गत्रय में इनका समावेश विकल्पमूलक होता है।

केशवदास का साधारण अलंकार भी कुंतक के सामान्यगुण की ही तरह हैं, जो रीतिकाव्य और एक हदतक काव्यमात्र के लिए अस्तित्ववाची हैं। उपमादि विशिष्टालंकार काव्यके विकल्पमूलक सौंदर्य-उपकरण हैं। रही बात, साधारण अलंकार अभिधान की आचार्य-परंपरा से संपुष्टि की; तो पुनः साक्षी के तौर पर कुंतक और भोज द्रष्टव्य हैं। प्रबन्ध के लिए जलकेलि, पुष्पचयन आदि प्रकरण को कुंतक कमनीय संपद मानते हैं।[3] भोज ने तो नगर, आश्रम, सैन्यावास, सागर, ऋतु, रात्रि-दिवा, सूर्य-चंद्र, नायक, नायिका, कुमार, सहाय, वाहन, वनविहार, जलक्रीड़ा, मधुपान, मान, रतिकेलि, उत्सव आदि के वर्णन को स्पष्टतः अर्थालंकार

---

1. कबिनि कहे कबितान के अलंकार द्वै रूप।
एक कहैं साधारनै, एक बिशिष्ट सरूप ॥—कविप्रिया 5/2
2. देखे : डॉ० नगेन्द्र, अवंतिका, काव्यालोचनांक, पृ० 160; डॉ० सत्यदेव चौधुरी हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, पृ० 657-658 तथा काव्यशास्त्रीय निबंध, पृ० 14
3. वक्रोक्तिजीवित्, 4/9 तथा वृत्ति, पृ० 514.

कहा है।[1] ये ही वर्ण्यपदार्थ केशवदाससम्मत वर्ण्य, भू तथा राजश्री के विषय हैं। वर्णालंकार की सामग्री काव्यारूढ़ियों से संकलित की गयी है।

स्पष्ट है कि केशवदास काव्य के समस्त सौंदर्यविधायक तत्त्वों को व्यापक अर्थ में अलंकार मानने वाली सरणि के अनुयायी हैं।[2]

5·4·2. केशवदास मूलत: कविशिक्षाशास्त्री हैं और इस रूप में केशवदास ही नहीं प्राय: सभी रीति आचार्यों का मूल्यांकन अभी शेष है। इस दिशा में प्रारंभिक शोधकार्य हमने किये हैं, जिज्ञासु पाठक इस प्रसंग का विवेचन वहीं देख लें।[3]

अस्तु। केशवदास की दृष्टि मूलत: कविशिक्षा पर रहने के कारण उनकी समस्त धारणाएँ एक संग्राहक आचार्य की हैं, जो विवादों से पृथक्, काव्यतत्त्वों के संश्लेष में विश्वास रखता है। अत: वे काव्य में गुणयुक्तता, अर्थगांभीर्य, सदलंकृति तथा दोषहान को सर्वोपरि मानते हैं :

सगुन पदारथ अर्थजुत, सुबरनमय सुभ साज।
कंठमाल ज्यों कबिप्रिया, कंठ करहु कबिराज॥
राजत रंच न दोषयुत, कबिता बनिता मित्र।
बुंदक हाला होत ज्यों, गंगाघाट अपवित्र॥

कविप्रिया, 3/3, 4

'सगुन पदारथ' का तात्पर्य है शब्दगुण तथा अर्थगुण। 'अर्थजुत' से अर्थगांभीर्य संकेतित है, 'सुभ साज' से पदसंघटना, और 'सुबरनमय' से सौंदर्य अथवा अलंकृति। दोष के सम्बन्ध में केशव की धारणा दण्डी, भोज आदि की तरह आत्यंतिक है। 'कंठमाल ज्यों कविप्रिया' कविप्रिया ग्रंथ का अभिधान तो है ही कवि की प्रिया अर्थात् सु + उक्ति की व्यंजना भी द्रष्टव्य है — केशव की दृष्टि में सुकविता

---

1. 'नगराश्रमशैलसैन्यावासार्णवादिवर्णनम्, ऋतुरात्रिदिवार्कस्तिमयचन्द्रोदयादि वर्णनम्, नायकनायिकाकुमारसहायवाहनादिवर्णनम्, मन्त्रदूतप्रयाणसंग्रामाभ्युदयादिवर्णनम्, वनविहारजलक्रीडायमधुपानमानापगमरतोत्सवादि वर्णनमित्यर्थालंकारा : — शृंगारप्रकाश, भाग-2, पृ० 431।
2. विशेष विवरण के लिए देखें, लेखक का ग्रन्थ: रीतिसाहित्य को बिहार की देन, पाँचवाँ अध्याय।
3. देखें, रीतिसाहित्य को बिहार की देन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1972।

गुणयुक्त, अर्थगांभीर्य समन्वित, अलंकृत एवं निर्दोष पदसंघटना है। यों केशवदास रचना की अनिवार्य रसयुक्तता के कायल हैं और रसिकप्रिया उन्होंने लिखी भी है; किन्तु वह उनके व्यापक अलंकारवर्ग में ही शामिल है, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि वे सिर्फ रस को काव्य का व्यवच्छेक तत्त्व नहीं मानते, यह स्पष्ट है।

5·4·3. काव्य की रचनाप्रक्रिया के संबंध में केशवदास की यह प्रसिद्ध उक्ति है कि :

चरन धरत चिन्ता करत, नींद न भावत सोर।
सुबरन कों सोधत फिरत, कबि व्यभिचारी चोर।।

—कविप्रिया, 3/4

'सुबरन' शब्द का प्रयोग केशवदास ने अलंकार, सौंदर्य और सौशब्द्य के लिए किया है। प्रसंगप्राप्त अर्थ भी सौंदर्य तथा शब्द अथवा काव्यात्मक शब्द है। कवि सही शब्द की तलाश करता है, सही शब्द वह है जो उसकी विवक्षा को संप्रेषित कर सके। आत्मभाव को सिर्फ प्रेषित करना कविकर्म नहीं, बल्कि सम्यक् रूपेण प्रेषित करना कविकर्म है और भोज के साक्ष्य से हम जानते हैं कि सम्यक् शब्द अथवा शब्दार्थ-साहित्य का अर्थ है—दोषहान, गुणोपादन, अलंकारयोग तथा रसावियोग। अतः सम्यक् शब्द ही सौशब्द्य भी है और काव्यसौंदर्य का जनक भी।

कवि की यह खोज एक आंतरिक प्रक्रिया है—भावतत्त्व को शब्दों में रूपान्तरित करने की प्रक्रिया; रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में "अपरूप को रूप

---

1. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस दोहे को केशवदासकृत नहीं मानते। यह दोहा हरिचरणदास कृत कविप्रियाभरण, और लाला भगवान दीन की प्रिया-प्रकाश टीका में मिलता है। मिश्रजी इस दोहे को अतिरिक्त मानते हैं, किन्तु ऐसा मानने का कोई कारण उन्होंने नहीं दिया है। देखें : केशव ग्रंथावली, खण्ड—1, पृ० 101। यह दोहा काव्यगत शब्दचिंतन तथा कवि की अभिव्यक्ति-प्रक्रिया की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और अन्य विद्वानों ने इसे केशवकृत माना भी है (देखें : हिंदी-काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० 54; रीतिकालीन काव्य-सिद्धान्त, डॉ० सूर्य नारायण द्विवेदी, पृ० 212 तथा अन्य) तथा ऐसा मानना परंपरासिद्ध भी है, अतः इस दोहे को हमने भी उसी रूप में स्वीकार किया है।

के द्वारा व्यक्त किये जाने तथा भाषा के भीतर भाषातीत को प्रकट करने की प्रक्रिया है।"[1] इसीलिए इस प्रक्रिया के दौरान कवि जरा भी शोर पसन्द नहीं करता—जब वह अन्तर्मन की वाणी को वाणी दे रहा हो तब दूसरी आवाज तो बाधक ही होगी। अभिव्यक्ति की दुर्निवार विवशता के कारण उसे नींद भी नहीं आती। अभिव्यक्ति आकंठ व्याकुलता है, एक अवश छटपटाहट है, और जबतक कवि सम्यक् शब्द नहीं ढूँढ लेता, उसे चैन नहीं। अभिव्यक्ति की दुर्निवार विवशता के दौरान, शब्दशोध के लिए एकनिष्ठ संकेन्द्रन, बिलकुल वैसा ही है, जैसा किसी व्यभिचारी में सुन्दरी रमणी की प्राप्ति के लिए आकुलता अथवा चोर में स्वर्ण प्राप्ति की चाहत होती है। कामावेग में व्यभिचारी जैसे रमणीमय हो जाता है, चौरकर्म में जैसे चोर स्वर्णमय, वैसे ही भावावेग में कवि शब्दमय हो जाता है। इस प्रकार व्यभिचारी तथा चोर का सादृश्य उपस्थित करके केशव ने, 'सुबरन को सोधत फिरत' के माध्यम से, कवि की समस्त अभिव्यक्तिप्रक्रिया तथा तात्कालिक मानसिकता की ओर स्पष्ट संकेत किया है। इस 'सुबरन-सोध' की परिणति पद और अर्थगत सौशब्द्य तथा सम्यकत्व (दोषहान, गुणोपादान, अलंकारयोग तथा रसावियोग) में होती है और ऐसा होना ही केशव की दृष्टि में काव्य है।

नंददास

55·1. भक्तकवियों में नंददास का काव्यचिंतन पर्याप्त स्पष्ट एवं प्रौढ़ है। नंददास काव्यगत शब्दव्यापार का भी प्रकारान्तर संकेत करते हैं :

> रसमय सरसुति कै पग लागौं। अस अक्षर द्यो इति बर माँगौं।।
> सुन्दर कोमल वचन अनूठे। कहत सुनत समुझत अति मीठे।।
> नाहिन उघरे गूढ़ न ऐसे। मरहठ देस-बधू-कुच जैसे।।
> पुनि कवि अपनै मन मैं गुनै। मो कवित कोउ निरस न सुनै।।
> रस विहीन जे अच्छर सुनहीं। ते अच्छर फिरि निज सिर धुनहीं।
> बाला-स्मित कटाच्छ अरु लाजा। अँधरे बालम कै किहि काजा।
> ज्यों तिय सुरत समय सितकारा। निफल जाहिं जो बधिर भतारा।।
> कवि-अच्छर अरु तरुनि कटाछै। ए दोहु सुलग लगै हिय आछै।
> जो हिय अच्छर-रस नहिं भिदै। सो हिय अर्जुन-बान न छिदै।।
> हरिजस रस जिहि कबित नहिं, सुनै कवन फल ताहि।।
>
> —रूपमंजरी, नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० 104

---

1. साहित्य का तात्पर्य, साहित्य, पृ० 8।

उपर्युक्त उद्धरण से नंददास के काव्यचिंतन विशेषतः शब्दव्यापार सम्बन्धी दृष्टिकोण का पता चलता है। कई मुद्दों पर प्रसंगोद्भूत संकेत महत्त्वपूर्ण हैं :

(क) काव्यस्वरूप : (i) हरियशरस से युक्त,

(ii) सरस रचना,

(iii) रचना : सौंदर्ययुक्त, मृदु, विदग्धपूर्ण।

(ख) शब्दव्यापार (i) अर्थगांभीर्य : अर्थगांभीर्य से तात्पर्य सपाटबयानी तथा क्लिष्टता का निषेध है। काव्यार्थ उनकी दृष्टि में महाराष्ट्रदेशीय युवतियों के अंगवस्त्र से अर्द्धोन्मीलित नातिपीन कुचों की तरह होना चाहिए, जो न तो आंध्रदेशीय युवतियों के उरोजों की तरह पूर्णतः नग्न हो (सपाटबयानी) और न गुर्जर युवती के कुचों की तरह पूर्णतः निगूढ़ (क्लिष्ट)।[1] नंददास का अभिमत संभवतः प्रसादगुण है।

(ii) नंददास ने काव्य की शब्दयोजना का सादृश्य तरुणी-कटाक्ष से स्थापित किया है। तरुणी-कटाक्ष जैसे रसिकसंवेद्य है, वैसे ही कवि का शब्दगुंफन भी सहृदयसंवेद्य है। तरुणीकटाक्ष की अपनी विशिष्ट अर्थसंपदा है। युवती के कटाक्ष कामकला-वैदग्ध्य से युक्त हो सकते हैं; किन्तु तरुणी के कटाक्ष, जो अभी कामकला से अनभिज्ञ है सहज एवं नैसर्गिक रूप में प्रभविष्णु होते हैं—उनकी सरसता सहज है। तरुणीकटाक्ष की सहज-सरस प्रकृति एवं प्रभविष्णुता की हृदयग्राही गुणवत्ता के चित्रण स्वयं नंददास ने अनेकविध किये हैं—

अद्भुत चमत्कृति और सर्व प्रभावकारिता:

मुहियत द्रगनि के अचरच भारे।
चलहिं आन तन आनहिं मारे॥

—रूपमंजरी, नंददास ग्रन्थावली, पृ० 107।

---

1. नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो, नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढ़ः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित् सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाम॥
—ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धांत, भाग 1, पृ० 341 से उद्धृत।

सहज भोली चंचलता और अनुराग:

लरिकपना-पग-चंचलताई ।
चली छबीली नैननि आई ।।
इतउत चहनि चलनि अनुरागे ।
बात करन कानन सौं लागे ।।

रूपमंजरी, पृ० 107 ।

बाँकपन और उज्ज्वल सौंदर्य:

बाँक नयन मुसुकि जब चाहै ।
एछबि ससि में कहहु कहा है ।।–पूर्ववत् पृ० 108

सरसता और सहज आस्वादकता:

राजत नयन पीक रस पगे ।
हँसि हँसि हरि प्रीतम मुख लगे ।

--पूर्ववत्, पृ० 125 ।

और तरुणीकटाक्ष की मारकक्षमता क्या होती है, सो रसलीन से पूछिए।[1] तरुणीकटाक्ष की इस बेपनाह प्रभावकारिता के कारण ही नंददास ने कवि के शब्द-गुंफन को 'अच्छर रस' कहा है। वैसे 'अच्छर रस' को कोई चाहे तो रसवाद का भी विशेषण मान सकता है, किन्तु प्रकृत प्रसंग में शब्दगुंफन की रसाक्षिप्ता ही ग्राह्य है।

स्पष्ट है कि नंददास की दृष्टि में काव्यगत शब्द-व्यापार नैसर्गिक सौंदर्यसंप्रेषण का सहज व्यापार है। तरुणी-कटाक्ष के वैशिष्ट्य जैसे चमत्कृति, सहजता, वक्रता, उज्ज्वल सौन्दर्य एवं सरसता वस्तुत: काव्यगत शब्दव्यापार के भी वैशिष्ट्य हैं, जिनके कारण सामान्य भाषाव्यवहार की अपेक्षा काव्यगत शब्दव्यापार अधिक प्रभविष्णु एवं आस्वाद्य होता है।

---

1. अमी हलाहल मदभरे, सेत स्याम रतनार ।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जिहि चितवत इकबार ।।—अंगदर्पण, 35 ।

(ग) सहृदयव्यापार : काव्यगत शब्दव्यापार के साथ नंददास ने सहृदयव्यापार को भी जोड़ दिया है। काव्यगत शब्दव्यापार अपने सारे वैशिष्ट्य के साथ निरर्थक है यदि उसे सहृदय न मिला हो। तरुणी के कटाक्ष, उसकी मुस्कान तथा सलज्ज चांचल्य अंधे पति के सामने जैसे व्यर्थ हैं या उसके रतिजन्य सीत्कार जैसे बधिर पति के सम्मुख बेकार है, वैसे ही समस्त काव्यगत चमत्कार अरसिक व्यक्ति के सामने निरर्थक हैं। इससे बात सिर्फ इतनी निकलती है कि काव्यगत शब्दव्यापार सहृदयसाक्षिक होता है, यद्यपि यह भी स्पष्ट है कि अरसिक काव्यगत शब्दव्यापार की गुणवत्ता को बाधित अथवा प्रभावित नहीं करता।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि नंददास काव्य में रस और वैदग्ध्य (रचनाशिल्प) दोनों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं; किन्तु काव्य की सरसता, भले ही वह 'हरिजस' के कारण ही क्यों न हो, शब्द के नैसर्गिक सौंदर्य-संप्रेषणव्यापार के ही आश्रित होती है, वे इसकी तरजीह देते प्रतीत होते हैं। नंददास सम्बन्धी इस बहुश्रुति कि 'और सब गढ़िया नंददास जड़िया' की सार्थकता का संदर्भ भी उनकी यह 'तरजीह' ही हो सकती है।

5·6·1. जैसा कि हम पहले ही संकेत दे आए हैं, शब्दचिंतन की दृष्टि से हिन्दी का रीतिसाहित्य बहुत उर्वर नहीं है। वैसे विधि और निषेध पक्षों से गुणालंकारदोष आदि के संदर्भ में शब्दचिंतन की परंपरा मिल जाएगी, किन्तु काव्यसर्जना में शब्दों की भूमिका पर सीधा विवेचन रीतिसाहित्य में प्रायः नहीं मिलता। ऐसा नहीं है कि रीति-आचार्य इस मुद्दे से अपरिचित रहे हों, बल्कि रीतिकाव्य का भाषागठन इस तथ्य को ही उजागर करता है कि उनके रचयिता शब्दसंघटना अथवा काव्यशिल्प के प्रति बड़े ही सावधान एवं कुशल थे, नंददास के संबंध में यह प्रसिद्ध उक्ति कि 'और सब गढ़िया नंददास जड़िया' 'तथा ब्रजनाथ द्वारा की गयी घन आनंद की प्रशस्ति[1] से यह भलीभाँति प्रमाणित है। इसके बावजूद रीति-आचार्यों ने

1. नेही महा ब्रजभाषा-प्रबीन और सुन्दरतानि के भेद कों जानै।
जोग-बियोग की रीति मैं कोबिद, भावना-भेद-स्वरूप कों ठानै।
चाह के रंग मैं भीज्यौ हियो, बिछुरैं मिलें प्रीतम सांति न मानै।
भाषा-प्रबीन, सुछंद सदा रहै, सो घनजी के कबित्त बखानै॥
——प्रशस्ति, 1, घन आनन्द ग्रन्थावली, सं० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० 3।

काव्यसर्जना में शब्द की भूमिका पर कोई गंभीर चर्चा नहीं की। संस्कृत-काव्यशास्त्र के गंभीर शब्दचिंतन के बाद शायद इन आचार्यों ने उसमें कुछ और जोड़ने की आवश्यकता नहीं समझी, यद्यपि उसकी आवश्यकता थी। संस्कृत भाषा की प्रकृति के अनुकूल आनंदवर्धन, महिमभट्ट, कुन्तक, भोज आदि ने काव्यभाषा का जो वैयाकरणिक, दार्शनिक तथा रचनाप्रक्रियागत सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया था, उसका स्वाभाविक विकास व्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल सूक्ष्म विश्लेषण में होता। पर रीति-आचार्यों का दृष्टिकोण ही वह नहीं था, वे कविशिक्षाशास्त्री थे, जिनकी दृष्टि में विश्लेषण-विवेचन की अपेक्षा संग्रह-उदाहरण ही उपयोगी था; इसप्रकार के संग्रह-उदाहरण का यों आधुनिक रीतिविज्ञान (Stylistics) की दृष्टि से विशेष महत्त्व है।[1] अपनी इसी विशिष्ट दृष्टि के कारण रीति-आचार्यों ने शब्दचिंतन जैसे अपेक्षाकृत गंभीर विषय को अपने विवेचन-निरूपण का आधार नहीं बनाया। फिर भी जैसा कि हमने पहले भी संकेत किया है, काव्यगत शब्दचिंतन संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री अवश्य मिलती है। उनका संक्षिप्त सर्वेक्षण-अध्ययन प्रस्तुत है।

पदुमनदास

5·7·1· पदुमनदास रीतिकाल के अल्पज्ञात कवि-आचार्य हैं। इनके रीतिग्रंथ 'काव्य-मंजरी' (रचनाकाल, सं० 1741 वि०) की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है, जो एक प्रौढ़ रचना है।[2] पदुमनदास ने काव्यपुरुष का रूपक बाँधा है :

सकल कबित्त देहधारी सम जानो लहि, शबद शरीर सम बेद के बषान मैं॥
अर्थ ताको प्राण रस भाव मन इन्द्री जान, गुण परिमान रूप राजत जहान मैं॥
अभरन अलंकार कुंडल मुकुट बने, दोष युत आहिँ गनै जैसे षंज कान मैं॥
मने पदुमन सोभा बड़े छन्द जान, चले धाव सुकविजन जीभि के मैदान मैं॥

—काव्यमंजरी, 7/1, हस्तलिखित, निजी संग्रह।

उपर्युक्त सांगरूपक का विश्लेषण इस प्रकार होगा—

---

1. "इन सभी आयामों से कठिन रीति-विज्ञान के अध्ययन का एक आयाम है, जो शास्त्रीय परिभाषाओं को समीकृत करने का प्रयत्न करे और उनके सार्थक और असार्थक, अच्छे और बुरे—दोनों प्रकार के उदाहरण संकलित करे···।"—डॉ० विद्यानिवास मिश्र, रीति-विज्ञान, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1973, पृ० 87।
2. विशेष विवरण के लिए देखें : रीति-साहित्य को बिहार की देन, पृ० 74।

काव्यपुरुष

काव्य	पुरुष
शब्द	देह
अर्थ	प्राण
रस, भाव	मन
गुण	इन्द्रिय
अलंकार	कटक, कुंडल आदि आभरण
दोष	काना होने जैसी स्थिति
छंद	गति, शोभा, चपलता

5.7.2. (i) काव्यपुरुष का उपर्युक्त सांगरूपक यद्यपि पारंपरिक है, 'फिर भी रस-भाव को मन तथा गुण को इन्द्रियों के सदृश मानने में कुछ ताजगी अवश्य है। पारंपरिक रूप में रस-भाव को काव्य की आत्मा माना जाता है, और इसी के आधार पर 'रस' को विश्वनाथ ने सत्वोद्रेक, अखंड, चिन्मय आदि विशेषण दिये थे। मन चंचल होता है और क्रियमाण उत्प्रेरक भी। मन का संयमन तथा उदात्तीकरण होता है, अतः वह निर्विकल्प नहीं होता, उसमें क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में प्रक्रियात्मक विकल्प हो सकते हैं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि पदुमनदास के मत में भी रस निर्विकल्प आत्मरूप अवस्था नहीं, बल्कि उसका अनेक प्रक्रियात्मक विकल्पों (शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार आदि) से प्रकटीरण होता है।

(ii) परम्परया गुण को भी या तो शौर्यादि की तरह स्वभावगत, रसाश्रित अथवा संघटनाश्रित माना जाता रहा है। गुण को इन्द्रियसदृश मानकर पदुमनदास उसे संघटनाश्रित ही स्वीकार करते हैं।

(iii) दोष को वे सर्वथा परिहार्य नहीं मानते; अंधा-काना रहने पर भी देह की देहधर्मिता नष्ट नहीं होती है, अतः दोष रहने पर भी काव्य की काव्यता का सर्वथा अन्त नहीं हो जाता, हाँ, सौंदर्य की हानि अवश्य होती है। स्पष्ट है कि पदुमनदास दोष को शब्द और अर्थ में ही मानते हैं।

(iv) छंद काव्य को गति तथा लय प्रदान करते हैं। काव्यशास्त्र में छंद सम्बन्धी विचार अनतिप्रचलित हैं, यों यह स्पष्ट ही है कि काव्य यदि शब्द-व्यापार है तो छंद उस शब्दव्यापार को दिशा प्रदान करता है; क्योंकि अन्ततः छंदबन्ध की सार्थकता भावस्थिति तथा अभिव्यक्ति-आवेग को ही नियमित-रूपायित करने में है।

कुलपति

5·8·1. कुलपति का शब्दचिंतन अपेक्षाकृत गंभीर है। कहते हैं वे पंडितराज के घनिष्ठ सखा थे। अनुमानतः पंडितराज की मतसरणि का कुछ-न-कुछ प्रभाव उनपर अवश्य रहा होगा।

कुलपति ने शब्द और अर्थ के लोकोत्तर रूप को काव्य कहा है :

जग ते अद्‌भुत सुख-सदन, शब्द रु अर्थ कबित।
ये लच्छन मैंने कियो, समुझि ग्रंथ बहु चित्त॥

—रस रहस्य, 1/17[1]

इसकी वचनिका (वृत्ति) में 'जग ते अद्‌भुत सुख-सदन' को स्वयं कुलपति ने लोकोत्तर चमत्कार कहा है। पंडितराज की अनुगूंज स्पस्ट है, अन्तर सिर्फ इतना है कि पंडितराज ने जहाँ रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य कहकर रमणीयता को लोकोत्तर चमत्कार कहा था, वहाँ कुलपति लोकत्तर चमत्कारी शब्द और अर्थ—दोनों को काव्य कहते हैं। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि कुलपति ने पंडितराज की धारणा में कोई मौलिक संशोधन किया है; किंतु इतना अवश्य है कि काव्यार्थ एवं काव्यात्मक शब्द—दोनों ही सामान्य भाषाव्यवहार की अपेक्षा अतिरिक्त चमत्कारी होते हैं, इसे कुलपति ने संपुष्ट किया है।

5·8·2 कुलपति के शब्दचिंतन का महत्त्व एक अन्य मुद्दे को लेकर है कि वे काव्य को कवि की चित्तवृत्ति की सृष्टि मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा कि

शब्द अरथ जितने बने, नीकी भाँति कवित्त।
सुधि धावन समरत्थ तिन, कारन कबि को चित्त॥

—रस रहस्य, 1/30

कविता एक सृष्टि है—निर्मिति है, जिसकी रचना शब्द और अर्थ से होती है। किंतु काव्यसृष्टि के आधारभूत माध्यम बने ये शब्दार्थ कोई निर्जीव वस्तु नहीं; बल्कि वे जीवंत कोष हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध कवि की चित्तवृत्ति से होता है। काव्यसर्जन कवि के चित्त का व्यापार है और अपनी चित्तवृत्ति के अनुकुल सही शब्द का पा लेना ही कवि की प्रतिभा। इस प्रकार कुलपति ने काव्य को शब्द-व्यापार मानते हुए उसका सीधा सम्बन्ध कवि की चित्तवृत्ति और प्रतिभा से जोड़ा है।

1- डॉ० सूर्यनारायण द्विवेदी कृत, 'रीतिकालीन काव्य-सिद्धांत' से उद्‌धृत, पृ० 156।

देव

5·9·1 (क) देव थोड़ी तफसील में बात करते हैं। पहला सवाल तो उन्होंने यह उठाया कि शब्द है क्या ? फिर पद, वचन (वाक्य) तथा अर्थस्वरूप क्या होंगे ? ये प्रश्न भाषा की सार्थकता से जुड़े हैं। काव्यसंदर्भ में भाषा की सार्थकता के बाद दूसरा मौजूं प्रश्न है कि ये शब्द काव्यात्मक कब और कैसे हो जाते हैं ? इन प्रश्नों का समेकित उत्तार देव ने दिया है।

शब्द सुमति मुख ते कढ़े, लै पद वचननि अर्थ।
छंद भाव भूषन सरस, को कहि काव्य समर्थं॥

—शब्दरसायन, पृ०-2[1]

ध्वनिसमूह को 'शब्द' कहा जाय, इसके लिए सिर्फ यही आवश्यक नहीं कि वह सार्थक अर्थात् अर्थबोधजन्य सामाजिक स्वीकृति से युक्त हो, बल्कि यह भी आवश्यक है कि वह सुमतिसंपन्न व्यक्ति द्वारा उच्चारित हो। यहाँ प्रश्न सिर्फ सार्थक्ता का नहीं, सार्थक औचित्य का है। पागल व्यक्ति द्वारा उच्चारित ध्वनिसमूह भी, हो सकता है, अर्थबोधजन्य सामाजिक स्वीकृति से युक्त हो; लेकिन निश्चय ही वह प्रसंग में अनुपन्न (Irrelevent) होगा। अतः सार्थक एवं प्रसंगोपपन्न ध्वनिसमूह ही देव के मत में 'शब्द' कहा जाएगा। ऐसे ही शब्द पद के रूप में वाक्यार्थान्वित होते हैं, तब उन्हें वचन या भाषा कहा जाता है। यहाँ तक सामान्य शब्द-व्यवहार है।

काव्यगत शब्दव्यवहार का वैशिष्ट्य रस, भाव, अलंकार और छंद में होता है। देव की धारणा का तात्पर्य यह है कि भावावेग से उत्प्रेरित सामान्य शब्द ही रसालंकारयुक्त होकर छंदोबद्धरूप में जब रूपग्रहण करते हैं, तब उसे काव्य कहा जाता है। अपनी इस धारणा को देव ने रस-प्रकरण में और भी स्पष्ट किया है कि—

(i) सरस शब्द वस्तुतः सघन-सजल मेघ की तरह होते हैं, जिनसे अनन्त अर्थों की अमोघ वर्षा होती है,[2]

---

1. शब्द-रसायन, सं० डॉ० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सं० 2004 वि०।
2. सरस शब्द घनस्याम रंग, बरसत अर्थ अमोघ।, शब्दरसायन, पृ० 27।

(ii) रस भाव के आश्रित होते हैं और कविता शब्दार्थ के वशीभूत, दुनिया कविता के वशीभूत होती है,[1]

(iii) शब्दार्थ का सारतत्त्व काव्य होता है अर्थात् शब्दार्थ का परमोत्कृष्ट प्रयोग कविता में ही होता है। कविता का सारतत्त्व है रस और यह रस पुनः अलंकृति के आश्रित होता है।[2]

इतना ही नहीं देव ने, नौ रसों विशेषतः शृंगार रस से संबद्ध विभिन्न पात्रों, अर्थात् नायक-नायिकाभेद, सखा, सचिव आदि का वर्गीकरण भी शब्दार्थ के आधार पर किया है और वे इन नानापात्रों को नवरस के शब्दार्थ मानते हैं।[3] उनके वर्गीकरण का संक्षेप इस प्रकार है :[4]

1-2. भावनि के बस रस लसत, बिलसत सुरस कबित्त।
कविता बस शब्दार्थ पद, तिहि बस सब जग चित्त॥
काव्य सार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्यासार।
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार॥

—शब्दरसायन, पृ० 28।

3. शब्द-अर्थ नव रसन के, नाना पात्र विभेद।
नवरस में शृंगार के, बरनत अखिल अखेद॥ —शब्दरसायन, पृ० 59।

4. सुद्ध स्वभाव स्वकीया वाचक को आधार।
पति अनुकूल, सखी गुरुविद्या, शिल्प, पुकार॥
पीठमर्द, नर्मनि सचिव, दूती गुरुजन, धाई।
उपदेशी कुलधर्म की, वाच्य अर्थ समुहाई॥
गर्व स्वभाव स्वकीया, अरु पति दक्षिण जानि।
अति परिचय धृष्टा सखी, नर्म सचिव विट मानि॥
मालिनि, नायिनि दूतिका, पिय बस करत उपाइ।
उपदेसी में लाक्षनिक, पात्र सुलक्ष्य लखाइ॥
सुद्ध परकिया नायिका, अरुनायक सठ धृष्ट।
स्वभावज उपपति कहे, नाट्यादिक गुरु इष्ट॥
नर्म सचिव, बिट, बिदूषक, दूती पुरजन नीच।
निंद्यकर्म उपदेसिका, व्यंजक पात्र समीच॥

—शब्दरसायन, पृ० 60।

वाचक-वाच्य पात्र : शुद्ध स्वभाव स्वकीया, अनुकूल पति, विद्यागुरु सखी, पीठमर्द, नर्म सचिव और कुलधर्म उपदेशिनी, गुरुजन-धाई दूती।

लाक्षणिक पात्र : गर्व स्वभाव स्वकीया, दक्षिण नायक, अतिनिकटवर्तिनी धृष्टा सखी, विट, नर्म सचिव, परिजनवधू दूती, वशीकरण उपदेशिनी।

व्यंजक-व्यंग्य पात्र : शुद्ध परकीया, सठ सुभाव उपपति, विद्या-नाट्यगुरु सखी, नर्म सचिव, विदूषक, पुरजन दूती, निंद्यकर्म उपदेशिनी।

उपर्युक्त वर्गीकरण आत्यंतिक नहीं हो सकते, क्योंकि देव की शब्दशक्ति-सम्बन्धी बुनियादी धारणा यह भी है कि अभिधा आदि आत्यंतिक भेद नहीं हैं। प्रकृत प्रसंग में भी इसलिए देव आत्यंतिकता का निषेध करते हैं।[1]

(ख) 'शब्द ही काव्य हैं', देव की यह दृढ़ धारणा प्रतीत होती है। इसीलिए उनका काव्यपुरुष सम्बन्धी रूपक भी अपारंपरिक है। वे कहते हैं कि, शब्द काव्य का जीव है। स्पन्दनशील, प्राणवान् पुरुष का मन जैसे अनंत संभावनाओं, संकल्प-विकल्पादि का आगार होता है, शब्दरूपी प्राणतत्त्व से प्रेरित काव्य का अर्थ भी वैसे ही अनंत संभावनाओं, संकल्प-विकल्पादिरूप हैं। पुरुष के लिए जैसे सुयश ही उसका वास्तविक शरीर होता है, वैसे ही काव्य का वास्तविक शरीर 'रस' है। शरीर यहाँ अस्तित्ववाची है। पुरुष का पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थ से अर्जित यश ही उसकी वास्तविक सत्ता है, वैसे ही काव्यगत शब्दव्यापार की यथार्थ सत्ता रस है। पुरुष का यशरूप शरीर कालातीत (एवं स्थानातीत) होता है, युग-युगान्तर तक संचरणशील; वैसे ही काव्य की रसरूप सत्ता भी कालातीत (एवं स्थानातीत) होती है—चिरंतन। पुरुष चेतन है, गतिशील है, काव्य की गतिशीलता भी छंदरूप होती है। पुरुष का गंभीर व्यक्तित्व उसके यशः शरीर में गुणात्मक अभिवृद्धि करता है, तो काव्य का गंभीर्य अलंकारों के आश्रित होता है, जिसके कारण अभिव्यक्ति में भी गुणात्मक अभिवृद्धि होती है।[2] उपर्युक्त धारणा से यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता

---

1. शब्द अर्थ तीनों जदपि, परत सबन में देखि,
न्यारे पात्र तिहूँन के, तीनों तदपि बिसेखि। —शब्दरसायन, पृ० 60।

2. रहत न घरबर, धाम, धन, तरुवर, सरवर, कूप,
जस-सरीर जग में अमर, भव्य काव्य रस-रूप।
शब्द जीव तिहि अर्थ मनु, रसमय सुजस-सरीर,
चलत चहूँ जुग छंद गति, अलंकार गंभीर। —शब्दरसायन, पृ० 1।

है कि जैसे पुरुष के पुरुषार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) का सारा दारोमदार उसकी प्राणशक्ति के क्रियमाण होने तथा दशादिशा पर है, वैसे ही काव्य के काव्यार्थ की सामर्थ्य वस्तुतः जीवन्त, स्पन्दनशील एवं क्रियमाण शब्दप्रयोग पर निर्भर है, इसलिए देव कहते हैं कि काव्य शब्दार्थ का सार हैं और तब, रस काव्य का सार। अतः देवसम्मत सूत्र इस प्रकार बनता है :

शब्दार्थ > काव्य > रस

यों, यह सूत्र अन्य आचार्यों की अवधारणाओं के अनुकूल हैं, लेकिन यह तथ्य है कि देव से पूर्व किसी आचार्य ने 'शब्द' को काव्य का जीवित या प्राण नहीं कहा था।

5·8·2. इसी विशिष्ट धारणा के कारण देव का शब्दशक्ति-विचार भी परंपरा से थोड़ा हटकर है। अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना के पारम्परिक निरूपण के बाद देव ने उनका संश्लेष किया है :

(i) वाचक-वाच्य, लक्षक-लक्ष्य तथा व्यंजक-व्यंग्य-वस्तुतः कोई पृथक् अस्तित्व-वाची नहीं हैं; बल्कि वे चित्तवृत्ति के प्रकाशक हैं। देव की यह धारणा निश्चय ही मौलिक है। हमने पिछले अध्याय में देखा है कि विश्वनाथ देव के अनुसार भी एक ही शब्द प्रसंगानुकूल वाचक, लक्षक या व्यंजक हो सकता है और इसप्रकार वाचक, लक्षक या व्यंजक के रूप में शब्दों के किसी कोटिक्रम का स्पष्ट निषेध किया गया है। देव भी यह मानते हैं कि एक ही शब्द तीन तरह से अर्थवान् हो सकता है और ऐसा प्रयोक्ता की चित्तवृत्ति के अनुकूल ही होगा। रसवादी धारणा में चित्त की वृत्तियाँ तीन मानी गयी हैं--द्रुति, दीप्ति तथा प्रसार और इन्हीं के आधार पर गुणों की संख्या भी तीन हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। देव जब शब्दवृत्तियों को चित्तवृत्ति के आश्रित बताते हैं, तब यह स्पष्ट नहीं होता कि एतद्विषयक धारणा रसवादी मान्यता के अनुकूल है अथवा नहीं।

इस विषय में किंचित् स्पष्टीकरण शब्दवृत्ति तथा श्रृंगाररस के अनुकूल पात्र-वर्गीकरण सम्बन्धी विवेचन में मिलता है। देव कहते हैं कि त्रिविध शब्दवृत्ति के आधार पर, वाचक-लक्षक-व्यंजकरूप में उन्होंने जो श्रृंगाररस से संबद्ध पात्रों का वर्गीकरण किया है, वैसा ही वर्गीकरण अन्य रसों से संबद्ध पात्रों का भी किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि शब्दवृत्ति की दृष्टि से वर्गीकरण के कारण यद्यपि श्रृंगाररस के भी तीन प्रकार हो जाते हैं और वाचकादि रूप

श्रृंगाररस की प्रकृति भी तदनुरूप भिन्न हो जाती है, फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि वे सारे प्रसार मूलतः एक ही भाव—रति के आश्रित होते हैं।[1] उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में शब्दवृत्ति बनाम चित्तवृत्ति की धारणा पर विचार कीजिए तो कई बातें उभरती हैं :

कि वाचकादि शब्दवृत्ति शब्द की कोई आत्यंतिक विभाजन नहीं है,
कि वाचकादिरूप व्यापार मूलतः शब्द की अन्तर्निहित प्राणवत्ता है, लेकिन अपने-आप में निष्क्रिय,
कि वाचकादिरूप व्यापार शब्द की अन्तर्निहित प्राणवत्ता की, प्रयोक्ता की चित्तवृत्ति से संप्रेरित अथवा अभिप्रेरित क्रियमाण गति है,
कि वाचकादि व्यापार वस्तुतः शब्दमात्र की गति है।

(ii) शब्दशक्तियों को मूलतः एक ही शब्द का व्यापारभेद देव ने माना है। इसकी संपुष्टि में उन्होंने कई संश्लेष दिये हैं, जिनमें पहला तो यही है कि शब्दवृत्तियाँ प्रयोक्ता की चित्तवृत्ति की ही गति है। इसका विवेचन हम कर आए हैं।

दूसरा संश्लेष वे यह देते हैं कि अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना के रूप में शब्द के जो त्रिविधव्यापार नजर आते हैं, उनके मूल में प्रयोक्ता का तात्पर्यार्थ ही हेतु है। प्रयोक्ता की चित्तवृत्ति किसी तात्पर्यविशेष से ही प्रेरित होती है और अपने तात्पर्यविशेष के लिए वह शब्द की अन्तर्निहित प्राणशक्ति को भी विशेष भंगिमा से अभिप्रेरित करती है। इसी विशेष भंगिमा का प्रकाशित रूप, अर्थ के स्तर पर वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ कहे जाते हैं। इसप्रकार देव की सम्मति में मूल बात है चित्त का व्यापार अथवा चित्तवृत्ति, तात्पर्यार्थ चित्तवृत्ति की अभिप्रेरणा है और तदनुकूल ही अभिव्यक्ति के समय, शब्द भी विशिष्ट भंगिमा से युक्त होता है, यह विशिष्ट भंगिमा ही वाच्यादि कही जाती है। स्पष्ट है कि देव अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का समाहार तात्पर्या में कर रहे हैं। एकशक्तिवाद का यह

---

1. शब्दारथ तिहुँ भेद के, जो पात्रा आधार।
बरनि कहे संक्षेप ही, केवल रस सिंगार॥
नौ रस पात्रा अनगनित, अरु नायिका अनंत।
अरु सात्त्विक संचारियो, उदाहरे मतिमंत॥
यद्यपि त्रिबिधि शब्दार्थमत, कहौं त्रिबिधि श्रृंगार।
तदपि तिहूँ थल त्रिबिधि गति, एकै रति आधार॥—शब्दरसायन, पृ० 68।

रूप मीमांसकों के निकट है और इसीलिए देव के इस कथन पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षना लीन ।

अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन ।।—शब्दरसायन, पृ० 72 ।

यहाँ एक बात और भी ध्यान में रखा जाना आवश्यक है कि तात्पर्याश्रित अभिधादि शब्दवृत्ति मानने में देव ने लक्षणा या व्यंजना का निषेध नहीं किया है, उनका पक्ष सिर्फ इतना है कि अभिधादि शब्दवृत्तियाँ तात्पर्यभेद के आधार पर ही भिन्न मानी जाती है, अन्यथा वे अभिन्न हैं । तात्पर्य के अतिव्यापक, व्यापक तथा अल्प-व्यापक के रूप में मात्राभेद के आधार पर वे ध्वनिकाव्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम रूप में वर्गीकरण का भी तारतम्य तय करते हैं । इसकी सिद्धि के लिए देव के अपने तर्क हैं कि जैसे एक ही स्वर उच्चारणभेद से अनेक स्वररूप में ध्वनित होता है—उदात्त, गंभीर, आनुनासिक आदि, वैसे ही एक ही शब्द विभिन्न तात्पर्यव्याप्ति के आधार पर त्रिविधव्यापार के रूप में प्रतीत होता है ।[1] देव यह मानते हैं कि चित्तवृत्ति की तात्पर्यव्याप्ति ही वह हेतु है, जिसके कारण एक ही शब्द की भंगिमा एवं अर्थ में प्रतीतिगत अंतर नजर आता है ।[2]

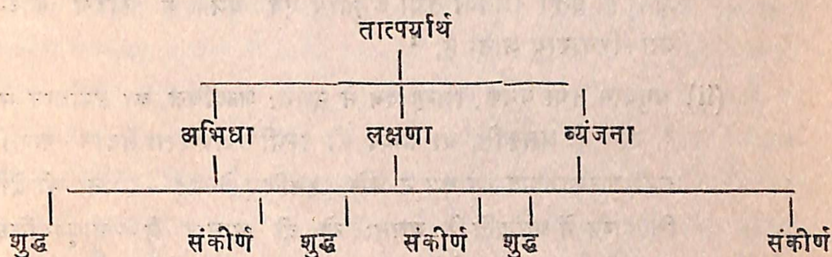
(iii) त्रिविध शब्दवृत्ति के एकात्मरूप की संपुष्टि में देव ने एक तीसरा संश्लेष भी दिया है । अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना तथा उनके पारंपरिक भेदों के निरूपण के बाद देव ने शब्दवृत्ति के दो वर्ग बताए हैं—शुद्ध और संकीर्ण । शुद्ध से देव का तात्पर्य है कि जहाँ वृत्तिविशेष, अन्य वृत्तियों से निरपेक्ष, क्रियाशील हो । संकीर्ण शब्दवृत्ति का अर्थ है वृत्तियों का मिश्रण और वे देव के मतानुसार निम्नांकित होते हैं—

---

1. तिहूँ शब्द के अर्थ पर, तीन्यो बृत्ति अभिन्न ।
तिनहूँ तीन्यौ बृत्ति पर, धुनि झलकता सुर भिन्न ।।
ज्यों मुख आखर सुद्ध सुर, निकसत गति गंभीर ।
तेई नौसिक नाकक्ष्वै, कढ़त पढ़त ज्यों कीर ।।
सुर पलटत ही शब्द ज्यों, वाचक व्यंजक होत ।
तातपर्ज के अर्थ हूँ, तीन्यौ करत उदोत ।।
तातपर्ज चौथो अरथ, तिहूँ शब्द के बीच ।
अधिक, मध्य, लघु वाच्य धुनि, उत्तम, मध्यम, नीच ।।–शब्दरसायन, पृ० 2 ।
2. निज-निज कारन शब्द इक, तीन अर्थ, तिहुँ भाँति ।
देव प्रकाशत चित्त गति, अपनी-अपनी पाँति ।।—शब्दरसायन, पृ० 3 ।

अभिधा : अभिधा में अभिधा, अभिधा में लक्षणा, अभिधा में व्यंजना
लक्षणा : लक्षणा में लक्षणा, लक्षणा में व्यंजना, लक्षणा में अभिधा
व्यंजना : व्यंजना में व्यंजना, व्यंजना में लक्षणा, व्यंजना में अभिधा

तात्पर्यार्थ के योग से तीन प्रकार और हो जाएँगे और इसप्रकार संकीर्ण शब्दवृत्ति के बारह भेद देव को अभिमत हैं, वैसे उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि पदार्थ तो अनंत होते हैं, किंतु शब्दार्थव्यापार मुख्यतः छह प्रकार के ही होंगे।[1] कुल मिलाकर देवसम्मत शब्दवृत्ति का खाका इसप्रकार बनता है—



उपर्युक्त वर्गीकरण का आधार तात्पर्यार्थ का निवेश है। देव के मत में तात्पर्यार्थ कहीं वाच्य, कहीं लक्ष्य और कहीं व्यंग्य पर आधारित होता है और इनके परस्पर विनियोग तथा बलाबल के आधार पर शुद्ध या संकीर्ण अथवा संकीर्ण के भेद मान्य होंगे। उपर्युक्त विवेचन में हमारा उद्देश्य देवसम्मत वर्गीकरण का औचित्य-परीक्षण नहीं है, बल्कि हमें सिर्फ यह देखना है कि किसप्रकार देव ने शब्दवृत्तियों में संश्लेष प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि 'तात्पर्यार्थ' को नाभिक मानकर देव ने अन्य पारम्परिक शब्दवृत्तियों का संश्लेष उपस्थित किया है और वे मानते हैं कि अभिधा, लक्षणा, व्यंजना वस्तुतः पृथक् अस्तित्ववाची नहीं, बल्कि चित्तवृत्ति का ही प्रकट रूप है और अपनी इस बुनियादी धारणा की पुष्टि में उन्होंने

---

1. सुद्ध अभिधा है, अभिधा में अभिधा है, अभिधा मैं लक्षना है, अभिधा मैं व्यंजना कहो।
सुद्ध लक्षना है, लक्षना मैं लक्षना है, लक्षणा मैं व्यंजना है, लक्षना मैं अभिधा कहो।
सुद्ध व्यंजना है, व्यंजना मैं व्यंजना है, व्यंजना मैं अभिधा है, व्यंजना मैं लक्षना कहो।
तातपरजारथ मिलत भेद बारह, पदारथ अनंत, सबदारथ मते छहो॥
—शब्दरसायन, पृ० 12

अनेक संश्लेष उपस्थापित किये हैं। उनकी एक निश्चित योजना है, तात्पर्यार्थ-सिद्धि के रूप में। उन्हें आप चाहें तो अभिधावादी भी कह सकते हैं; किंतु वे दर-असल ऋजु अभिव्यक्ति पर बल देते हैं, इसीलिए अलंकार-प्रसंग में भी वे दो महत्त्वपूर्ण उद्भावनाएँ करते हैं—

(i) काव्य में दस रीतियाँ अर्थात् अर्थश्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, समाधि, कांति, ओज और औदार्य तथा अनुप्रास एवं यमक के कारण रसयुक्त शब्दार्थ से लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न होता है, इन्हीं रीतियाँ तथा अनुप्रास एवं यमक के कारण काव्य में अलंकारचारुत्व आता है, [1]

(ii) अनुप्रास तथा यमक, जिन्हें देव ने मूलतः शब्दचित्र का उपादान माना है, साथ ही अलंकृति, जो काव्य को गम्भीर अर्थवत्ता प्रदान करती है कहीं अलंकारवाद का रूप न लेले, इसलिए वे यह स्थापना भी देते हैं कि काव्य में अलंकृति के मूलतः दो ही आधार हैं—सादृश्यविधान (उपमा) तथा स्वभावोक्ति।[2] उपमा एवं स्वभावोक्ति के संस्पर्श से अलंकार प्रभविष्णु हो जाते हैं, देव की यह स्पष्ट मान्यता है।

इसीलिए, जैसा कि हमने पहले ही कहा है कि देव ऋजु, एवं सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति पर बल देते हैं। अतः उनकी दृष्टि में लक्षणा और व्यंजना तथा समस्त अलंकारभेद काव्य के लिए तभी उपयोगी हैं जब वे ऋजु अभिव्यक्तिजन्य चारुत्व के संपोषक हों, अन्यथा उनका कोई उपयोग नहीं। यहाँ देव को रसध्वनिवाद के के अनुकूल कहा जा सकता है, लेकिन वे ध्वनिमत से एक अर्थ में भिन्न पड़ते हैं कि काव्य को रसाक्षिप्त करने के लिए वे 'व्यंजना' को अनिवार्य नहीं मानते। व्यंजना भी उन्हें तभी स्वीकार है, जब वे काव्य को सरस बनाने में सहज उपयोगी

1. कहत, लहत, उमहत हियो, सुनत, चुनत चित प्रीति।
शब्द, अर्थ, भाषा भुरस (सुरस), सरस (बसत) काव्य दस रीति।
अनुप्रास अरु यमक युत, अद्भुत बारह भाँति।
इन्हैं आछत नीकी लगै, अलंकार की पाँति॥

—शब्दरसायन, पृ० 72-73

2. अलंकार में मुख्य हैं, उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारनि विषै, परसत प्रगट प्रभाव॥

—शब्दरसायन, पृ० 94

हो – दूर की कौड़ी वाली लक्षणा या व्यंजना के ये क़ायल नहीं और इसीलिए 'अभिधा उत्तम काव्य है' की घोषणा भी वे करते हैं।

5·8·3. क. ऊपर हमने देवसम्मत दस काव्यरीति की चर्चा की है। शब्द संबंधी अपनी विशिष्ट धारणा के कारण ही देव ने दस काव्यरीति का विवेचन किया है।

देवसम्मत दस काव्यरीतियाँ इस प्रकार हैं – अर्थश्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, समाधि, कांति, ओज और औदार्य। शब्द और अर्थ के साथ भावविशेष के योग के कारण ये काव्यरीतियाँ उत्पन्न होती हैं।[1] देवसम्मत ये रीतियाँ भरत, दण्डी आदि के काव्यगुण हैं। विद्वानों ने इन्हें देवसम्मत काव्यगुण मानकर विचार किया है, साथ ही देव की आलोचना यह कहकर भी की है कि "उन्होंने अनुप्रास और यमक को भी काव्यगुण या रीति मान लिया है, जो सर्वथा असंगत है।"[2] हमारे विचार से दोनों ही बातें सही नहीं हैं। देव ने काव्यरीति का विवेचन किया है, काव्यगुणों का नहीं, साथ ही उन्होंने काव्यरीति दस ही माने हैं, अनुप्रास और यमक शब्दचित्र की विशिष्ट रीतियाँ बतलाई गयी हैं, काव्यमात्र की नहीं, यों सामान्यत: अनुप्रास और यमक की स्थिति को भी अलंकार-संदर्भ में वे उपयोगी मानते हैं, बशर्ते वे रससंपोषक हों। आगे के विवेचन से बात स्पष्ट हो जायेगी।

ख. (i) रीति है क्या ? देव ने 'शब्द-अर्थ' और 'भाव' के योग से प्रतिफलित संघटना को रीति कहा है—"कहत, लहत, उमहत हियो, सुनत चुनत चित प्रीति' यह भावपक्ष है, इसका योग जब रस के आग्रह से शब्द और अर्थ के साथ होता है, तब जो भाषा (संघटना) प्रतिफलित होती है, वही रीति है—'शब्द-अर्थ दस भाव मिलि, निकलें ये दस रीति' का यही स्वारस्य है। वस्तुत: देव का प्रयत्न यह है कि रसध्वनिवादी रसाश्रित गुणसिद्धांत तथा दण्डी, उद्भट आदि का संघटनाश्रित गुणसिद्धांत के सम्मिलन बिंदु की खोज की जाय। गुणविवेचन के क्रम में न तो

1. अर्थश्लेष, प्रसाद, सम, मधुर भाव सुकुमार।
अर्थ सुव्यक्ति, समाधि अरु, कांति, सुओज उदार॥
शब्द-अर्थ दसभाव मिलि, निकसैं ये दस रीति॥

—शब्दरसायन, पृ० 73

2. डॉ० नगेन्द्र, काव्यालंकार सूत्र की भूमिका, पृ० 156, डॉ० शोभाकांत मिश्र, काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन, पृ० 203 तथा अन्य।

भावतत्त्व की उपेक्षा की जा सकती है और न उसके नादपक्ष का 'बाह्य' कहकर पूर्ण निषेध। यह यथार्थ स्थिति है; क्योंकि काव्य में भावतत्त्व ही अभिव्यक्त होता है और तथाकथित बाह्यपक्ष अर्थात् शब्दसंघटना के बगैर अभिव्यक्ति ही अस्तित्व-हीन हो जाती है, तब भावतत्त्व का ही एकमेव वर्चस्व का प्रश्न ही नहीं उठता। और, देव व्यंजनावादी तो थे नहीं जो व्यंजना-व्यंजना की रट लगाकर अभिधा (यथार्थ) को भूल जाते। अत: उन्होंने 'गुण' का प्रश्न उठाया ही नहीं, रीति का प्रश्न उठाया और वह भी काव्यरीति का प्रश्न। यह काव्यरीति एक तरफ वामन की रीति से भिन्न है, जिसे वे विशिष्ट पदसंघटना मात्र मानते हैं, दूसरी तरफ यह रसध्वनिवादियों के रीति-संप्रत्यय से भी अलग है, जिसके अनुसार द्रुति, दीप्ति एवं व्याप्तिरूप चित्तवृत्ति के आधार पर गुणत्रय तथा तदनुकूल रसाश्रित संघटनारूप रीतियाँ तय होती है। देव की काव्यरीति दरअसल रीतिकाव्य की काव्यरीति है, जिसे केशव ने 'बरनन पंथ' कहा है (कविप्रिया, 3/1), तो पद्माकर ने 'कबिन को पंथ' (पद्माभरण, छं-सं-1) और भिखारीदास ने 'कविपंथ' (काव्यनिर्णय, 1/5)। भिखारीदास ने काव्यरीति की चर्चा करते हुए कहा था—काव्य की रीति सिख्यों सुकवीन सों, देखी सुनी बहुलोक की बातें (काव्यनिर्णय, 1/12)। देव वस्तुतः इसी व्यापक अर्थ में 'काव्यरीति' का प्रयोग करते हैं और उनकी दस काव्यरीतियाँ, रीतिकालीन काव्य की विशिष्ट भाषिक संरचना के कविसिद्ध मार्ग की द्योतक हैं।[1] ध्यातव्य है कि देव शब्द और अर्थ को चित्तव्यापार के आश्रित मानते हैं, गुण की वे चर्चा भी नहीं करते। दूसरी ओर भाव के योग से ही शब्द और अर्थ काव्यरीति का रूप ग्रहण करते हैं। इस प्रकार काव्यरीति की नियामक भी, शब्द और अर्थ के माध्यम से, चित्तवृत्ति है। अतः एतद्विषयक देव का सूत्र बनता है—

चित्तवृत्ति > शब्द और अर्थ > काव्यरीति।

रीतिकाल के संदर्भ में यह चित्तवृत्ति वस्तुतः कविरीति है, रीतिकाव्य की विशिष्ट भाषिक संरचना का संकेत 'शब्द, अर्थ, भाषा, सुरस, बसत काव्य दस रीति' में है, इन्हीं से रीतिकाव्य की आदर्श दसविध काव्यरीतियाँ तय होती हैं। अतः दशविध काव्यरीतियाँ वस्तुतः रीतिकाव्य की भाषिक संरचना के देवसम्मत दस रूपों को

---

1. रीतिकालीन 'काव्यरीति' धारणा के विशेष विवेचन के लिए देखें : रीति-साहित्य को बिहार की देन, प्रथम एवं पाँचवा अध्याय।

रेखांकित करती हैं। इसीलिए काव्यपुरुष का एक और संशोधित रूप देव ने दिया है, जिसमें 'रीति' को काव्यचरण कहा गया है—

शब्द जीव तेही अर्थ मनु, काव्य सुसरस सरीर।

चलत रीति सो छंद गति, अलंकार गंभीर॥ —शब्दरसायन, पृ॰72

देव के मत में दशविध काव्यरीतियाँ काव्यपुरुष के चरणों के सदृश हैं, जिनके आधार पर वह खड़ा हो पाता है। स्पष्ट है कि काव्य के प्रसार-प्रचार का आधार उसका रीतिसौष्ठव और प्रौढ़ता है।

(ii) दूसरा सवाल है 'अनुप्रास और यमक को गुण मानने का, तो स्थिति यह है कि देव ने उन्हें गुण कहा ही नहीं है, अतः देव पर 'असंगत-निरूपण' का आरोप ही असंगत है।

बात दरअसल यह है कि देव ने पहले तो दशविध काव्यरीति की चर्चा की और श्लेषादि काव्यरीति ही मुख्यतः उन्हें मान्य है; लेकिन रीतिकाव्य में अनुप्रास तथा यमक का भी विशेष आग्रह उन्हें नजर आया। देव यह स्वीकार करते हैं कि अनुप्रास और यमक मुख्यतः चित्रकाव्य के आधार होते हैं, लेकिन चित्रकाव्य से इतर यदि अनुप्रास तथा यमक का सरस प्रयोग होता है, तब क्या उसे सिर्फ इसलिए भर्त्सना का पात्र माना जाएगा कि वहाँ अनुप्रास या यमक है? देव को यह स्वीकार नहीं, इसीलिए वे सरस अनुप्रास तथा यमक को प्रांजल काव्यरीति की कोटि में रखते हैं, और यह भी मानते हैं कि उनसे शेष दस काव्यरीति 'सनाथ' ही होती है।[1] सिर्फ चित्रकाव्य अर्थात् विभिन्न चक्र आदि के आधार बने अनुप्रास और यमक को काव्यरीति मानने को देव भी तैयार नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि रसानुषंगी अनुप्रास तथा यमक को देव अलंकारमात्र के लिए रुचिकर तथा चारुत्वोत्कर्षक मानते हैं।

ग. काव्यरीति के संदर्भ में एक अन्य विवादास्पद व्यवस्था देव ने की है— उन्हें नागर और ग्राम्य काव्यरीति के रूप में विवेचित करके। डॉ॰ नगेन्द्र ने नागर और ग्राम्य विभाजन (?) पर आपत्ति करते हुए कहा है कि……देव की अन्य उद्भावनाओं की भाँति यह भी महत्त्वहीन ही है और एकप्रकार से असंगत भी, क्योंकि पहले तो मानव-स्वभाव में नागर और ग्रामीण का मूलगत भेद मानना

---

1. अनुप्रास अरु यमक कहि, है सनाथ रस रीति।
   याते द्वादस रीति रस, कवि बरनत करि प्रीति॥ —शब्दरसायन, पृ॰ 85.

ही युक्तिसंगत नहीं है (देव अपने उदाहरणों द्वारा यह अन्तर स्पष्ट करने में प्रायः असफल रहे हैं), फिर यदि इस स्थूल भेद को स्वीकार भी कर लिया जाए, तो कांति, उदारता आदि कतिपय गुण ऐसे हैं जिनके लिए आग्राम्यत्व अनिवार्य है। ऐसी दशा में इनके भी नागर और ग्रामीण भेद करना इनकी आत्मा का ही निषेध करना है "[1] उपर्युक्त धारणा की बुनियादी विप्रतिपत्ति यही है कि जिसे देव काव्य-रीति कह रहे हैं, डॉ० नगेन्द्र उसे काव्यगुण मानकर विचार करते हैं।

इस विषय में देव का पक्ष इस प्रकार है :

(i) काव्य की श्लेष आदि दस काव्यरीतियाँ हैं,

(ii) इन काव्यरीतियों में नागर (आभिजात्य) तथा ग्राम्य (गँवई)—दोनों पद्धतियों पर रचना की जा सकती हैं,

(iii) नागरपद्धति में गुणों का सम्यक् एवं सरस निवेश होता है, जबकि ग्राम्यपद्धति में रस की दृष्टि से रुचिहीनता ही दृष्टिगत होती है। इस अन्तर को अभिजात सहृदय ही समझ सकता है।[2] डॉ० नगेन्द्र की इस आपत्ति का कि "कांति, उदारता आदि में अग्राम्यत्व अनिवार्य है, अतः उनमें भी ग्राम्य भेद बतलाना उनकी आत्मा का निषेध करना है" का समाधान यहीं हो जाता हैं। देव काव्यपद्धति का विवेचन कर रहे हैं, काव्यगुण का नहीं और अभिजात सहृदय के लिए ग्रामीण काव्यपद्धति अपने खुलेपन के कारण अरुचिकर प्रतीत होती है—इसमें ग्राम्य अथवा अग्राम्य गुणों के समावेश होने अथवा नहीं होने का प्रश्न ही प्रासंगिक नहीं है।

(iv) नागर और ग्राम्य काव्यरीति के भेद नहीं हैं, जैसा कि डॉ० शोभाकांत मिश्र ने मान लिया है (और इसी विभ्रम में उन्होंने अनुप्रास तथा यमक को भी देवसम्मत गुण मानकर, उनके द्वारा निरूपित गुणों की संख्या बाइस मान ली है)[3] बल्कि ये काव्यपद्धतियाँ हैं। नागर

---

1. काव्यालंकार सूत्र की भूमिका, पृ० 158.
2. दसौ रीति ये द्वै द्विविधि, नागर अरु ग्रामीन।
   नागर गुन आगर दुतिय, रस-सागर रुचि हीन॥
   नागर अरु ग्रामीन गति, समुझत परम प्रबीन। —शब्दरसायन, पृ० 73.
3. काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन, पृ० 203.

काव्यपद्धति में चूँकि तराश और पॉलिश अधिक होती है, इसलिए वहाँ विरस प्रसंग को भी सरस बनाया जा सकता है, जबकि ग्राम्य काव्यपद्धति में खुलापन और साफगोई होती है, फलतः उसका सरस प्रसंग भी अभिजात सहृदय को अरुचिकर लगता है।[1] वस्तुतः विदग्ध एवं सावधान शब्दप्रयोग तथा रसयोजना नागर काव्यपद्धत्ति का वैशिष्ट्य है और खुलापन लिए, अभिजात दृष्टि से अभव्य पदप्रयोग तथा अनगढ़ बंधप्रयोग ग्राम्य काव्यपद्धति का; जिसमें 'रस' तो होता है, पर आभिजात्य रसयोजना नहीं। देव काव्य की ग्राम्य-पद्धति को श्रेष्ठ काव्य मानते भी नहीं।[2]

स्पष्ट है कि देव के चिंतन में पर्याप्त ताजगी है। 'शब्द' को चित्तवृत्ति के आश्रित मानना, उसे काव्य का जीवित मानना, अभिधा-लक्षणा-व्यंजना को चित्तवृत्ति से अभिप्रेरित तात्पर्यार्थ-बिन्दु पर एकात्मक मानना; तात्पर्यार्थ की अति-व्याप्ति, व्याप्ति तथा अल्पव्याप्ति के कारण एक ही शब्द को वाचक, लक्षक, व्यंजक रूप में क्रियमाण मानना, गुण के स्थान पर दशविध काव्यरीति मानना आदि कुछ ऐसी मान्यताएँ हैं, जो देव को काव्यगत चिंतन की दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व प्रदान करती हैं। 'जीवंत शब्द ही काव्य है,' इस बुनियादी अवधारणा पर देव ने योजनाबद्ध तरीके से शब्द के काव्यगत विभिन्न संदर्भों तथा भूमिकाओं को स्पष्ट किया है।

सोमनाथ

5·10·1. सोमनाथ ने किंचित् भिन्न दृष्टि से प्रश्न को उठाया है। शब्द के दो रूप हैं—ध्वनि और अक्षर। जो सुनाई पड़ता है, वह ध्वनि है। चित की वृत्ति अथवा व्यापार के आधार पर सुनि हुई ध्वनि से जो वस्तुज्ञान अथवा 'समझ' आती है, वही अर्थ है :

---

1 अनरस रस, अनरथ अरथ, सुबचन कुबचन माँह।
बैरि प्रीति, अनुचित उचित, नागर अनचह चारू॥
रस में अनरस, अरथ में अनरथ, बोल-कुबोल।
जोग्य पदन अजोग्यता, प्रगट ग्रामगति लोल॥ —शब्दरसायन, पृ० 74.

2. अर्थ शब्द सुन्दर सरस, प्रगट भाव रस प्रीति।
उत्तम काव्य सु सब गुनन, आगर नागर रीति॥
असभ्य बंध अभव्यपद, रस अनसव्य मलीन।
प्रगट ग्राम्य कविता अधम, मध्य-मध्य बिधि पीन॥
—शब्दरसायन, पृ० 84।

सुनिए श्रवननि शब्द सुआनौं, समझै चित अर्थ वह जानौं,
ध्वनि अरु बरन सब्द उर आनौं, द्वै बिधि कबि बरनत सजि बानौं ।।
रसपीयूषनिधि, 6/14 ।

ताल, मृदंग, डफ, ढोलक अन्य वाद्ययंत्र ध्वनिमय होते हैं, ग्रंथ अथवा साहित्य अक्षरमय होता है ।[1]

5·10·2. सारा लेखन ही वैसे अक्षरमय होता है, अतः दूसरा प्रश्न यह है कि काव्य अन्य अक्षरमय लेखन से किस आधार पर भिन्न है ? सोमनाथ ध्वनिमत के अनुकूल ही काव्य के व्यवच्छेदक तत्त्वों की चर्चा करते हैं कि व्यंग्यरूप प्राणवत्ता के कारण काव्य का शब्दार्थमय शरीर (अन्य अक्षरमय लेखन की तुलना में) पृथक होता है ।[2]

सोमनाथ शब्दार्थ को काव्य का प्राणवान् शरीर मानते हैं । जैसे प्राणवान् शरीर के आधार पर ही पुरुष के जीवित होने का ज्ञान होता है, वही स्थिति काव्य के साथ भी है। शब्दार्थमय प्राणवान् शरीर ही काव्यपरख की पहली शर्त्त है: दोष, गुण और अलंकार आदि विधि-निषेध से पुनः ऐसे तत्त्व हैं, जिनके माध्यम से काव्य के प्राणतत्त्व अथवा आंतरिक सामर्थ्य अर्थात् व्यंग्य की पहचान हो पाती है ।[3]

इसप्रकार सोमनाथ ने प्रयत्न यह किया है अवश्य कि अक्षरमय लेखन से पृथक् प्राणवान् अक्षरमय लेखन के रूप में काव्य को स्थापित किया जा सके, लेकिन इसपर वे कोई गंभीर विमर्श नहीं पर कर सके ।

भिखारीदास

5·11·1. काव्यगत शब्दचिंतन की दृष्टि से भिखारीदास की गुणधारणा विशेषतः गुणों का वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण है। इनके समस्त चिंतन का नाभिक है, रस ।

---

1. ध्वनिमय ताल मृदंग डफ, ढोलक तंत्री जानि ।
अक्षरमय ग्रंथनि सकल बरनत कबि हित ठानि ।।
—रसपीयूषनिधि, संपादक पं० सुधाकर पाण्डेय, सभा० प्रकाशन, सं० 2029 वि०; 6/16.

2. व्यंगि प्रान अरु अंग सब, सब्द अरथ पहिचान ।।—रसपीयूषनिधि, 6/6

3. जीव ग्यान फिरि होतु हैं, प्रथम निरखि यहि देह ।
दोष और गुन अलंकृत लखियति बहुरि सनेह ।।
—रसपीयूषनिधि, 6/13

यद्यपि वे पदार्थ, अलंकार, ध्वनि, गुण,[1] चमत्कार आदि की चर्चा भी करते हैं; परंतु उनकी चिंतनप्रक्रिया से स्पष्ट है कि काव्यसन्दर्भ में अलंकार आदि रसोत्कर्ष हेतु अथवा 'रुचिर हेतु' ही है।[2] रससारांश में तो वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि वाणीरूपी अनुपम लता में काव्यरूपी अमृतरसमय फल होता है, इस काव्यरूपी अमृतरसमय फल को महाकविगण प्रकट करते हैं, लेकिन रस तो रसिक ही जानता है।[3]

5·11·2. रसदृष्टि से ही काव्यगुण पर भी भिखारीदास विचार करते हैं। गुण पर पारंपरिक रूप में संघटनाश्रित अथवा रसाश्रित दृष्टि से ही विचार होता आया है। रसाश्रित गुणधारणा के अन्तर्गत त्रिविध चित्तवृति—द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति के आधार पर तीन गुण—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद मान्य रहे हैं और भिखारीदास को भी यह मत स्वीकार्य है; किन्तु वे दण्डी-वामन आदि की दशगुण मतसरणि को भी अस्वीकार नहीं कर पाते। भिखारीदास के सामने भी वे ही पुराने सवाल थे कि—

(i) गुण रसाश्रित ही हैं ?

(ii) गुण संघटनाश्रित ही हैं ?

(iii) गुण तात्त्विक दृष्टि से रसाश्रित हैं तो औपचारिक दृष्टि से संघटनाश्रित ?

भिखारीदास को तीसरा विकल्प स्वीकार है। फिर भी यह प्रश्न शेष ही रह जाता है कि यदि गुण तत्त्वतः रसाश्रित तथा उपचार से संघटनाश्रित हैं, तो दोनों का समन्वय बिन्दु कौन सा है ? भिखारीदास ने तत्वतः रसाश्रित तथा

---

1. जानै पदारथ भूषन मूल रसांग परांगनि में मति छाकी।
स्यों धुनि अर्थनि वाक्यनि लै गुण सब्द अलंकृत सों रति पाकी॥
चित्र कबित्त करै तुक जानै न दोषनि पंथ कहूँ गति जाकी।
उत्तम ताको कबित बनै करै कीरति भारतियौ अति ताकी॥
काव्यनिर्णय, 1/18, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

2. रुचिर हेतु, रस को बहुरि, अलकार जुत होइ।
चमत्कार गुनजुक्त है, उत्तम कबिता सोइ॥ —काव्यनिर्णय, 8/6।

3. बानी लता अनूप, काव्य-अमृतरस फल फली।
प्रगट करै कबिभूप, स्वाददेवता रसिक जन॥
—रससारांश छं० सं० 6, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

उपचार से संघटनाश्रित गुण की सिद्धि के लिए तीन विचारबिन्दु प्रस्तुत करते हैं :

(क) काव्य के माधुर्यादि दशगुण, उपचार से ही सही सिद्ध हैं। माधुर्य, ओज और प्रसाद के रूप में त्रिविध रसाश्रित गुण की परिकल्पना में वे दशगुण तत्त्वतः अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।[1]

(ख) जैसे सज्जनों के हृदय में सौंदर्यादि गुण सन्निविष्ट रहते हैं, वैसे माधुर्य-आदि दशगुण भी विदग्धजनों के हृदय में सन्निविष्ट होते हैं।[2] माधुर्यादि दशगुण सहृदय के सहज-स्वभाव अर्थात् वासनारूप होते हैं, यह धारणा परंपरा से हटकर है। पारंपरिक रूप में रति आदि स्थायीभाव को ही सहृदय की वासना के रूप में माना जाता रहा है। भिखारीदास गुण को भी सहृदय की वासना अथवा प्रकृति का ही रूप मान लेते हैं। उनकी यह धारणा भी वस्तुतः रसाश्रित गुणसिद्धि को ही पुष्ट करती है। इस रूप में काव्य के दशगुण रसास्वाद के सहजरूप (स्थायीभाव की तरह) तो हैं ही, साथ ही कवि की सरस काव्यसर्जना के भी सहजरूप बन जाते हैं। वस्तुतः काव्यगुणों के दस या उससे अधिक संख्या मानने के पीछे आचार्यों का दृष्टिकोण कवि तथा रचनापक्ष से गुणविवेचन ही रहा है, सिर्फ रसदृष्टि से गुण-विवेचन में कवि तथा रचनापक्ष का सम्यक् उद्घाटन नहीं हो पाता। इस द्वन्द्व को सुलझाने के लिए यह आवश्यक था कि गुण को भी स्वभाव, वासना या चित्त-वृत्ति से जोड़ा जाता, भिखारीदास इस दिशा में प्रयत्नशील अवश्य होते हैं, किन्तु विदग्धहृदय में ही स्वभावगत स्थिति तक गुण को सीमित कर देते हैं। अब अगर कवि को भी विदग्धहृदय मान लिया जाय, तक तो बात बन सकती है, अन्यथा अवधारणिक विकास के एक दिशासंकेत के अलावा और कोई बात नहीं बनती। फिर भी भिखारीदास ने एक महत्त्वपूर्ण दिशा संकेत दिया है, इतना भी कम नहीं है।

(ग) गुणसंदर्भ में रस एवं संघटना सम्बन्धी अवधारणिक विकल्प तथा इस विषय में भिखारीदास के वैचारिक द्वन्द्व को उनके गुणवर्गीकरण में देखा जा सकता है। एक तरफ उनकी यह घोषणा कि 'रस ही में होत गुन, बर्नहिं गनै सुबादि (काव्यनिर्णय, 19/63), और दूसरी तरफ माधुर्य, ओज और प्रसाद को

1. दस बिधिगुण के कहत हैं, पहिले सुकवि सुजान।
पुनि तीनै गुण गहि रच्यो, सब तिनके दरम्यान॥ —काव्यनिर्णय, 19/1.
2. ज्यों सतजन-हिय तें नहीं सूरतादि गुन जाइ।
त्यों बिदग्ध-हिय में रहैं, दस गुन सहज सुभाइ॥ —काव्यनिर्णय, 19/2

अक्षरगुण मानने में स्पष्ट ही विरोध है। इस विरोध को भिखारीदास ने नहीं जाना हो, ऐसी बात नहीं। इसी विरोध को दूर करने के लिए उन्होंने काव्य के दशगुणों के चार नये वर्गों की कल्पना की, जो काव्यभाषा के संघटनात्मक पक्ष को उद्घाटित करते हैं। वे वर्गीकरण इसप्रकार हैं :[1]

अक्षर गुण---माधुर्य, ओज, प्रसाद
दोषहरणमूलक गुण---समता, कांति, उदारता
अर्थप्रकाशक गुण---अर्थव्यक्ति, समाधि
वाक्यगुण---श्लेष, पुनरुक्ति प्रतिकाश

अक्षर तथा वाक्य क्रमश: माधुर्यादि तथा श्लेष एवं पुनरुक्ति प्रतिकाश के प्रत्यक्ष आधार हैं। काव्यभाषा की दृष्टि से कवि की विशिष्ट चित्तवृत्ति अथवा मनःस्थिति के अनुकूल रचना में माधुर्यादियुक्त वर्णयोजना होगी तथा वही वर्णयोजना भिखारीदास की मतसरणि में सहृदय-हृदय में सहज वासनारूप माधुर्यादि को जाग्रत कर सकेगी। दोषहरणमूलक गुण समता, कांति तथा उदारता, भिखारीदास के अनुसार रचना में रूढ़रीतिबद्धता, ग्राम्यता तथा सपाटबयानी के विपरीत गुण हैं। प्रकारान्तर से ये रचनाशैली में नवीनता, गूढ़ एवं रुचिर अर्थ तथा वैदग्ध्य के वाहक हैं। अर्थप्रकाशक गुण में अर्थव्यक्ति के अन्तर्गत सहज अर्थबोध तथा अल्प-समासरचना का विधान है और समाधि में उत्तरोत्तर अर्थोत्कर्ष का। काव्यभाषा की संघटना में पर्याप्त ताजगी, गूढ़ एवं रुचिर अर्थ तथा विदग्धता (दोषहरण मूलक गुणों) से युक्त अक्षरबंध (माधुर्यादि), अर्थयोजना (अर्थप्रकाशक गुण) तथा वाक्यविन्यास हों, संक्षेप में यही भिखारीदास का पक्ष प्रतीत होता है।

(ii) दूसरी ओर उपर्युक्त दस काव्यगुणों के, गुणत्रय (माधुर्य, ओज तथा प्रसाद) में अन्तर्भाव सम्बन्धी रसध्वनिवादी सरणि को भी भिखारीदास ने मान्यता दी है। प्रथम वर्गीकरण के तहत माधुर्य, ओज और प्रसाद अक्षरगुण हैं और इस दूसरे वर्गीकरण के तहत समस्त गुणों का अंतर्भाव इनमें हो ही जाता है। तीसरी स्थिति यह है कि अनुप्रास भी अक्षर-व्यवस्था पर आधारित है। इनके अतिरिक्त मधुर वर्णों में उपनागरिका, ओजपूर्ण वर्णों में परुषा तथा प्रसादपूर्ण वर्णों में

---

1. अक्षर गुन माधुर्य अरु, ओज प्रसाद बिचारि।
समता कांति उदारता दूषनहरन निहारि॥
अर्थव्यक्ति समाधि, अर्थहि करैं प्रकास।
वाक्यनि के गुन स्लेष अरु पुनरुक्तप्रतिकास॥—काव्यनिर्णय, 19/3, 4

कोमला वृत्ति भी मानी गयी है। तात्पर्य यह है कि एक तरह से देखा जाय तो अनुप्रास तथा वृत्ति अक्षरविन्यास के ही रूप हैं। इनकी संगति क्या होगी ? भिखारीदास इनकी संगति के लिए पुनः रस का आश्रय लेते हैं। रसोत्कर्षरूप अक्षरविन्यास गुण है, अलंकाररूप अक्षरविन्यास अनुप्रास[1] और वृत्ति भी अनुप्रास का ही एक रूप है। वृत्ति का रसानुगुण-स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सका है, पर अक्षरविन्यास की गुण-अलंकाररूपता को भिखारीदास पूर्णतः स्पष्ट कर सके हैं। कुल मिलाकर काव्यगत शब्दचिंतन की दृष्टि से भिखारीदास सम्मत सूत्र इसप्रकार है :

चित्तवृत्ति > रसोत्कर्षक गुण > गुणयुक्त चमत्कार > काव्य

प्रतापसाहि

5·12·1. प्रतापसाहि का काव्यचिंतन ध्वनिवादी है और इसी दृष्टि से उन्होंने शब्दशक्ति एवं उत्तमादि काव्यभेद की चर्चा की है। प्रसंगवशात् उन्होंने काव्य-संदर्भ में शब्द की भूमिका की ओर भी संकेत किया है, और संयोग से वह संकेत काव्य की भाषिकसंरचना की दृष्टि से अभूतपूर्व संकेत बन जाता है। वह संकेत इसप्रकार है :

करत काव्य जे जगत में, बाणी अखिल बखानि।
शब्दमूर्ति ते जानिए, विष्णु अंश पहिचानि ॥ काव्यविलास, 1/11

प्रतापसाहि ने काव्य को शब्दमूर्ति कहा है। इस शब्दमूर्ति का सृष्टा कवि है और काव्य स्वयं वाक् सृष्टि। 'शब्द' को विष्णु अंश कहा गया है, क्योंकि वही काव्य का मूर्तरूप है और विष्णु अंश के रूप में उसकी पहचान होती है। त्रिदेवों में विष्णु पालनकर्त्ता हैं और इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रतापसाहि की दृष्टि में समस्त काव्यार्थ का पोषण शब्दों के माध्यम से ही होता है। शब्द काव्य-सर्जन के जीवंत माध्यम हैं, इसे तो सभी मानते हैं; पर वही उसके पोषक भी हैं, यह सिर्फ प्रतापसाहि मानते हैं। आचार्यों ने रसादि को काव्य का पोषक तत्त्व कहा है। वस्तुतः सर्जन और पोषण, काव्यसंदर्भ में कोई पृथक् व्यापार नहीं हैं; शब्दों की सर्जनशीलता में उसके पोषकतत्त्व भी संनिहित हैं। फिर भी प्रतापसाहि को इस बात का श्रेय देना ही पड़ेगा कि उन्होंने वाणी के समस्त विधानों का सादृश्य शब्द-मूर्ति से स्थापित करके तथा उसे विष्णुरूप मानकर शब्दों के सर्जनपक्ष (शब्दमूर्ति में

1. रस के भूषित करन तें, गुन बरने सुखदानि।
गुन-भूषन अनुमानिकै, अनुप्रास उर आनि ॥—काव्यनिर्णय, 19/34।

अव्यक्त को व्यक्त करने अथवा मूर्तन की ध्वनि) तथा काव्य में शब्दगुंफन के एक अन्य महत्त्वपूर्ण व्यापार—पोषण, के समयोग का प्रश्न उठाया है।

गोकुल प्रसाद 'बृज'

5·13·1 गोकुल से काव्यांगवर्णन के सिलसिले में कई रूपक बाँधे हैं, जिनसे काव्यगत शब्दव्यापार संबंधी उनके मत के निष्कर्ष निकाले जा सकते है —

क.	**कविता**	**वनिता (स्वकीया)**[1]
	शब्द	देह
	छंद	हाथ-पाँव
	व्यंग्य	मन, आत्मा
	ध्वनि	वाणी
	लक्षणा	हाव, भाव, कटाक्ष
	विभाव	श्रवण
	गुण	गुण
	वृत्ति	नासिका
	रीति	कुलमर्यादा
	अलंकार	वस्त्राभूषण
ख.	**कविता**	**वनिता(परकीया)**[2]
	शब्द	देह
	अर्थ	दीप्ति, कांति

---

1. सब्द देह पानि पग छंद व्यंग्य जीव मन मुख व्यञ्जन सो धुनि बानी निकसत है।
लक्षना द्विविधि अच्छ हाव-भाव है कटाक्ष, श्रवन विभाव गुन गुनै सरसत है ।।
नासिका विशद वृत्ति रीति कुल कानि बानि, भूषननि भूषन बसन बिलसत है।
कविता दसांग बर बनिता को 'कवि पति बृज' पुंज पुन्य ही ते दोउ दरसत है ।।
—दिग्विजयभूषण, 18/6, सं० डॉ०भगवती प्रसाद सिंह।

2. शुभ शब्द सुदेह है दीपति अर्थ सबै अँग रीति विमोहत है।
रस मंजुल है मन व्यंग्य सजीव विलास प्रिया गुन सोहत है ।।
'बृज' वृत्ति वयःक्रम भूषन भूषन एक न दूषन जोहत है।
कविता सम स्वच्छ बनी वनिता कवि नायक लोगन मोहत हैं ।।
—दिग्विजयभूषण, 18/7

रीति	अंगसौष्ठव
रस	मन
व्यंजना	आत्मा
गुण	विलास
वृत्ति	वयः क्रम
अलंकार	आभूषण
दोषहान	अवगुण राहित्य

ग. कविता	वनिता (सामान्या)[1]
(i) व्युत्पत्तिसिद्ध शब्द और अर्थ का काव्यगत रूपः अक्षर, पद आदि में ध्वनिसौंदर्य;	(i) सभी धन देते हैं, खजाने से निकाल-निकालकर जब गणिका नृत्य करती है;
(ii) रीतिसौष्ठव, काव्य-लक्षण, गुण, छंद, अलंकार, हाव-भाव-विभावादि से युक्त,	(ii) नृत्य में पायल की गूँज, देहयष्टि, शुभलक्षणों से युक्त विलास, आभूषणों से सजी, लयबद्ध हाव-भाव-प्रदर्शित करती गणिका
(iii) मनोमुग्धकारी त्रिविध (अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जनात्मिका) कविता।	(iii) मनोमुग्धकारी त्रिविध (स्वकीया-परकीया-गणिकारूप) वनिता।

पहला रूपकबंध बहुत स्पष्ट नहीं है, लेकिन दूसरे-तीसरे में गोकुल ने कुछ विशिष्ट संकेत दिये हैं, जैसे—अर्थ को दीप्ति या कांति, रीति को अंगसौष्ठव, गुण को विलास तथा वृत्ति को वयःक्रम बतलाना।

(i) दीप्ति या कांति के लिए दण्डी ने 'दीप्त रसत्वं कांति' बहुत पहले ही कह रखा था, अर्थात् कांति रस का प्रतिफलित प्रभाव है। दूसरी ओर दीप्ति या

---

1. सबदै अरथ बित पति कोस तो निकारि, पद ते परम धुनि कढ़तै रहतु है।
मोहै मन लक्ष्य सुभ लक्षणै अनेक रीति, नेम महाजन ही की जामै निबहतु है ॥
गुण गन भूषन विभूषि जल देशकाल छंद बंद हाव तनुभाव उपहतु है।
भारती की लाड़िली है कविता त्रिविध भाँति, बनिता की जैसी तीनि जाति दरसतु है ॥

—दिग्विजयभूषण, 18/8

कांति लावण्य का पर्याय भी है, देहयष्टि के संदर्भ में इसे स्वास्थ्य से उत्पन्न चमक भी कहते हैं। 'अर्थ' को शब्द के संदर्भ में दीप्ति कहे जाने का तात्पर्य अर्थसौंदर्य तथा चमत्कार भी हो सकता है और इसे त्रिविध शब्दव्यापार का द्योतक भी माना जा सकता है। 'अर्थ' को शब्द की दीप्ति बतलाते समय गोकुल का तात्पर्य उपर्युक्त विविधसंदर्भों के अतिरिक्त कदाचित् शब्द का व्यापक अर्थरूप विवर्त तथा अर्थच्छायाओं को संकेतित करना भी रहा हो। जो भी हो, संकेत महत्त्वपूर्ण है।

(ii) रीति को अंगसौष्ठव कहा जाना वस्तुतः समंजित-संतुलित पदरचना की ही संपुष्टि है। वामन के साक्ष्यानुसार पदरचना का वैशिष्ट्य गुणाश्रित होता है। गोकुल गुणों को विलास के सदृश बतलाते। विलास चांचल्य एवं सौंदर्यविच्छित्ति का पर्याय होता है। अतः अंगसौष्ठव जहाँ शरीर के अंगों के सम्यक् स्वास्थ्य एवं संतुलन को कहते हैं, विलास उक्त अंगसौष्ठव की प्रभविष्णुता तथा सौंदर्य के मूल में निहित चित्तवृत्ति का व्यक्त पक्ष है। इसी सादृश्य पर गोकुल रीति और गुण के वैशिष्ट्य को स्पष्ट करते हैं। रीति और गुण अर्थात् पदरचनासौष्ठव तथा चित्तवृत्ति के गुणरूप विलास का सम्यक् संतुलन, काव्यमात्र के अपेक्षित संघटनापक्ष हैं।

(iii) चित्त की रसावस्था के व्यंजक अक्षरविन्यास को वृत्तियाँ कहा जाता है। गोकुल ने गणिका नायिका के वयःक्रम के सादृश्य पर वृत्ति की व्याख्या की है। नायिका का बयःक्रम स्वयं उसके तथा उसके प्रति नायक के चित्त की रसावस्था का प्रेरक तो होगा ही। इसी आधार पर गोकुल ने वयःक्रम तथा वृत्ति की सादृश्यकल्पना की हैं; यद्यपि सांगोपांग सादृश्य स्थापित नहीं हो पाता, लेकिन वृत्ति की रसावस्था व्यंजकता का स्पस्टीकरण हो जाता है।

5·13·2. एक अन्य प्रसंग में 'दिग्विजयभूषण ग्रंथ' का परिचय इस प्रकार दिया गया है कि उसे काव्यभाषा का विश्लेषण भी कहा जा सकता है :

सुभग शब्द सुंदर पट राजै, गुनगान ललित ललाम ।।
रतन पदारथ रुचि प्रकाश करि, जतन जुक्ति अभिराम ।।
सुबरन रूप अनूप अङ्ग त्यौं, बरनत हैं गुनधाम ।।
ग्रंथ दिग्बिजै भूषन करि 'बृज', पंथ पुंज अभिराम ।।

—दिग्विजयभूषण 6/2

अर्थात् यह दिग्विजयभूषण एक ऐसे पट के रूप में है जिसका वस्त्र अत्यन्त सुंदर (सुभग शब्द) है, वह वस्त्र उत्तम एवं सुंदर धागे से बुना गया है (गुण), जिसमें

जड़े विविध रत्न झिलमिल करते प्रकाशवान हैं (अर्थ), वह बड़ी सावधानी से बुना या रचा गया है (युक्ति), जिसके परिणामस्वरूप उसमें अभिनव सौंदर्य आ गया है (अभिराम), सोना-चाँदी (अलंकार, सौशब्द्य, वर्णमैत्री) की सुरुचिपूर्ण कसीदेकारी (रचनाकौशल) से यह पटवस्त्र निर्माणकला (कविकर्म, कविपंथ) का अनुपम उदाहरण है।

सौशब्द्य, दीप्ति, सौष्ठव, मनोहारिता, मनस्विता, प्राणवत्ता, शोभा, युक्ति, चारुत्व आदि सभी काव्य के शब्दबंध के ही कविकर्मलब्ध विविध विशेषण हैं। वस्तुतः इनके माध्यम से गोकुल काव्यगत समस्त शब्दलालित्य की ही चर्चा कर रहे होते हैं।

बिहारीलाल भट्ट

5·14·1. बिहारीलाल भट्ट ने 'साहित्यसागर' में पूर्ववर्ती काव्यलक्षणों का संकलन प्रस्तुत किया है, लेकिन इसरूप में कि शब्द की काव्यात्मक भूमिका स्पष्ट हो सके और उसके बाद अपनी धारणा रखी है :[1]

(i) काव्यांगों से युक्त रुचिकर अर्थसमन्वित पदावली :

जिहि पद अवली में रहै, रुचिकर अर्थ अनूप;
काव्य अंग सुन्दर सजै, काव्य कहत कविभूप।

(ii) सहृदयसाक्षिक इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली :

इस्थित अर्थ अभीष्ट जहँ, पद-रचना-बिच होय;
सहृदय हिय अनुभव करें, काव्य कहावत सोय।

(iii) रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द, सौशब्द्य :

देय अर्थ रमनीय अति, जाको शब्द सुरूप;
ऐसी रचना को कहत, कबिजन काव्य अनूप।

(iv) प्रति पद लोकोत्तर आनंद, वक्रता :

जामें प्रति पद पाइयतु, लोकोत्तर आनंद;
ताको काव्य बखानहीं, जे कबिकुल चंद।

(v) रमणीय अर्थवान् शब्द, गद्य या पद्य :

रमन जोग प्रगटें अरथ, सब्द-सब्द प्रति जोय;
गद्य या पद्य हो, काव्य कहावत सोय।

---

1. साहित्यसागर, सं० पंडित लोकनाथ द्विवेदी, प्रथम भाग, पृ० 24-25।

(vi) रस, वृत्ति, रीति, लक्षण तथा रसोत्कर्षक अलंकृति :

वाक्य रसात्मक काव्य है, सरस अलंकृत जोय,
वृत्ति-रीति लच्छन सहित, काव्य कहावत सोय ।

(vii) चमत्कारी शब्द और अर्थमय उक्ति :

सब्दहु महँ अरु अर्थ महँ, चमत्कार कछु होय;
कबि 'बिहार' अस कथन जहँ, काव्य कहावत सोय ।

—साहित्यसागर, द्वितीय तरंग

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती काव्यलक्षणों के संकलन में भी बिहारीलाल भट्ट की दृष्टि शब्दगत लक्षणों पर ही टिकी है। ऐसा इसलिए हुआ है कि स्वयं उनका अपना अभिमत भी चमत्कारी शब्दार्थमय उक्ति के पक्ष में है। संक्षेप में उक्ति-चमत्कार ही, बिहारीलाल भट्ट के अनुसार काव्य है, यह उक्ति-चमत्कार सिर्फ शब्द या अर्थ में नहीं; बल्कि शब्द और अर्थ दोनों में सम होना चाहिए। इसप्रकार बिहारीलाल भट्ट ने भोज और विश्वेश्वर की धारणाओं का संश्लेष प्रस्तुत किया है।

निष्कर्ष

5·15·1. काव्यगत शब्दचिंतन के विकास की इस चतुर्थ प्रावस्था में, यद्यपि कोई केन्द्रीय समस्या नहीं है और न हीं किसी गंभीर विचार-विमर्श की कोशिश नजर आती है। फिर भी कई महत्त्वपूर्ण समीकरण मिलते हैं, और चूँकि ये समीकरण काव्यसन्दर्भ से ही प्राप्त आनुषंगिक निष्कर्ष हैं, अतः इन्हें काव्यशिल्प के प्रति जागरूकता का परिचायक भी माना जा सकता है। उपलब्ध समीकरण निम्नांकित हैं :

(क) सौशब्द्य (प्रौढ़ शब्दयोजना एवं रसयुक्त प्रगाढ़बंध) > सालंकार (अलंकृत पदसंघटना, सामासिक वक्रता, सुन्दर वर्णरचना, लयात्मकता) > सुभाषित या सूक्ति : स्वयंभू

(ख) वागर्थ-परमाद्वैत : तुलसीदास

(ग) अभिव्यक्तिप्रक्रिया > शब्द (सौशब्द्य + सम्यकत्व) > काव्य : केशवदास

(घ) शब्द (कवि अच्छर) > नैसर्गिक सौंदर्यसंप्रेषण : नंददास

(ङ) चित्तवृत्ति (प्रतिभा) > जीवंत शब्दार्थ : कुलपति

(च) चित्तवृत्ति > तात्पर्यार्थबिन्दु पर एकात्मरूप त्रिविध शब्दव्यापार से क्रियमाण जीवंत शब्द > काव्यरीति (सहज एवं ऋतु अभिव्यक्ति) : देव

(छ) प्राणवान् (व्यंग्ययुक्त) अक्षर > काव्य : सोमनाथ
(ज) चित्तवृत्ति > रसोत्कर्षक गुण > गुणयुक्त चमत्कार > काव्य : भिखारीदास
(झ) शब्द (सृजन-पोषण) > शब्दमूर्ति : प्रतापसाहि
(ञ) शब्दबंध (सौशब्द्य, दीप्ति, सौष्ठव, प्राणवत्ता, सोभा आदि) > काव्य : गोकुल
(ट) शब्द और अर्थ > चमत्कार, उक्ति : बिहारीलाल भट्ट।

5·15·2. उपर्युक्त समीकरणों में परंपरागत शब्दचिंतन से किंचित् विचलन (deviation) की दृष्टि से तुलसीदास, केशवदास, नंददास, देव तथा प्रतापसाहि की धारणाएँ द्रष्टव्य हैं। वागर्थ-परमाद्वैत सम्बन्धी तुलसीदास की धारणा यद्यपि कालिदास में भी पूर्वाशित है, फिर भी संदर्भ की दृष्टि से मध्यकालीन काव्यभाषा के दिशासंकेत का प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। केशव ने कविप्रतिभा की काव्यगत समस्त संभावनाओं को शब्दचयनप्रक्रिया से जोड़ा है। नन्ददास काव्यगत शब्दविधान को नैसर्गिक सौन्दर्यसंप्रेषण का वाहक मानते हैं। प्रतापसाहि ने काव्य को शब्दमूर्ति कहा है, जिसमें शब्द की सर्जनात्मकता के साथ ही काव्यार्थ-पोषकरूप का भी विचार है— संभवतः पहली बार।

स्वयंभू ने वाक्य में शब्द की समस्त काव्यात्मक भूमिकाओं तथा सन्दर्भों को स्पष्ट किया है। देव व्यंजना को सिर्फ इसलिए अस्वीकार करना चाहते हैं कि उसमें ऋजु अभिव्यंजना संभव नहीं। विदग्ध एवं रसिकजन के लिए जैसे गणिका की हाव-भावविच्छित्ति स्वकीया के गार्हस्थिक एवं गरिमामय सौंदर्य की अपेक्षा अधिक आकर्षक लगती है, वैसे ही रसिक-सहृदय यदि व्यंजना में अधिक रमे तो शायद देव को भी कोई एतराज नहीं होगा; किन्तु देव को स्वकीया के सहज गार्हस्थिक एवं गरिमामय सौंदर्य की तरह अभिधा की ऋजु अभिव्यंजना ही पसंद है। रीतिकालीन वातावरण में देव की यह घोषणा निश्चय ही असाधारण है।

इसीप्रकार शब्द, शब्दार्थ, शब्दशक्ति तथा गुण को चित्तवृत्तिधर्म मानने सम्बन्धी कुलपति, देव और भिखारीदास की धारणाएँ कई दृष्टियों से परंपरा से हटकर हैं, अतः महत्त्वपूर्ण भी।

समाहार

6.1.1. यों प्रत्येक अध्याय के अंत में, शब्द की काव्यगत भूमिका सम्बन्धी प्राप्त समीकरण तथा अन्य सम्बद्ध मुद्दों पर सारसंक्षेप प्रस्तुत किया जा चुका है, फिर भी कतिपय सामान्य प्रश्नों का स्पष्टीकरण शेष रह जाता है। उन प्रश्नों के सामान्यीकृत रूप इसप्रकार हैं—

क. शब्द की संवेदनधर्मिता की सिद्धि,

ख. काव्यगत शब्दविवर्त और शब्दशक्तियों का अंतस्संबंध और

ग. अध्ययन की पारिभाषिक उपलब्धियाँ।

इन प्रश्नों के विभिन्न पहलुओं पर यथास्थान-यथावसर विवेचन किया गया है। आगे एतद्विषयक कुछ अन्य विचारबिंदु प्रस्तुत हैं।

(क) शब्द की संवेदनधर्मिता

6.2.1. पूर्वविवेचनों में हमने देखा है कि शब्द की काव्यगत भूमिका संबंधी चिंतन का विकास 'उक्ति' से रमणीयता और शब्दमूर्ति तक होता है। वैदिक 'वाक्' और 'प्रणव', षड्दर्शनों का 'शब्दब्रह्मवाद', व्याकरणदर्शन का 'शब्दाद्वैतवाद' तथा काव्यशास्त्र का सम्यक् शब्दार्थव्यापार, विभिन्न कोणों से शब्द की संवेदनधर्मिता की ही व्याख्याएँ हैं। भामह की 'अतिशयता', दण्डी की 'अलंकारधर्मिता', वामन की 'सौंदर्यदृष्टि', भट्टनायक का 'त्रयंशभूत शब्दव्यापार', कुंतक की 'वक्रता' और 'सालंकारकाव्यता', आनन्दवर्धन की 'रससमर्पणक्षमता,' अभिनवगुप्त की 'विभावादि-समर्पणक्षमता', पंडितराज की 'प्रतिपादकता,' तुलसीदास का 'वागर्थपरमाद्वैत' आदि इस मुद्दे की पारिभाषिक उपलब्धियाँ हैं।

भारतीय काव्यचिंतन में शब्द की संवेदनधर्मिता के स्वरूप और प्रक्रिया पर गंभीर सैद्धांतिक चर्चाएँ हुई हैं। इन सैद्धांतिक चर्चाओं का आधार मुख्यतः भारतीय दर्शन और व्याकरणदर्शन रहा है। डॉ० विद्यानिवास मिश्र मानते हैं कि 'भारतीय चिंतन मूलतः वाक्केन्द्रित चिंतन है।' इस नाते दर्शन और व्याकरण

ही नहीं, समस्त ज्ञानक्षेत्र भारतीय मनीषा की दृष्टि में वाग्विवर्त है।[1] शब्द और ज्ञान के इस अंतस्संबंध को व्याकरणदर्शन 'स्फोट' के माध्यम से उपस्थित करता है। स्फोट, विनियोग तथा अर्थबोध की प्रक्रिया की गंभीर चर्चा भर्तृहरि ने की है।[2]

षड्दर्शनों में अनुमान, शाब्दबोध तथा नित्य अक्षरवाद की व्याख्याएँ आई हैं, काव्यशास्त्रीय शब्दचिंतन इन मुद्दों को वहीं से लेकर काव्यसंदर्भ में उनका विनियोग करता है। पूर्वविवेचनों में इस विषय पर यथास्थान चर्चाएँ आ गयी हैं। शब्द की संवेदनधर्मिता की सिद्धि के व्यावहारिक समाधान की दृष्टि से यहाँ हम कतिपय अन्य औपनिषदिक मान्यताओं को प्रस्तुत करना चाहेंगे।

6.2.2. सबसे पहले 'ऊँ' की अर्थसंपदा को लीजिए। इस संबन्ध में माण्डूक्य, बृहदारण्यक और छांदोग्य की मान्यताएँ हम देख चुके हैं, (देखें, अनुखण्ड—2.2.2.) माण्डूक्योपनिषद् में ही एक और व्याख्या आई है[1], जिसका समीकरणसूत्र इस प्रकार है :

---

1. 'भारतीय चिंतन मूलत: वाक्केन्द्रित चिंतन है। ··· यदि भारत की विवर्तमान ज्ञानराशि के भीतर पैठना है तो यह केवल व्याकरण के द्वार से ही संभव है। यही कारण है कि भारतीय चिंतन की भाषा व्याकरणमूलक है, पश्चिमी चिंतन की तरह गणितमूलक नहीं। गणित स्वयं यहाँ व्याकरणमूलक है। पाणिनीय व्याकरण के 'लोप' से ही गणित का शून्य उद्भूत हुआ है, और व्याकरणात्मक राशिकरणों से तथा रूपवृत्तों से अंकगणित और ज्यामिति ने आकार ग्रहण किया है। यहाँ तक कि भारतीय काव्य को भी यथावत् समग्ररूप में तभी ग्रहण किया जा सकता है, जब उसकी बीजभूत भावना के इन नानाविध प्रत्ययों के साथ नानाविध आकार ग्रहण किये जाने पर भी उसमें एक अखंड एकवाक्यता ग्रहण की जाये। भारतीय काव्यशास्त्र ने इसीलिए काव्यार्थ की खोज में 'बुधा' (वैयाकरणों) की स्फोटवादी सरणि अपनाई है।'' भाषादर्शन की पीठिका शीर्षक निबंध, भारतीय भाषाशास्त्रीय चिंतन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1976, है। 1-2.

2. देखें, अनुखंड 2.4. 3., पृ० 25-33.

3. माण्डूक्योपनिषद्, आगम प्रकरण, 9-11.

ऊँ=	अ	उ	म
	जाग्रत	स्वप्न	सुषुप्ति
	वैश्वानर	तैजस	प्राज्ञ
	व्याप्ति	उत्कर्ष	लोप अथवा सीमा

प्रणव के इस त्र्यंशभूतव्यापार को प्रकारांतर से, आधुनिक शब्दावली में, अंतरिक्ष (स्पेस), ऊर्जा (इनर्जी) और पदार्थ (मैटर) का पर्याय माना जा सकता है, जिनकी प्रकृति एवं अधिष्ठान क्रमशः सर्जना, पोषण और समापन हैं। देवभावना की दृष्टि से ये ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं, तो शब्दशक्ति के संदर्भ में अभिधा, लक्षणा और व्यजना। 'प्रणव' के उच्चारण में जैसे अंतिम अक्षर 'म' में 'अ' और 'उ' की ध्वनियाँ विलीन होती हैं, वैसे ही अभिधा-लक्षणा का पर्यवसान 'व्यंजना' में होता है। ध्यान देने की बात है कि यह पर्यवसान पूर्ण अथवा निर्विकल्प नहीं है, बल्कि व्यंजना में पर्यवसान के बाद पुनः वह क्रम चलता है। यही शब्दविवर्त है, भर्तृहरि की 'अभिधेयसत्ता' की सिद्धि। अतः इस दृष्टि से जो भी सृष्ट है, व्याप्त है, मूर्तामूर्त है, सभी वाक् द्वारा संवेदनीय है। तांत्रिक मातृकाधारणा का सैद्धांतिक प्रतिफलन भी यही है।

6.2.3: शब्द के 'रूपरसगंधस्पर्शी आस्वाद्य' होने के प्रश्न पर प्रश्नोपनिषद् (6/4) तथा तैत्तिरीयोपनिषद् (2/1) में चर्चित सृष्टिक्रम के शांकरभाष्य में व्याख्या आई है। 'सृष्टिक्रम' यह विषय प्रश्नोपनिषद् में संक्षिप्त है, तैत्तिरीय में विस्तृत। कहा गया है कि ब्रह्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुए। यह पुरुष अन्न एवं रसमय है।[1] प्रश्नोपनिषद् के इस प्रसंग के भाष्य में शंकराचार्य ने 'पूर्वगुणानुप्रवेश' का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। उन्होंने उन पंचमहाभूतों के निजी गुण, यथा—आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस और पृथ्वी का गंध, के उत्तरोत्तर पूर्वगुणानुप्रवेश का तारतम्य निर्धारित किया है, जिसका सूत्रलेख इस प्रकार है[2]—

आकाश = शब्द
वायु = शब्द + स्पर्श

---

2. प्रश्नोपनिषद्, 6/4 और तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/1.

3. प्रश्नोपनिषद्, गीता प्रेस, पृ० 118, तैत्तिरीयोपनिषद् गीता, प्रेस, पृ०119-120.

अग्नि = शब्द + स्पर्श + रूप
जल = शब्द + स्पर्श + रूप + रस
पृथ्वी = शब्द + स्पर्श + रूप + रस + गंध।

पूर्वगुणानुप्रवेश के इस तारतम्य को तंत्रोक्त मातृकाधारणा[1] (अध्याय–1 पृ० 1-13) से मिलाकर देखिये, 'शब्द' की सर्वसंवेदनधर्मिता का मूलहेतु स्पष्ट हो जाएगा। इस प्रकार 'शब्द' आकाश का निजीगुण होने के साथ ही सुक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में अन्य महाभूतों का बीजगुण भी है।

इन पंचमहाभूतों से उत्पन्न औषधियाँ (वनस्पतिजगत्), पुरुष (जीवजगत्) की जननी है। जीवजगत् में 'प्राण' का नहीं, इच्छा और ज्ञान का तारतम्य होता है। पुरुष (मनुष्यरूप) चरम चेतनासंपन्न जीव है, जिसमें पूर्वगुणानुप्रवश सिद्धांत के अनुसार 'शब्द' का सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पंदन मौजूद होता है। हम छांदोग्य के साक्ष्य पर जानते हैं कि 'वाक्' पुरुष का रस है (अध्याय-2, पृ० 18)। तात्पर्य यह है कि चूँकि 'शब्द' पूर्वगुणानुप्रवेश सिद्धांत के अनुसार, सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में ही सही, समस्त जड़-चेतन में विद्यमान है इसलिए 'शब्द' के माध्यम से विश्व के समस्त सूक्ष्म-विराट् का ग्रहण, अभिज्ञान तथा संवेदन संभव है। 'शब्द' के माध्यम से विश्व के समस्त सूक्ष्म-विराट् के 'ग्रहण' का क्षेत्राश्रय मानवमात्र है, अभिज्ञान का क्षेत्राश्रय 'ज्ञान' और संवेदन का क्षेत्राश्रय 'काव्य'।

(ख) काव्यगत शब्दविवर्त और शब्दशक्तियों का अंतस्संबंध

6.3.1. पूर्वाध्यायों में इस प्रश्न पर विविधरूपों में चर्चा आई है। हमने यह भी देखा है कि अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्या में तारतम्य को लेकर आचार्यों में बड़ा विवाद है। यों, शब्दशक्ति-विवेचन को हमने काव्यगत शब्दचिंतन का विषय नहीं माना है। हम इस बात से भी अभिज्ञ हैं कि यह धारणा विवादास्पद हो सकती है। बहरहाल, मौजूदा प्रश्न के संदर्भ में एतद्विषयक कुछ अपेक्षित मुद्दे प्रस्तुत हैं।

---

1. इधर, यह धारणा व्यक्त की जा रही है कि तंत्रों के सौंदर्य—आनंद और उन्मदभाव, सम्भवतः वेद-उपनिषद् के आत्मवादी आनन्दवाद के ही परिणत रूप हैं। देखें, डॉ० कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह द्वारा संपादित गोविंद हुलास नाटक की भूमिका, नव भारत प्रकाशन (1971), दिल्ली, पृ० 6। इस दृष्टि से बहुत संभव है कि तांत्रिक मातृकाधारणा वैदिक-औपनिषदिक 'वाक्' अथवा प्रणव अवधारणा की ही परिणत रूप हो।

6·3·2. शब्दशक्ति अथवा वृत्ति[1] पर विशेष चिन्तन करने वालों के तीन वर्ग हैं—वैयाकरण, दार्शनिक और काव्यशास्त्री। इनमें काव्यशास्त्रियों की समस्या वैयाकरणों तथा दार्शनिकों से भिन्न थी। उन्हें काव्यार्थ के रूप में ऐसे अर्थ की भी सिद्धि करनी थी, जो प्रायः शास्त्रसम्मत अर्थ का विरोधी भी होता था। इसके बावजूद व्याकरण और दर्शन में हुए शब्दचिंतन को नकारा नहीं जा सकता था, साथ ही उनके निष्कर्षों को यथावत् स्वीकार करना भी संभव न था। डॉ० गणेश त्र्यंबक देशपांडे ने काव्यशास्त्रियों की इस समस्या पर विचार करते हुए ठीक ही कहा है कि "शब्दार्थों की विवेचना करने में व्याकरण, न्याय और मीमांसाशास्त्र सम्मुख आते हैं। अपने मन्दिर को सजाने में काव्यशास्त्र ने इन तीनों में से आवश्यक वस्तुएँ अपनायी हैं। किन्तु उनमें भी व्याकरणशास्त्र से काव्यशास्त्र का जितना संबंध रहा है, उतना न्याय और मीमांसा से नहीं रहा।......इतना होने पर भी काव्यशास्त्र सर्वथा व्याकरण के अधीन नहीं रहा।.........काव्यशास्त्र ने अभिधा के लिए व्याकरण का आश्रय लिया, किन्तु व्याकरण को लक्षणा स्वीकार न होने से लक्षणाविचार में उसने मीमांसा से सहायता ली। मीमांसा और न्याय को व्यंजना स्वीकार नहीं, प्रत्युत काव्यशास्त्र व्यंजनावृत्ति मानता है। अतः व्यंजना की सिद्धि के लिए उसने अपने स्वतंत्र मार्ग का अवलंबन किया। व्याकरण की आरम्भकालीन स्थिति में व्यंजना का दर्शन नहीं होता, किन्तु काव्यशास्त्र की सिद्धि करने पर व्याकरण को भी उसे मानना पड़ा। नागेशभट्ट की 'परमलघु-मंजूषा' से यह स्पष्ट हो जाता है। 'शक्तिर्द्विविधा-प्रसिद्धा, अप्रसिद्धा च। आमन्द-बुद्धिवेद्यात्वं प्रसिद्धात्वं, सहृदयमात्रवेद्यात्वम् अप्रसिद्धात्वम्।' स्पष्ट है कि इस वचन में कही गयी अप्रसिद्धाशक्ति व्यंजना ही है।[2]

1. दर्शनग्रंथों में शब्दव्यापार के लिए मूलतः 'शब्दवृत्ति' का ही अभिधान है, शब्दशक्ति नहीं। वृत्तियाँ तीन मानी गयी हैं–शक्ति, भक्ति एवं व्यक्ति, जो क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना की स्थापनापन्न हैं। इस दृष्टि से 'शक्ति' का व्यवहार सिर्फ अभिधा के लिए है। डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी के अनुसार महिमभट्ट ने इन सबके लिए 'शक्ति' पद का प्रयोग साहित्यशास्त्र में सबसे पहले किया, जिसका अनुकरण बाद में विश्वनाथ ने किया, और फिर शब्द-वृत्तियों के लिए 'शब्दशक्ति' टकसाली बन गया। देखें—महिमभट्ट, नेशनल पब्लिशिंग, 1968, पृ० 103.

2. भारतीय साहित्यशास्त्र, पॉप्युलर बुक डीपो, बम्बई 1960, पृ 150-153.

व्याकरण और दर्शन के शब्दचिन्तन को काव्यशास्त्रियों ने काव्यार्थसंदर्भ में आवश्यक संशोधनों के साथ स्वीकार किया, यह स्पष्ट है; इसके बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि व्याकरण और दर्शन की एतत्संबंधी मान्यताएँ अपने ठेठरूप में काव्यशास्त्र में नहीं आयीं। काव्यशास्त्रीय शब्दचिंतन के स्पष्टतः दो छोर हैं—अभिधावाद और व्यंजनावाद। अभिधावाद के प्रवर्तक हैं मकुलभट्ट, जिनका प्रभाव न सिर्फ महिमभट्ट, अप्पयदीक्षित आदि जैसे परवर्ती मीमांसक-काव्यशास्त्रियों पर देखा जा सकता है, बल्कि मम्मट जैसे व्यंजनावादी पर भी स्पष्ट है। ठेठ अर्थ में व्यंजनावाद की उद्घोषणा विश्वनाथदेव ने की।[1] विश्वनाथ देव स्पष्ट कहते हैं कि शब्द की एक मात्र वृत्ति है व्यंजना। यही व्यजना जब शास्त्र में साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराती है तब उसे अभिधा कहा जाता है और मुख्यार्थबाध के बाद जब अतिरिक्त अर्थ का बोध कराती है तब लक्षणा। प्रयोजनमूलक अर्थप्रतीति कराने पर इसे ही व्यंजनावृत्ति कहा जाता है। इनके अनुसार अभिधा का संकेतग्रहमूलक अनुशासन तथा लक्षणा की बाधितार्थबोधकता व्यंजनाश्रित है।[2] यह 'व्यंजनावाद' परवर्तीकालीन ध्वनिवाद की देन है, इसे अभिधावाद की प्रतिक्रिया भी कहा जा सकता है।

दूसरी तरफ मीमांसा-न्याय में स्वीकृत लक्षणा प्रारम्भिक व्याकरण में मान्य नहीं है। काव्यशास्त्र में लक्षणा की सर्वप्रथम चर्चा उद्भट ने की। मुकुलभट्ट इसका अभिधा में अंतर्भाव कर लेते हैं। बाद में ध्वनिसरणि में लक्षणा की पूर्ण प्रतिष्ठा होती है, जिसपर मीमांसा-न्यायमत का पूर्ण प्रभाव देखा जा सकता है। व्याकरण में लक्षणा को विधिवत् पहले-पहल नागेशभट्ट ने प्रतिष्ठित किया।[1]

---

1. देखें, अध्याय–4, पृ० 291-298.

2 नव्यास्तु तद्धीजनकत्वमेव व्यञ्जना। सैव सर्वत्र वृत्तिर्नाभिधा न लक्षणा। शक्तिशरीरघटकत्वेन नैयायिकेरपि तस्याः स्वीकारात्। न च कथं तर्हि शास्त्रे अभिध दिव्यवहार इति वाच्यं यदा सैव व्यञ्जना अनुशासनेनानुशिष्यते तदाऽभिधते व्यवह्रियते।
यदा च मुख्यार्थबाधावन्तरमन्यार्थप्रतिपत्तिस्तदा लक्षणेति व्यवहारः। यदा च बाधितार्थबोधिका तदा व्यञ्जनेत्याश्रयणात्।"
—साहित्यसुधासिंधु, पृ० 67-68.

1. डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, लक्षणा और उसका हिंदीकाव्य में प्रसार, सभा-प्रकाशन, 2013 वि०, पृ० 136.

व्याकरण में व्यंजनावृत्ति की विधिवत् स्वीकृति की तरह लक्षणावृत्ति की विधिवत् स्वाकृति को भी काव्यशास्त्रियों के अथक अध्यवसाय का प्रतिफलन कहा जाएगा।

6·3·3. अभिधावाद और व्यंजनावाद, काव्यगत शब्दचिंतन के संदर्भ में मूलत: काव्यास्वाद के प्रश्न से, 'काव्यता' के आश्रय की तलाश के रूप में जुड़े रहे हैं। देव का 'अभिधा उत्तम काव्य है' और इधर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उसका समर्थन तथा व्यंजनासिद्धि के लिए आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि के तर्कों की लम्बी परम्परा है। अत: काव्यगत शब्दविवर्त और शब्दशक्तियों के अन्तस्संबंध के संदर्भ में स्पष्टत: दो पक्ष उभरते हैं (क) काव्यास्वाद का स्वरूप क्या होगा और (ख) काव्यास्वाद में शब्द की भूमिका का यथार्थ रूप क्या है ?

6·3 4. काव्यास्वाद प्राय: रसास्वाद का पर्याय माना जाता है, यद्यपि स्थिति यह है नहीं, फिर भी यह तथ्य है कि काव्यास्वाद की प्रकृति पर सर्वाधिक चर्चा रसविमर्श के ही अन्तर्गत आई है। अत: हम अपनी समस्या के समाधान की तलाश भी इसी संदर्भ में करेंगे।

रसास्वाद को आनन्दसिद्धि माना जाता है और इसके लिए तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रसिद्ध सूत्र 'यद्वै तत्सुकृतं रसो वै स:। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। (2/7/1) को प्रमाण। उक्त सूत्र का 'तत्सुकृतं' पद ध्यातव्य है। 'सुकृत' का अर्थ यहाँ 'स्वयंसर्जना' है। इस 'स्वयंसर्जना' का संदर्भ यह है कि अव्याकृत (असत्) ब्रह्म से नामरूपात्मक व्यक्त (सत्) जगत् की उत्पत्ति हुई, इसप्रकार यह नामरूपात्मक व्यक्त सृष्टि अव्यक्त का ही रूपाकृत पक्ष है। 'स्वयंसर्जना' इसीलिए रसरूप है, आनंद है; इसलिए प्रत्येक सर्जना रसरूप अथवा आनन्दरूप होगी। काव्यचिंतन में यह धारणा इसी रूप में विकसित हुई। औपनिषदिक चिंतन में ज्ञान की व्यावहारिक सिद्धि पर भी उतना ही बल है, जितना तात्त्विक सिद्धि पर, लेकिन वही स्थिति काव्यचिन्तन में नहीं है। काव्यचिंतन में उपर्युक्त स्वयंसर्जना की रसमयता 'रसवाद अथवा आनंदवाद में परिणत होती है, शब्दशक्तियों के संदर्भ में यही 'व्यंजनावाद' है। ऐसा संभवत: कश्मीरी शैवदर्शन के प्रभाव से हुआ है। स्वभावत: यह ऐकांतिक दृष्टिकोण है और काव्यगत शब्दविवर्त की दृष्टि से अमान्य भी। काव्यशास्त्रीय रसवाद ने औपनिषदिक चिन्तन के मूल तात्त्विक चरम को तो ले लिया; किंतु उसकी व्यावहारिक सिद्धिप्रक्रिया की उपेक्षा कर दी। रसवादी एकांगिता उसी का परिणाम है।

आनंद की व्यावहारिक सिद्धि की औपनिषदिक प्रक्रिया क्या है ? इसे पुनः तैत्तिरीय की पंचकोश-धारणा[1] के आधार पर देखा जा सकता है। इस पंच-कोश-धारणा में 'तत्सुकृतं' अर्थात् 'स्वयंसर्जना' तथा 'आस्वादन' की प्रक्रियाएँ देखी जा सकती हैं—आनन्द > विज्ञान > मन > प्राण > अन्न यह सुकृतप्रक्रिया है, तो ठीक इसका विलोमरूप 'आस्वादप्रक्रिया'। तैत्तिरीय सिर्फ आनंदमयकोश को नहीं, बल्कि सभी को ब्रह्मरूप मानता है। प्रत्येक कोश की अपनी भूमिका है। आनंदमय-कोश की भूमिका प्रजा की सृष्टि, पोषण और भक्षण है। प्राणमयकोश की भूमिका समस्त जैवक्रिया है। मनोमयकोश की भूमिका भाव और इच्छाएँ हैं। विज्ञानमय कोश की भूमिका निश्चयात्मक बुद्धि है, जिसे शंकराचार्य ने अध्यवसायलक्षणम् अन्तःकरणस्य धर्मं, अर्थात् अन्तःकरण का अध्यवसायरूप धर्म कहा है। समस्त यज्ञ अर्थात् कर्तव्यकर्म विज्ञानमयकोश का अधिकारक्षेत्र है। आनन्दमयकोश की भूमिका समस्त उपासना और कर्म का फलरूप है। तैत्तिरीय के अनुसार ये सभी पुरुषाकार हैं, अन्तर सिर्फ स्थूल-सूक्ष्म के तारतम्य का है। तप के तारतम्य से क्रमशः अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दमय कोशों के ब्रह्मरूप का साक्षात्कार होता है।

इस व्यावहारिक सिद्धिप्रक्रिया को काव्यास्वादप्रक्रिया पर घटित कीजिए। काव्यास्वादजन्य आनन्द भी अन्न (स्थूल ऐंद्रियसंवेदना), प्राण (ईषत्स्थूल, वक्रता, चमत्कृति, अलंकृति), मन (ईषत् सूक्ष्म, ओजादि गुणस्तर), विज्ञान (सूक्ष्म; भाव बिम्ब, प्रतीक), और आनन्द (सूक्ष्मतम; शून्य, साधारणीकरण) के स्तर पर कहीं भी स्थित हो सकता है। यह उत्तम-अधम का तारतम्य नहीं है, इसीलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि अभिधा (अन्न) या लक्षणा (प्राण, मन) या तात्पर्या (विज्ञान) या व्यंजना (आनंद) में ही काव्यता है। इसके साथ ही यदि 'पूर्वगुणा-नुप्रवेश' का सिद्धांत भी लागू किया जाय तो जैसे प्रत्येक कोश में अन्य कोशों के गुण अनुप्रविष्ट सिद्ध होंगे, वैसे ही शब्दव्यापार की प्रत्येक वृत्ति में अन्य वृत्तियों के गुण भी तत्त्वतः अनुप्रविष्ट नजर आएँगे। इस संदर्भ में देव-प्रतिपादित वृत्ति-मिश्रण की सार्थकता देखी जा सकती है।[3]

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानंदवल्ली, अनुवाक, 1-7.

2. उपरिवत्, पृ० 139.

3. देखें, अध्याय-5, पृ० 330-332.

6·3·5. काव्यास्वाद में शब्द की भूमिका का प्रश्न, हमारे जानते शब्दशक्ति की अपेक्षा 'शब्दविवर्त' के अधिक निकट है। यह पुनः अत्यंत विवादास्पद स्थापना है। अभिनवगुप्त ने शब्दव्यापार की जो चार कक्षाएँ—अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या और व्यंजना बतलाई हैं, उनका संबंध शब्दशक्ति से है। शब्दविवर्त का संबंध ऋग्वेदिक 'चत्वारिश्रृंगाः' (4/58-3) से है जिसके आधार पर व्याकरणदर्शन का पूरा तानाबाना तैयार हुआ है। दोनों धारणाओं में कोई बुनियादी अन्तर्विरोध नहीं है, लेकिन प्रतिपादनप्रक्रिया एवं पद्धति के कारण उनके कार्यफलन में अन्तर आ गया है।

काव्यचिंतन में शब्दशक्ति की प्रतिष्ठा एक प्रकार से व्यंजनासिद्धि के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हुई है। हम देख चुके हैं कि उद्भट के पूर्व शब्दशक्ति की कोई चर्चा काव्यचिंतन में नहीं है। इसलिए शब्दविवर्त और शब्दशक्ति के अंतस्संबंध की बात व्यंजनावादियों की इस बुनियादी धारणा के परीक्षण से शुरू करनी होगी कि वाच्य और व्यंग्य में संबंध की कोई अनिवार्यता नहीं होती। व्यंजनासिद्धि के लिए अनेक तर्कों में से एक जोरदार तर्क यह भी है कि किसी उक्ति के व्यंग्यार्थ आश्रयभेद से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, और उन व्यंग्यार्थों का वाच्य से कोई सीधा संबंध हो यह अनिवार्य नहीं। जैसे—'सूर्य अस्त हो गया' के आश्रयभेद से विभिन्न अर्थ हो सकते हैं :—आक्रमण करो, घर लौटो, पढ़ने बैठो, सिनेमा चलो इत्यादि। यहाँ 'सूर्य अस्त हो गया' के वाच्यार्थ से 'घर लौटो' आदि व्यंग्यार्थ का कोई सीधा संबंध नहीं है, ऐसा कहा जाता है। पर ध्यान देने पर बात असिद्ध हो जाती है। 'सूर्य अस्त हो गया' का आश्रयभेदजन्य अर्थ 'घर लौटो' पर प्रतिप्रश्न करें 'क्यों ?'। इसके भी अनेक उत्तर हो सकते हैं, जिनमें एक प्रकरणगत उत्तर यह भी होगा कि 'सूर्य अस्त हो गया।' पूर्वगुणानुप्रवेश सिद्धांत के आधार पर 'व्यंग्यार्थ' का वाच्यार्थ से निर्विकल्प अलगाव संभव ही नहीं है।

अर्थमीमांसा के संदर्भ में आचार्यों ने शब्दव्यापार को या तो क्षैतिज माना है—दीर्घतर अभिधा के रूप में या फिर उर्ध्वगामी—अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या और व्यंजना की चतुर्विध कक्षा के रूप में। शब्दविवर्त की दृष्टि से शब्दव्यापार न तो क्षैतिज होता है और न उर्ध्वगामी; बल्कि वह तो कुण्डलित (spiral) होता है, जिसमें क्षैतिजता तथा उर्ध्वगामिता अंतर्निहित रहती है। 'शब्द' का प्रभाव किसी दिशाविशेष में नहीं, बल्कि सार्वत्रिक होता है, उपनिषद् के शब्दों में 'वैश्वानर'; क्योंकि वह आकाश का गुण है। आकाश पृथग्भूत कक्षाओं में क्षैतिज या

या उर्ध्व नहीं होता, बल्कि विवर्तरूप अथवा कुंडलितरूप फैलाव का अस्तित्वबोध होता है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में पूर्वगुणानुप्रवेश 'स्वयंसर्जना' के रूप में सिद्ध है। इस दृष्टि से 'शब्द' और 'अर्थ' की स्वतंत्र सत्ता भी महज औपचारिक सिद्ध होती है, इसे हम भर्तृहरि के संदर्भ में देख चुके हैं, जबकि व्यंजनावादियों ने इसे बहुत दूर तक खींचा है। हम चतुर्विध शब्दव्यापार का प्रत्याख्यान प्रस्तावित नहीं कर रहे, बल्कि काव्यगत शब्दचिंतन के संदर्भ में उसे शब्दविवर्त के आश्रित मानने के आग्रही अवश्य हैं।

(ग) अध्ययन की पारिभाषिक उपलब्धियाँ

6.4.1. 'शब्द' ही काव्य का बीजतत्त्व है। 'बीज' ही लघु पौधा अथवा विराट् वृक्ष में तत्त्वांतरित होता है। यह तत्त्वांतरण चाहे जिस आकार-प्रकार का हो, प्रकृतया उसे 'संपूर्ण' होना है। काव्यगत शब्दविवर्त के अनुसार शब्द की अर्थाभिव्यक्ति प्रक्रिया है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा (रूप और क्रम) और वैखरी। शब्द की अर्थग्रहणप्रक्रिया ठीक इसके विपरीत होगी, हम क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म अर्थात् सीम से असीम अथवा परमाणु से विश्व (विराट्) की ओर बढ़ते हैं। अर्थग्रहण-बिंबग्रहण की सारी प्रक्रियाएँ उपर्युक्त विवर्त की अंतर्निहित सर्जनावृत्ति के परिस्पंद हैं। गुण, रीति, अलंकार, वक्रता, पाक, शैय्या, प्रतीक, बिम्ब आदि सभी उसी सर्जनावृत्ति-परिस्पंद के विकल्प हैं, काव्यसंदर्भ में जिनका कार्यफलन है, आस्वादकता, जो वस्तुतः शब्द की अंतर्निहित संभावनाओं (नामरूपात्मक जगत्, भावजगत्, कर्म और जीवन की शाब्दिक सर्जना) के क्रियमाण होने की प्रक्रिया की देन है। शब्दशक्ति एक ओर तो सर्जनाप्रक्रिया के दौरान शब्द की अंतर्निहित संभावनाओं का अभिव्यक्तिजन्य व्यापार है, दूसरी ओर वही बहुवर्णक्रमी भाषिक प्रयोगों के माध्यम से सामाजिक, सहृदय, पाठक, श्रोता आदिरूप प्रमाता के चित्तवृत्तिव्यापार की संप्रेरक भी। यही शब्द का अणुसिद्धांत है।

6.4.2. काव्य का बाह्याभ्यंतर वर्गीकरण वस्तुतः भ्रामक है। 'भाव' ही सबकुछ है, रूप गौण यह मान लेने के कारण ही अनेक काव्यशास्त्रीय वितंडावाद एवं विडंबनाएँ जन्म लेती हैं। 'अलंकार्य' और 'अलंकार' के आत्यंतिक अलगाव प्रतिपादन के कारण रसवाद, रीतिवाद तथा संस्थानक काव्य पनपते हैं। संधाभाष, उलटबासियाँ, दृष्टिकूटपद्धति, अन्योक्तिविधान, व्यंजनावाद तथा संक्षेप में कहें कि 'दूर की कौड़ी' के प्रयत्न इसी वर्गीकरण की देन हैं। हम जानते हैं कि 'भाव' को ऐकांतिक महत्त्व देकर 'सामाजिक नाट्यरस' को सहृदयसाक्षिक अतीन्द्रिय मूल्यापित

रसवाद में परिवर्तित किया गया है। इसी प्रकार 'शरीर' और 'प्राण' का जैवकीय प्रतिपादन (बायोलॉजिकल इस्टेमेशन) भी काव्यसंदर्भ में सही नहीं है; क्योंकि 'भाव' जबतक 'शब्द' नहीं बन जाता, तबतक वह काव्य क्या, उपयोगी वक्तव्य भी नही बन पाता। विश्वनाथदेव की यह धारणा बिल्कुल सही है कि कवि सर्जना तो 'पदगुम्फना' अथवा 'शब्दसृष्टि' ही है कामिनी अथवा चंद्र-चंद्रिका का निर्माण तो ब्रह्मा ने कर ही रखा है। (देखें, पृ० 292)। 'भाव' का 'शब्द' बन जाने का रहस्य तो भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि ने बतलाया ही है। काव्यसंदर्भ में 'शब्द' और 'अर्थ' के अर्थ भी कोषीय नहीं रह जाते, आनंदवर्धन और कुंतक की ये धारणाएँ उपेक्षणीय नहीं। शब्दार्थ में संवादी समतोल के लिए भोज का सम्यक् शब्दार्थसाहित्य और संसृष्टि का महत्त्व कम नहीं। इसी संदर्भ में भर्तृहरि का शब्ददर्शन का बुनियादी मूल्य है। वस्तुत: 'शब्द', इस दृष्टि से, रूप और नाम (शक्ति), रूप और अनुभव, रूप औरव्यंजना अथवा रूप और भाव की संसृष्टि का नाम है, जो चेतनासंपन्न होती है। चेतनाहीन जैवकीय रूप (रूपवाद) शव होता है, तो रूपहीन भाववाद भूत-प्रेतवाची। इसलिए भाव और शब्द का नितांत वर्गीकरण संभव नहीं, कुंतक ने भी इसे महज औपचारिक माना था। ध्यातव्य है कि केवल शब्द तो विशेष अवस्था में काव्य हो भी सकता है (विश्वनाथ देव, पंडितराज की मतसरणि), केवल भाव को तो वह सौभाग्य भी प्राप्त नहीं। भाव अथवा संवेदना अथवा चाहे कोई और नाम दे लें, काव्यप्रेरणा हैं, स्वयं काव्य नहीं। ये कवि को 'वचनीय' होने को प्रेरित करते हैं, लब्धवस्तु (काव्य) तो वचन (सर्जना) है—शब्दसृष्टि है। काव्यप्रेरणा रचनाप्रक्रिया का अंग, है, रचना नहीं। इसे एक भिन्न प्रकार से देखें। काव्य की अर्थमीमांसा अथवा अर्थग्रहण (अथवा बिंबग्रहण) में हम किसका विश्लेषण करते हैं ? भाव का या शब्द का ? अगर कहें कि भाव का विश्लेषण करते हैं, तब प्रश्न उठता है कि वह आपको गम्य (संवेद्य) कैसे हुआ ? भाव को गम्य बनाने वाला तत्त्व शब्द ही है। मूलतः हम शब्द का ही विश्लेषण करते हैं और विश्लेषणक्रम में मान व मूल्यों के विविध रूपांतरणों-संस्कृति, धर्म, दर्शन राष्ट्रीयता, मानवतावाद तथा अन्य ज्ञान-विज्ञानवाद आदि का आरोप करते हैं। जाहिर है कि ये आरोपित मूल्य हैं और आरोपित मूल्य को प्रतिमान नहीं माना जा सकता। अत: काव्य का प्रतिमान 'शब्द' ही हो सकता है। काव्य में 'शब्द' की यह महत्तर प्रतिष्ठा, मूल्यों के घटाटोप में वस्तुतः 'आदमी' की ही पुनर्प्रतिष्ठा है; क्योंकि 'शब्द' ही आदमी की पहली और बुनियादी पहचान है।

6.4.3. पूर्व अध्यायों के विवेचन में 'शब्द' की उपर्युक्त महत्तर प्रतिष्ठा की प्रक्रियात्मक अथवा शब्दव्यापारजन्य प्रकृति को प्रगट करने वाले अनेक पारिभाषिक

शब्द आये हैं। उनकी संक्षिप्त सूची उपयोगी होगी; क्योंकि हम उनका भाषिकी तथा विज्ञान से आक्रांत आधुनिक अर्थमीमांसा के दौरान भी इस्तेमाल कर सकते हैं—

शब्दविवर्त—भर्तृहरि
कथाया: स्वाभिनीतता—भामह
सदलंकृति—दण्डी
अर्थदृश्य—वामन
पुष्टार्थत्व—रुद्रट
रससमर्पणक्षम शब्द—आनंदवर्धन
काव्यपाठ—राजशेखर
प्रत्यक्षकल्पसंवेदन—भट्टतौत
परिस्पंदत्रय और त्र्यंशभृत शब्दव्यापार का योग—भट्टनायक
सालंकारकाव्यता—कुंतक
स्वानुभवगोचरता प्रतिभास—कुंतक
परस्परस्पर्धित्व—कुंतक
अभिधाव्यापार—अभिनवगुप्त
विभावादिसमर्पणक्षम शब्द—अभिनवगुप्त
रत्यादिप्रतिपादक शब्द—धनिक और धनंजय
अर्थांतरप्रक्रिया—महिमभट्ट
सम्यक् शब्दार्थसाहित्य—भोज
औचित्य—क्षेमेंद्र
गोप्यमानता—रुय्यक
सप्तांगचारुत्व—विश्वेश्वर
शब्दसर्जना—विश्वनाथदेव
रमणीयता—पंडितराज
वागर्थपरमाद्वैत—तुलसीदास
सम्यक् सौशब्द्य—केशवदास
तात्पर्यार्थबिंदु पर एकात्मरूप त्रिविध शब्दव्यापार—देव
शब्दमूर्ति—प्रतापसाहि
शब्दबंध—गोकुल

इनके अतिरिक्त 'व्यंजकत्व व्यापार', 'गुंफन', 'कविव्यापार' (विवक्षा + रचनाप्रक्रिया), संसृष्ट वाक्यावस्था, शब्द का अर्थस्वरूप तत्त्वांतरण, साहित्य-विच्छित्ति, ललितोचित सन्निवेश, सातिशय अभिधा आदि भी उपयोगी पारिभाषिक स्थापनाएँ हैं।

ग्रंथानुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका